सदानन्दयोगीन्द्रकृत

वेदान्तसारः

(विद्वन्मनोरंजनी तथा विद्योत्तमा व्याख्याओं सहित)

डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्रकाशक—

भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर

मूल्य ७·०० रुपये

सदानन्दयोगीन्द्रकृत

वेदान्तसारः

(रामतीर्थ विरचित विद्वन्मनोरञ्जनी तथा कृष्णकान्त विरचित विद्योत्तमा व्याख्याओं सहित)

— विद्योत्तमा विवृत्ति-लेखक —

डॉ॰ कृष्णकान्त त्रिपाठी
एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰, डी॰ लिट्
अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग
बी. एस. एस. डी. कालेज, कानपुर

सुभद्रा त्रिपाठी, एम॰ ए॰
संस्कृत-विभाग
बी. एस. एस. डी. कालेज
कानपुर

प्रकाशक :

भारतीय प्रकाशन, चौक, कानपुर

प्रकाशक :
भारतीय प्रकाशन
चौक, कानपुर

प्रथम संस्करण

मुद्रक :
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग
वाराणसी—१

दो शब्द

वेदान्तसार की प्रस्तुत कृति का अत्यधिक महत्त्व है। स्वामी रामतीर्थ कृत 'विद्वन्मनोरञ्जनी' विख्यात टीका इस महत्ता का कारण है। आशा है विद्वज्जन इस टीका का अध्ययन कर लाभान्वित होंगे।

वेदान्तसार की विद्योत्तमा व्याख्या कोई मौलिक सृजन नहीं है। छात्रों को उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करना ही लक्ष्य रहा है। वेदान्त जिज्ञासुओं को भी इससे कुछ प्राप्त होगा—ऐसी साधिकार धारणा हमें नहीं है। फिर भी जो प्रयास हो सकता है—हमने किया है।

संभवतः वेदान्तसार का 'विद्वन्मनोरञ्जनी' नामक विस्तृत संस्कृत टीका और विद्योत्तमा' नामक विस्तृत हिन्दी टीका के साथ यह प्रथम प्रकाशन है। वेदान्तसार का सर्वप्रथम प्रकाशन १८५० ई० में डा० वैलेन्टाइन ने इंगलिश अनुवाद के साथ किया था। तत्पश्चात् १८७० ई० में डा० बोटलिंक ने जर्मन अनुवाद के साथ इसे प्रकाशित किया। १८७५ ई० में पं० जीवानन्द ने नृसिंह सरस्वती की टीका सुबोधिनी के साथ इसे प्रकाशित किया। विद्वन्मनोरञ्जनी टीका (रामतीर्थकृत) १८२८ ई० और १८७३ ई० में क्रमशः कलकत्ता तथा बनारस से वेदान्तसार के साथ प्रकाशित हुई। किन्तु वेदान्तसार का सर्वाधिक प्रामाणिक संस्करण कर्नल जैकब ने विद्वन्मनोरञ्जनी के साथ १८९३ ई० में प्रकाशित किया। इसके साथ सुबोधिनी भी थी। जैकब ने १५ हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों को अपना आधार बनाया है। इस कार्य में उन्हें प्रो० बुहलर, प्रो० कावेल, प्रो० वेनिस और पं० काशीनाथ बी० पाठक से भी सहायता प्राप्त हुई। मैंने इसी संस्करण को अपने आधार के लिए ग्रहण किया है।

रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जनी व्याख्या ४२८ मूल उद्धरणों के साथ अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण एवं मौलिक है। विद्वत् समाज में इस व्याख्या का आदर, 'वेदों पर सायण भाष्य' के समान है। अतः इसकी प्रामाणिकता सर्वविदित है।

भारतीय प्रकाशन-कानपुर में अपने संस्कृत प्रकाशनों के लिए प्रसिद्ध है। मैं उसे इस कृति को प्रकाशित करने के लिए हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

—कृष्णकान्त त्रिपाठी

भूमिका

दर्शन-व्युत्पत्ति और व्याख्या

पाश्चात्य दार्शनिक अरस्तू का कथन है—"दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य से होता है।" वस्तुतः इस चित्र-विचित्र विश्व और विश्व के क्रियाकलाप को देकर मानवमस्तिष्क चकित रह जाता है तथा वह यह विचार करने के लिये बाध्य हो जाता है कि सुप्रतिष्ठित तथा सुव्यवस्थित इस जगत् का कर्त्ता कौन है ? यह विश्व कहाँ से आया है ? हम कहाँ से आये हैं ? यथार्थ सत्ता क्या है ? आदि। इसी प्रकार के अगणित विस्मयकारी प्रश्नों के समाधानार्थ मानव-मस्तिष्क अनवरत रूप से विचारशील रहता है। निरन्तर चिन्तन की इस कला का नाम ही दर्शन है। निःसन्देह दर्शन का जन्म कुछ सन्दिग्ध प्रश्नों के समाधानार्थ हुआ है ? पाश्चात्य विद्वान् दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल के शब्द द्रष्टव्य हैं—

"Philosophy is attempts to answer the ultimate questions critically after investigating all that makes such questions puzzling and after realizing the vagueness and confusion that underlie our ordinary ideas."

दर्शन शब्द के लिए आँग्लभाषा में फिलासफी शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्त्यनुसार जिसका अर्थ है—ज्ञानानुराग। परमात्मा की इस सृष्टि में मनुष्य ही सर्वाधिक बुद्धिसम्पन्नः चिन्तन तथा मनन की क्षमता से युक्त प्राणी है। अपने मन की स्वाभाविक कौतूहल संशयात्मक प्रवृत्ति की संतुष्टि हेतु ज्ञान को खोज निकालने की उसकी सदा से इच्छा रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बौद्धिक प्रतिभा के अनुरूप उस चरमसत्य ज्ञान के अन्वेषण में प्रयत्नशील रहता है। मनुष्यों के अथक प्रयत्नों और चिन्तनों का एकीकृत रूप ही दर्शन है। मानव सभ्यता, संस्कृति और बौद्धिक विकास के साथ ही दार्शनिक विचार-धारा भी दिन-प्रतिदिन विकासोन्मुख रही है। इरविन एडमन महोदय का विश्वास है—"जब तक मनुष्य सांस लेता रहेगा और आँखों में देखने की

शक्ति रहेगी। तब तक जीवन के ऐसे अन्तिम प्रतिमानों की खोज होती रहेगी, जिनको हृदय और मस्तिष्क दोनों की स्वीकृति प्राप्त हो सकेगी।"

देश, काल और परिस्थितियों के प्रभाववश मनुष्यों के विचारों, रीति-रिवाजों और जीवनयापन की पद्धतियों में भले ही अन्तर हो जाये, किन्तु दर्शन एक ऐसा बिन्दु है, जहाँ देश, काल और परिस्थितियों की सीमायें अर्थहीन हो जाती हैं। यही कारण है कि दर्शन सम्बन्धी पाश्चात्य और पौर्वात्य विचारों में अन्तर नहीं है। पौर्वात्य बौद्धिक जगत् में दर्शन जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसके द्वारा अदृष्ट विषयों का दर्शन होता है। संस्कृत व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार भी दर्शन "देखने का साधन" है, क्योंकि इसका निर्माण दृश् धातु के करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाने से हुआ है। दर्शन की क्रिया तथा उसके फल दोनों के ही लिए दर्शन' शब्द प्रयुक्त होता है। दर्शन का साधन तथा साध्य दोनों ही अलौकिक हैं। इन्हें चर्म चक्षुओं की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि की अधिक आवश्यकता है, किन्तु जिज्ञासा के अभाव में अन्तर्दृष्टि मात्र पंगु है। जिज्ञासा की प्रेरक शक्ति तथा अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही बालक नचिकेता और ऋषिकुमार श्वेतकेतु उस गूढ़तर ज्ञान को उपलब्ध कर सके जो उन्हें जीवन तथा मृत्यु की शृङ्खला के पार ले जा सका।

यद्यपि विद्वानों ने इस गूढ़ शब्द की व्याख्या करने का अथक् प्रयास किया है, किन्तु असीमित विस्तार वाले इस शब्द को एक निश्चित परिभाषा के अन्तर्गत सीमित करना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो का तो विश्वास है—"इन विषयों में मेरा कोई ग्रन्थ न तो है और न कभी होगा। अन्य विद्वानों की भाँति यह विषय व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता।

दर्शन-ज्ञान की वह अबाध सरिता है जिसका प्रवाह सनातन है। ज्ञान की इस विशाल सरिता का उद्गम अनेक सहस्राब्दि पूर्व वेदों के काल में ही हो चुका था। वैदिक ज्ञान के अक्षय भंडार ऋग्वेद में कुछ ऐसे विचार प्राप्त होते हैं जो मनुष्य की नैसर्गिक जिज्ञासा और संशय वृत्ति के परिचायक हैं। नासदीय सूक्त में सृष्टि की पूर्वावस्था का वर्णन इस प्रकार है—"उस समय असत् नहीं था। जो सत् है वह कभी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी और

आकाश तथा आकाश में विद्यमान सातों भवन भी नहीं थे। आवरण (ब्रह्माण्ड) भी कहाँ था? किसका कहाँ स्थान था? क्या उस समय दुर्गम और गम्भीर जल था? उस समय मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायुशून्य आत्मावलम्बन से श्वास-प्रश्वास युक्त केवल एक ब्रह्म था··· ।"

पुरुष सूक्त में दृश्य-अदृश्य, वर्तमान, भूत तथा भावी सभी कुछ पुरुष (ईश्वर) से ही व्याप्त बताया गया है।

ऋग्वेद में जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि से सम्बन्धित इन वर्णनों को यदि भावी दार्शनिक पृष्ठभूमि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, किन्तु ये विचार काव्यमय माध्यम से व्यक्त हुये धार्मिक भाव हैं।

इसके उपरान्त जिसे हम ठीक से दार्शनिक सत्यान्वेषण कह सकते हैं, वह है—उपनिषद्, जहाँ पर ऋषियों का मौलिक एवं स्वतन्त्र चिन्तन लब्ध होता है और जो भारतीय दर्शनशास्त्रों की योनि कहे जा सकते हैं। उपनिषद् संख्या में १०८ कहे जाते हैं, किन्तु ग्यारह प्रमुख हैं जिनका आधार हमारे आस्तिक दर्शनों ने स्थान-स्थान पर ग्रहण किया है और इनसे प्रमाण उद्धृत किये हैं।

वस्तुतः आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जगत्, मोक्ष आदि ऐसे विषय हैं जो स्वल्प परिवर्तन तथा अन्तर के साथ प्रत्येक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय रहे हैं! श्वेताश्वतर, कठ, छान्दोग्य बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, माण्डूक्य, प्रश्न आदि उपनिषदों में अधिकांशतः ऐसे विचार हैं—चिन्तन हैं—जिनका अधिष्ठान लेकर षड्दर्शनों का भवन निर्मित हुआ है। निःसन्देह उपनिषदों से ही चिन्तनों को संगृहीत कर एवं उन्हें व्यवस्थित कर षड्दर्शनों का निर्माण हमारे महर्षियों ने किया। उपनिषदों में बिखरे चिन्तन सूक्त संग्रथित कर उन्होंने अपने सूत्रों की रचना की और भारतीय दर्शन गगन में न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा तथा वेदान्त नामक नक्षत्र उदित हुए। जो उपनिषद् रूपी आकाश का आधार लिये हुये होने पर भी अपनी स्वतन्त्र गति एवं रीति से विकसित हुये। इसीलिये ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

षड्दर्शन-स्वरूप

न्याय—यद्यपि कालक्रम में न्याय सर्वप्रथम नहीं है तथापि दर्शन-साहित्य का प्रवेशद्वार है। इस बुद्धि को परिष्कृत, तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र

माना जाता है। इसके लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। आन्वीक्षिकी को समस्त विद्याओं का प्रदीप माना गया है।

न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम कहे जाते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी पदार्थ की परीक्षा का नाम ही न्याय है। न्यायदर्शन षोडश पदार्थों को स्वीकार करता है। यह प्रमाण प्रधानशास्त्र है। अपने स्पष्ट-सूक्ष्म और गम्भीर प्रमाण—विवेचन के परिणाम स्वरूप षड्दर्शन में न्याय को सभी दर्शनों के सहायक रूप में विशिष्ट स्थान प्राप्त हैं। प्रमेय विषय के अन्तर्गत आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग हैं। यहाँ आत्मा को गुणों का आश्रय माना गया है। ईश्वर की सिद्धि आगम प्रमाण द्वारा की गई है तथा सृष्टि का कर्त्ता, पालक, संहारक तथा प्रवर्तक आदि माना गया है। जगत् की सत्ता वास्तविक है। परमाणु जगत् के समवायिकारण हैं और ईश्वर निमित्त कारण है। न्याय का भी अन्तिम लक्ष्य मुक्ति अथवा अपवर्ग है। अपवर्ग दुःखों से अत्यन्त विमोक्ष हैं।

वैशेषिक—वैशेषिक-दर्शन के प्रणेता के रूप में महर्षि कणाद को स्मरण किया जाता है। सर्वदर्शन संग्रह में इसको औलूक्यदर्शन नाम से विवेचित किया गया है। इसके वैशेषिक नामकरण का आधार विशेष पदार्थ है। न्यायदर्शन के साथ इसका पर्याप्त साम्य है। इसने सात पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव आचार्य ने अभाव को सप्तम पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन—ये नौ द्रव्य हैं। पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश भौतिक द्रव्य हैं। आत्मा के अस्तित्व तथा स्वरूप, सृष्टि तथा मोक्ष के सम्बन्ध में वैशेषिक-मत न्याय से अभिन्न है।

योग—योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि प्रणीत माना गया है। श्रीयुत् बलदेव उपाध्याय महोदय के अनुसार योगदर्शन की "हिन्दू जाति को सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक निधि" माना गया है। योगदर्शन की विशिष्ट ख्याति का कारण इसका व्यावहारिका पक्ष है। उत्कृष्ट प्रमाण मीमांसा के कारण—जैसे न्यायदर्शन का विशेष महत्त्व है उसी प्रकार कैवल्य के व्यावहारिक प्रतिपादन से सभी दर्शनों के लिये योग महत्त्वपूर्ण सहायक रूप से मान्य है।

अधिकांशतः योग की गणना सांख्यदर्शन के साथ की जाती है। श्रीमद्-भगवद्गीता में सांख्य और योग को भिन्न समझना मूढ़ता बताया गया है। योगदर्शन सांख्य का समान तन्त्र है, इसने सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार किया है, अतः इसे सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है। ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशय से अस्पृष्ट रहता है। सांख्य ने तत्त्वविवेक द्वारा कैवल्य कहकर जहाँ अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मानी—वहीं योग ने उस कैवल्य की उपलब्धि हेतु योगाभ्यासरूप मार्ग का प्रदर्शन किया।

योगसूत्र के प्रारम्भ में ही योग का लक्षण योगश्चित्तवृत्ति निरोध बताया गया है। चित्त की वृत्तियाँ पाँच हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अंगों के निरन्तर अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं तदुपरान्त चित्त के एकाग्र होने पर कैवल्य की अनुभूति होती है।

मीमांसा—न्याय वैशेषिक और सांख्य-योग के सदृश मीमांसा को वेदान्त-दर्शन के साथ सम्बद्ध किया जाता है। मीमांसा दर्शन के प्रतिपादक जैमिनि आचार्य माने जाते हैं। मीमांसा-दर्शन का शुभारम्भ धर्मजिज्ञासा से होता है।

मीमांसा की विशेषता वेद के स्वतन्त्र और स्वतः प्रामाण्य में है किन्तु इसमें वेदों के कर्मकाण्ड भाग की ही चर्चा की गई है। वेद अधिष्ठित होने पर भी इसे ईश्वर का अस्तित्व मान्य नहीं। यह सृष्टि को अनादि तथा नित्य मानते हैं। अतः सृष्टिकर्त्ता के रूप में इन्हें ईश्वर की अपेक्षा नहीं है किन्तु वैदिक क्रियाओं के निष्पादनार्थ विभिन्न वैदिक देवों को स्वीकार किया है। कर्म और कर्मफल के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये वहाँ अपूर्व की कल्पना हुई।

द्रव्य, गुण, कर्म आदि के विभाग तथा स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसक मत का वैशेषिक मत से पर्याप्त साम्य है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में मीमांसक अन्यान्य आस्तिक दर्शनों का ही समर्थन करते हैं।

सांख्य—सांख्यदर्शन एक अतिप्राचीन दर्शन है। इसका वर्णन पुराणों-स्मृतियों आदि में मिलता है। इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कुछ कहना तो सूर्य

को दीपक दीखाने के समान होगा । भगवान् कृष्ण ने स्वयं गीता में सांख्य दर्शन की प्रशंसा की है तथा इसके प्रवर्तक कपिलमुनि को सिद्धों में श्रेष्ठ बताकर उन्हें अपना ही रूप प्रतिपादित किया है। सॉंख्यदर्शन की प्रशंसा करते हुये डॉ० उमेश मिश्र का कथन है—

"सांख्य दर्शन वास्तव में मनोवैज्ञानिक दर्शन है । इसके तत्त्व स्थूल नहीं हैं । वे हमारे बौद्धिक जगत् के तत्त्व हैं। इस जगत् में केवल सूक्ष्म तत्त्व ही हैं । उनके सम्बन्ध में विचार भी सूक्ष्म हैं ।"

वेदान्त-दर्शन

परिचय— वेदान्त' शब्द का अर्थ है—वेद का अन्त। श्रीयुत् बलदेव उपाध्याय जी ने 'अन्त' शब्द का अर्थ रहस्य या सिद्धान्त मानकर वेदान्त का अर्थ वेद का मन्तव्य, वेद का प्रतिपाद सिद्धान्त बताया है। सदानन्द मुनि ने तो "वेदान्तो नामोपनिषत् प्रमाणम् ।" इस प्रकार वेदान्त की परिभाषा की है।

अन्य विद्वानों ने अधिकतर वेदान्त शब्द का अर्थ वेद की अन्तिम कड़ी उपनिषदों से लिया है । वेदों का सार ही उपनिषदों का विषय है । उपनिषदों में सर्वत्र आत्मा, ब्रह्म पर ही विचार किया है। उपनिषदों के ब्रह्म, आत्म-सम्बन्धी वर्णनों के आधार पर आगे चलकर जिस दार्शनिक परम्परा का विकास हुआ वही आगे चलकर वेदान्त नाम से अभिहित की जाने लगी । इस प्रकार वेदान्त शब्द किसी दर्शन सम्प्रदाय नाम का द्योतक नहीं है अपितु सत्य के लिये प्रयुक्त अन्तिम शब्द है ।

वर्ण्य विषय—यद्यपि प्रत्येक दर्शन ने अपना वर्ण्य-विषय उपनिषद् में ही खोजा है, अतः उपनिषद् तो प्रत्येक दर्शन का उद्गम स्थान है, किन्तु वेदान्त का सम्पूर्ण कलेवर ही उपनिषद् है डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने वेदान्त को उपनिषद् के सुपुत्र की उपमा दी है । पिता-पुत्र के पारस्परिक अन्तर के समान वेदान्त और उपनिषद् में स्वल्पविभेद है । उपनिषदों में जो सिद्धान्त यत्र-तत्र असम्बद्ध अवस्था में उपलब्ध हैं । तर्क की कसौटी पर जो कसे नहीं गये उन्हीं सिद्धान्तों को वेदान्त में सुसम्बद्ध क्रम में तथा तर्क की कसौटी पर कसा गया है:—

'वेदान्तवाक्यकुसुभगव्यनार्थत्वात सूत्राणाम् ।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुर्दोहृत्य विचार्यन्ते ॥"

(ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य)

डॉ० ए० बी० कीथ का कथन है—"उत्तर मीमांसा या वेदान्त उपनिषदों के समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों को अपने अन्दर सन्निविष्ट करने वाले एक ही दर्शन के निर्माण के उद्देश्य से उन सिद्धान्तों को समन्वित रूप में दिखाता है।"

वेदान्त-सूत्र—वेदान्त दर्शन का परिचायक सर्वप्रथम ग्रन्थ है—वेदान्त-सूत्र—इसका दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है। कारण कि इसका प्रधान विषय ब्रह्म का वर्णन है। वेदान्त-सूत्रों का अधिष्ठान उपनिषद् हैं। इसमें उपनिषदों में आये कथनों में एकरसता लाने का प्रयत्न किया गया है। वेदान्त-सूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ वेदान्त-दर्शन का स्वरूपनिर्धारक मात्र है। जिसका कलेवर पाँच सौ पचपन सूत्रों से निर्मित हुआ है। इन सूत्रों में कम से कम शब्द प्रयुक्त हुये हैं। फलतः स्वतन्त्र रूप से सूत्र पर्याप्त विशद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हैं। हैं। भाष्यकारों ने स्वेच्छा से इन सूत्रों का अर्थ किया है।

वेदान्त-सूत्रों का रचयिता बादरायण को बताया जाता है, किन्तु ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर बादरायण को अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित किया गया है। अतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन सूत्रों का रचयिता बादरायण नहीं है, अपितु विद्वानों के मतों के साथ बादरायण के मतों को किसी अन्य व्यक्ति ने ग्रन्थ में सगृहीत कर दिया होगा, किन्तु डॉ० राधाकृष्णन् पाश्चात्य विद्वानों का यह विचार असंगत मानते हैं क्योंकि प्राचीन भारतीय विद्वानों में स्वयं का उल्लेख अन्य पुरुष के रूप में करने की प्रथा प्रर्याप्त मात्रा में प्रचलित थी।

कतिपय विद्वान् वेदान्त-सूत्रों का रचयिता वेदव्यास को बताते हैं और वेदव्यास को बादरायण से भिन्न मानते हैं। किन्तु ऐसी धारणा भ्रान्तिजन्य है। हिन्दू परम्परा के अनुसार वेदव्यास तथा बादरायण अभिन्न व्यक्ति हैं और वही वेदान्त-सूत्रों के रचयिता हैं।

इन सूत्रों की रचना कब हुई, यह एक विवादास्पद विषय है। वेदान्त-सूत्रों में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा जैन-बौद्धादि दार्शनिक मतों का उल्लेख होने से इसे अर्वाचीन कृति समझा जाता है, किन्तु वास्तव में यह एक प्राचीन कृति है। इस ग्रन्थ में जो विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख आया है, वह अतिप्राचीन दार्शनिक विचार धारायें हैं। आगे चलकर विभिन्न आचार्यों

ने अपने प्रयत्नों से इन्हें विकसित कर दिया। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि वेदान्त-दर्शन अन्य समस्त दार्शनिक विचारधाराओं से उत्तरवर्ती है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षु-वट सूत्रयोः' कथन मिलता है। श्रीयुत बलदेव उपाध्याय जी अष्टाध्यायी में उल्लिखित भिक्षुसूत्र से तात्पर्य ब्रह्मसूत्र से लेते हैं। यदि यह भिक्षुसूत्र, ब्रह्मसूत्र के लिये ही प्रयुक्त शब्द है तब तो इन सूत्रों की रचना पाणिनी से पूर्व हो चुकी होगी। पाणिनि का काल मैक्डानेल द्वारा ३०० वर्ष ई० पूर्व निर्धारित किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ब्रह्मसूत्र शब्द का उल्लेख आया है। विद्वदमण्डली यह उल्लेख वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र का ही मानती है। अतः यह तो स्पष्ट है कि वेदान्तसूत्रों की रचना गीता से पूर्व हो चुकी थी। मैक्समूलर का मत है—"भगवद्गीता का जो कोई भी काल हो और यह महाभारत का एक भाग है। वेदान्तसूत्र और बादरायण का काल अवश्य इससे पूर्व का होना चाहिये। वर्तमान समय में गीता का रचनाकाल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग स्थिर किया जाता है। अतः यह तो सिद्ध है कि ईसा पूर्व २०० वर्ष से पर्याप्त पहले वेदान्तसूत्रों का निर्माण हो चुका था। फ्रेयर महोदय इनका काल ४०० वर्ष ईसा पूर्व निर्धारित करते हैं।

आचार्य परम्परा—प्राचीन वेदान्त का स्वरूप स्पष्ट करने वाला एकमात्र ग्रन्थ बादरायणकृत वेदान्तसूत्रों में आचार्य बादरायण ने विभिन्न अन्य समकालीन आचार्यों के मतों का संग्रह किया है। ये विभिन्न मत कहीं तो आचार्य बादरायण के अपने मतों के समर्थक हैं और कहीं उनसे विरोध दर्शाते हैं। एवंविध कुछ वेदान्ताचार्यों के नाम ज्ञात होते हैं तथा उनके मतों का भी संकेत मिलता है।

आत्रेय—ब्रह्मसूत्र में उपासना के सम्बन्ध में एक स्थान पर आत्रेय का उल्लेख हुआ है। इनका मत है कि अंगाश्रिय उपासना में कर्त्ता तथा फल दोनों का अधिकारी यजमान होगा। आत्रेय नाम का उल्लेख मीमांसा-सूत्र तथा महाभारत में भी हुआ है किन्तु ये तीनों एक ही व्यक्ति हैं अथवा पृथक् निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

आश्मरथ्य—श्रीयुत् उपाध्याय जी आश्मरथ्य को द्वैताद्वैत मत के सबसे प्राचीन आचार्य मानते हैं। आश्मरथ्य का उल्लेख वैश्वानर शब्द का ब्रह्म के

लिए प्रयोग के प्रसंग में ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ में दो बार हुआ है। यह परमात्मा तथा विज्ञानात्मा में भेदाभेद के समर्थक हैं।

औडुलौमि—ब्रह्मसूत्र में औडुलोमि के मत का भी तीन बार उल्लेख हुआ है। संसार-दशा में यह जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद मानते हैं, किन्तु सुप्त्यावस्था में अभेद समर्थक हैं। अभेद की स्थिति में आत्मा उसी प्रकार प्रज्ञानघन है यथा नमक का डला बाहर भीतर सबका सब रसघन है। अंगाश्रित उपासना के सम्बन्ध में इनका मत है कि कर्त्तापन ऋत्विक् का है किन्तु फलाधिकार यजमान का है, ऋत्विक् का नहीं।

कार्ष्णाणिनि—कार्ष्णाणिनि का उल्लेख जीव के पृथ्वी पर पुनरागमन के सम्बन्ध में हुआ है। इसके अनुसार जीव अपने अनुशयभूत (अवशिष्ट कर्म संसार) कर्मों के साथ पृथ्वी पर लौटता है। अवशिष्ट कर्म ही अन्य योनि के हेतु होते हैं। इनका उल्लेख धर्मशास्त्र के इतिहास में भी हुआ है।

काशकृत्स्न—ग्रन्थ में एक ही स्थान पर इनके मत का दर्शन होता है। यह परब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं तथा प्रलयावस्था में उसी में जगत् की स्थिति बताते हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का विकार नहीं प्रत्युत् अविकृत ब्रह्म ही सृष्टिकाल में जीवरूप से अवस्थित रहता है। आचार्य शङ्कर ने इनका यह मत श्रुत्यनुसारी कहा है—

"काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् तत्र काशकृत्स्नीयं मत श्रुत्यनुसारीति गम्यते अतिपादयिषितानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिभ्यः। (ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य १।४।२२)।

जैमिनी—आचार्य जैमिनि कर्ममीमांसा के सूत्र हैं। हिन्दू परम्परा के अनुसार जैमिनि व्यास के शिष्य थे। सम्भवतः यही कारण है कि गुरु के ग्रन्थ में शिष्य का सर्वाधिक नामोल्लेखन हुआ है।

बादरि—ब्रह्मसूत्र में पुनर्जन्म के प्रसङ्ग में छान्दोग्य उपनिषद् के प्रसिद्ध कथन "तद् य इह रमणीयाचरणाः" में प्रयुक्त चरण शब्द के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। उनमें आचार्य बादरि का मत है कि रमणीयचरण का तात्पर्य सुकृत् कर्म हैं तथा कपूयचरण का अर्थ दुष्कृत् कर्म, अतः इनके मतानुसार जीवात्मा अवशिष्ट शोभन या अशोभन कर्मों के साथ ही पुनरागमन करता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्य 'स एनान् ब्रह्म गमयति' में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द के विषय में आचार्यों में मतभेद है कि यहाँ ब्रह्म का तात्पर्य कार्य ब्रह्म है अथवा परब्रह्म बादरि का मत है कि यहाँ कार्य ब्रह्म ही है परब्रह्म तो सर्वत्र है उसको प्राप्त करने के लिए लोकान्तर में जाने की आवश्यकता नहीं मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में आचार्य बादरि को मन की ही स्थिति मान्य है—शरीर अथवा इन्द्रिय की नहीं। मीमांसा-सूत्र में भी इनके मत उल्लेख है।

ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित इन कतिपय आचार्यों के नामों के अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थों में अन्य पश्चाद्वर्ती वेदान्ताचार्यों का वर्णन हुआ है जिनमें भर्तृप्रपञ्च, भर्तृहरि, बोधायन, भारुचि, गौड़पाद प्रभृति प्रमुख नाम हैं। ये सभी आचार्य शङ्कर के पूर्वाचार्य हैं।

भर्तृप्रपञ्च—आचार्य शंकर ने इनके लिये औपनिषदं मन्यं सम्बोधन का प्रयोग किया है। भर्तृप्रपञ्च, कठ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य के रचनाकार बताये जाते हैं। सम्भवतः सुरेश्वराचार्य तथा आनन्दगिरि इनके ग्रन्थों से परिचित थे। यह भेदाभेदवादी अथवा द्वैताद्वैतवादी थे। उपाध्याय जी का कथन है कि—'द्वैत अद्वैत का मंजुल समन्वय भर्तृप्रपञ्च के सिद्धान्त की महती विशेषता है।"

उपाध्याय जी ने इन्हें परिणामवादी बताया है। इन्हें अपरमोक्ष तथा परामुक्ति रूप दो प्रकार का मोक्ष तथा ज्ञानकर्म का समुच्चय श्रेष्ठ मोक्ष का साधन मान्य था।

भर्तृमित्र—सिद्धित्रय में यामुनाचार्य तथा श्लोकवार्तिक में कुमारिल भट्ट ने इनका उल्लेख किया है, किन्तु दोनों स्थान पर उल्लिखित भर्तृमित्र एक हैं या पृथक्—कहना कठिन है। सम्भवतः इन्होंने दोनों दर्शनों—मीमांसा तथा वेदान्त से सम्बन्धित ग्रन्थ रचे हों।

भर्तृहरि—प्रसिद्ध वैय्याकरण तथा तार्किक भर्तृहरि आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों में अन्यतम हैं। वाक्यप्रदीप इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्ट दर्शन होता है। यह ब्रह्म को यथार्थ सत्ता मानते हैं तथा ब्रह्म और शब्द को अभिन्न मानकर जगत् का शब्द ब्रह्म का विवर्त्त बताते हैं—

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।"

भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् को अविद्याजनक कहा है। भर्तृहरि के मत को उद्धृत करते हुये सूर्यनारायण शुक्ल जी ने भी कहा है—शब्द ब्रह्मवादियों के अनुसार परावाक् ही ब्रह्म है। वही अविद्या के द्वारा नाना रूपों में भासती है।

डॉ० राममूर्ति शर्मा का कथन है—"भर्तृहरि के वाक्यपदीय में अपरोक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में ही माया के बीज उपलब्ध होते हैं।"

भर्तृहरि के मत में व्याकरण के सिद्धान्तों के अनुशीलन से मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है। परवर्ती आचार्यों में विशेषरूप से मंडन मिश्र पर इनका प्रभाव पड़ा था। स्फोटसिद्धि नामक उनका ग्रन्थ इसका प्रमाण है। प्रो० मैक्समूलर भर्तृहरि की मृत्यु ६५० ई० के लगभग अनुमानित करते हैं।

बोधायन—डॉ० थीबो का विचार है—सम्भवतः इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति लिखी थी। "वेदार्थ संग्रह" में गुहदेव, कपर्दी, टङ्क तथा भारुचि के साथ इनका भी नामोल्लेख हुआ है। रामानुजाचार्य ने अपने श्रीभाष्य में इनकी वृत्ति से उद्धरण दिये हैं, किन्तु संप्रति इनकी यह वृत्ति अनुपलब्ध है। सम्भवतः इनकी वेदान्तसूत्र पर लिखी वृत्ति का नाम कृतकोटि था। जर्मन विद्वान् जैकोबी का मत है कि उन्होंने मीमांसा-सूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी।

टङ्क—आचार्य रामानुज द्वारा वेदार्थसंग्रह में इनका उल्लेख किया गया है। ये विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। टङ्क आचार्य को ब्रह्मानन्दी के साथ अभिन्न बताया जाता है, किन्तु यह मत अनिर्णीत ही है।

भारुचि——यह एक विशिष्ट आचार्य थे। वेदार्थ संग्रह में इनका उल्लेख अति आदरपूर्वक हुआ है। धर्मशास्त्र के इतिहास में भी इनका नामनिर्देश हुआ है। किन्तु यह निश्चित नहीं कि वेदान्ती भारुचि तथा धर्मशास्त्रकार भारुचि भिन्न हैं अथवा अभिन्न। यदि अभिन्न हैं तो प्रो० काणे के अनुसार इनका काल नवम् शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

द्रविडाचार्य—आचार्य शंकर ने इनका उल्लेख आदर पूर्वक किया है। इनके लिये उन्होंने आगमवित् तथा सम्प्रदायवित् सम्बोधन प्रयोग किये हैं। सम्भवतः यह भी अद्वैतमत के समर्थक थे, क्योंकि आचार्य शंकर द्वारा इनका

उल्लेख अपने मत के समर्थन में किया गया है। रामानुजाचार्य के वेदार्थ संग्रह में भी इनका उल्लेख है। सिद्धित्रय में आये भाष्यकृत शब्द का सम्बन्ध भी इन्हीं द्रविडाचार्य से लिया जाता है।

उपवर्ष—उपवर्ष का उल्लेख शबरस्वामी तथा शङ्कराचार्य के भाष्यों में उपलब्ध होता है—

"इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिनाप्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्व मिधनप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम् इत्युद्धाः कृतः।" (ब्र० सू० शा० भा०)

"अथ गौरित्यत्रः कः शब्दः गकारौकार विसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षं।"

(शबरभाष्य)

सर्वत्र इनके लिये भगवान् शब्द का प्रयोग किया गया है जो इनकी श्रेष्ठता एवं गौरव का परिचायक है। शबर स्वामी तथा शंकराचार्य द्वारा समानरूप से इनका उल्लेख किये जाने से निश्चित है कि इन्होंने पूर्वमीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा दोनों सूत्रों पर वृत्ति लिखी थी।

तमिल भाषा के प्राचीन ग्रन्थ मणिमेखले में जैमिनी और व्यास के साथ आठ प्रमाणों को स्वीकार करने वाले किन्हीं कृतकोटि आचार्य का निर्देश है। इन कृतकोटि आचार्य के साथ उपवर्ष आचार्य का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। किन्तु यह न्याय संगत नहीं है। मीमांसक तथा वेदान्तियों के समान उपवर्ष आचार्य द्वारा भी छः प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करना ही उचित प्रतीत होता है। इनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में बलदेव उपाध्याय जी का मत है कि यह २०० ईस्वी के पीछे नहीं हो सकते।

गौडपाद—यद्यपि अद्वैतवेदान्त की गुरु परम्परा अतिप्राचीन है, किन्तु गौडपाद आचार्य के समय से यह परम्परा ऐतिहासिक प्रामाणिकता को प्राप्त कर लेती है।

वास्तव में अद्वैतवाद के प्रथम प्रवर्तक आचार्य गौडपाद ही सिद्ध होते हैं। सर्वप्रथम अद्वैत-वेदान्त के सिद्धान्तों का क्रमबद्ध रूप में प्रतिपादन इन्ही के द्वारा हुआ है। विद्वानों का विचार है कि गौडपाद आचार्य का अद्वैतवाद बौद्धवाद पर आधारित है। डॉ० दासगुप्ता का तो यह विश्वास है कि आचार्य गौडपाद सम्भवतः बौद्ध ही थे, किन्तु डॉ० शर्मा का कथन है कि गौडपादाचार्य के माया-

वाद का मुख्य प्रयोजन बौद्ध-दर्शन का समर्थन न होकर उपनिषद् विचारधारा का स्पष्टीकरण है, इसलिये इनके मायावाद को बौद्ध शून्यवाद अथवा विज्ञानवाद पर आधारित न मानकर उपनिषद् दर्शन पर ही प्रतिष्ठित मानना चाहिये।

यद्यपि गौडपाद आचार्य को बौद्ध मानना उचित नहीं है तथापि यह तो सिद्ध है कि गौडपाद बौद्धधर्म के सिद्धान्त से पर्याप्त प्रभावित थे उन्होंने बौद्ध-सिद्धान्तों को स्वल्प परिवर्तन के साथ अद्वैतरूप में अङ्गीकार भी किया। इस सम्बन्ध में डॉ० राधाकृष्णन् का यह मत सर्वथा उपयुक्त है—

······अपने उदार विचारों के कारण उसे बौद्धधर्म से सम्बन्ध सिद्धान्तों को स्वीकार करके उन्हें अद्वैत की शैली पर अपने अनुकूल बना लेने की सुविधा प्राप्त हो गई।"

गौडपाद आचार्य की प्रसिद्ध कृति माण्डूक्योपनिषद् पर आधारित माण्डूक्य-कारिका है। यह ग्रन्थ चार प्रकरणों में विभक्त है—(१) आगम प्रकरण (२) वैतथ्य प्रकरण (३) अद्वैत प्रकरण और (४) अतीत शान्ति प्रकरण।

माण्डूक्य कारिका से गौडपाद के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह अनादि माया को ही द्वैत का कारण मानते हैं (सृष्टि के सम्बन्ध में उनका मत है कि यह आनुभाविक रूप में ही सत्य है यथार्थ में नहीं, अतः जगत् की यथार्थ सत्ता नहीं वह स्वप्नमात्र भ्रान्ति है और समस्त भेद प्रतीति-रूप है। मायिक जगत् के लिये उन्होंने स्वप्न, मरीचिका जल एवं गांधर्व नगर आदि के दृष्टान्त दिये हैं। यथार्थ सत्ता एकमात्र आत्मा है। वह सदैव अजन्मा, जाग्रत, स्वप्नरहित स्वप्रकाश है।

श्रीयुत बलदेव उपाध्याय माण्डूक्य कारिका के अतिरिक्त उत्तरगीता का भाष्य भी इन्हीं की कृति बताते हैं। इनका काल अधिकांशतः आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ अथवा सातवीं शताब्दी का अन्त निश्चित किया जाता है।

गोविन्दपाद—गौडपादाचार्य के शिष्य तथा आचार्य शंकर के गुरु थे, किन्तु इनके विषय में अधिक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में रसेश्वर दर्शन के अन्तर्गत रसहृदय नाम से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। श्रीयुत बलदेव उपाध्याय वहाँ उल्लिखित इस ग्रन्थ को गोविन्दपाद की कृति बताते हैं।

आचार्य शंकर—आचार्य शंकर बौद्धिक जगत् की वह महिमामयी विभूति हैं, जिन्हें पाकर भारतभूमि धन्य हो गई है। वह दार्शनिक नभमण्डल का ऐसा तेजोमय सूर्य सिद्ध हुये जिसके प्रकाश को देश, काल की सीमायें अवरुद्ध न कर सकीं। तभी तो वह विश्वव्यापी ख्याति अर्जित कर सके। क्या पौर्वात्य, क्या पाश्चात्य सभी विद्वान् उनके ज्ञान की महानता के समक्ष नमित हो गये (डॉ घाटे ने उन्हें अद्वैतवाद का सर्वोच्च माना है और, टोमलिन का कथन है— "शकर उन सब दार्शनिकों में महान् है, जिन्हें आज पश्चिम में प्राप्त प्रतिष्ठा की अपेक्षा अधिकतर प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये।"

आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त को इतना अधिक समृद्ध तथा प्रभावित किया कि आचार्य शंकर का नाम अद्वैत वेदान्त को पुनर्जीवित करने वाला कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। आचार्य का आविर्भाव ऐसे भीषण संघर्ष के काल में हुआ था, जब कि नास्तिक बौद्धमत शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थे और आध्यात्मिक चिन्तन का स्थान मीमांसकों का वैदिक कर्म-काण्ड लेता जा रहा था। यह सम्पूर्ण हिन्दू धर्म की संकट की घड़ी थी। ऐसी स्थिति में आचार्य ने वैदिक ज्ञान मार्ग को विकसित तथा हिन्दू धर्म की जर्जर नींव को परिपक्व करने का गुरुत्तर कर्त्तव्य सम्पन्न किया।

आचार्य शंकर के जीवन पर इनके शिष्यों ने शंकर-दिग्विजय, शंकर-विजय, शंकर विलाप आदि प्रसिद्ध तथा उपयोगी काव्यग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु ये ग्रन्थ कवि सुलभ भावुकता तथा कल्पना से ओतप्रोत होने से आचार्य की निश्चित तिथि का ज्ञान नहीं देते हैं तथापि इनमें आए वर्णनों के आधार पर विद्वानों ने आचार्य का काल निर्णीत करने का प्रयत्न किया है। विभिन्न पौर्वात्य तथा-पाश्चात्य विद्वानों ने इनकी कालसीमा ६०० से ९०० ई० के मध्य में स्वीकार की है। इनके काल के सम्बन्ध में विद्वानों ने परस्पर विरोधी मत प्रकट किये हैं—विल्सन तथा कोलब्रुक इन्हें ८०० ई० से ९०० ई० के मध्य में स्थिर करते हैं। तेलग तथा तिलक महोदय ६८८ ई० के समर्थक हैं। प्रो० मैक्डानल तथा मैक्समूलर एवं कृष्ण स्वामी और पाठक ७८८ ई० में इनका जन्म स्वीकार करते हैं। सम्प्रति इनके जन्मकाल के सम्बन्ध में डा० के. बी. पाठक द्वारा निर्धारित ७८८ ई० से ८२० ई० का समय अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत है

और यही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इनका जीवनकाल ३२ वर्ष की अल्पायु का ही था। इस अल्पकाल में भी उन्होंने असंख्य उत्कृष्ट रचनाओं द्वारा दर्शन साहित्य को समृद्ध कर दिया।

आचार्य शंकर की कृतियाँ तीन प्रकार की हैं—भाष्य, स्तोत्र तथा प्रकरण ग्रन्थ। इन्होंने वेदान्त के प्रस्थानत्रयी—श्रुति, स्मृति और सूत्र-उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे। ये विद्वत्तापूर्ण भाष्य किसी स्वतंत्र ग्रन्थ से अधिक महत्त्व के हैं। डॉ॰ थीवो शंकरभाष्यों को उपनिषदों की भावना के अधिक समीप मानते हैं।

इन्होंने विभिन्न हिन्दू देवताओं पर स्तोत्रग्रन्थ भी रचे। इन ग्रन्थों में आचार्य का दार्शनिक पक्ष के स्थान पर काव्यमय पक्ष ही अधिक सबल रहा है। अगणित प्रकरण तथा अपरोक्षानुभूति, आत्मबोध, उपदेशसहस्री, विवेकचूडामणि आदि इनके दाशनिक विचारों का प्रतिपादन अतिसुबोध, आकर्षक और हृदय-ग्राही रीति से करते हैं।

आचार्य शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। दो सत्ताओं के पृथक् महत्त्व को अस्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। आचार्य के अद्वैत का मूल मन्त्र है, "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं को मिथ्या की सिद्धि हेतु उन्होंने मोयावाद की स्थापना की। विद्वानों का कथन है कि शंकर का मायावाद गौडपादाचार्य के मायावाद से प्रभावित है। आचार्य शंकर ने माया शब्द का प्रयोग अविद्या, अज्ञान, भ्रम. मृगतृष्णिका आदि अर्थों में किया है। मायावाद शंकर का वह अमोघ मंत्र है जिसके द्वारा वह ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध की पहेली को सुलझा सके हैं। जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र है जैसे रज्जु में सर्प।

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि वह तो स्वतः सिद्ध है। अपने अस्तित्त्व का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को सदैव रहता है। आत्मा शंकर का दृष्टिकोण निराशावादी अथवा पलायनवादी नहीं है। मोक्ष एक व्यावहारिक सत्य है। इसके लिए उन्होंने ज्ञान, कर्म और उपासना आदि सभी की उपादेयता स्वीकार की है। यही कारण है कि शंकर के सिद्धान्त केवल ज्ञानियों और योगियों को ही नहीं वरन् साधारण मानव को भी प्रभावित करते हैं।

आचार्य शंकर ने अद्वैत वेदान्त की जिस धारा को गति दी उसे और अधिक प्रगति की ओर उनके योग्य शिष्य प्रशिष्य ले गये। आचार्य शंकर से आगे चलने वाली वेदान्ताचार्यों की पंक्ति अत्यन्त दीर्घ है। उनमें से कुछ ने वेदान्तसाहित्य को अत्यन्त समृद्ध किया।

वाचस्पति मिश्र—आचार्य शंकर के समान ही वाचस्पति मिश्र भी सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले आचार्य थे। इन्होंने प्रायः सभी दर्शनों के साहित्य को समृद्ध किया। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर भामती टीका इनके वेदान्त-मत की परिचायिका है। इनका काल नौवीं शताब्दी निश्चित है।

विद्यारण्य—विद्यारण्य मुनि का नाम 'माधव' बताया जाता है। अपने जीवन के प्रारम्भ में यह माधव नाम मंत्री पद पर कार्य करते रहे। तदुपरान्त संन्यास की दीक्षा लेकर विद्यारण्य नाम से शृङ्गेरी मठ के अध्यक्ष बने। इनका स्थिति काल १२९६ ई० से १३८६ ई० तक निश्चित किया जाता है। जीवन-मुक्ति, विवेक तथा पञ्चदशी इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पञ्चदशी विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ की सम्मिलित रचना बताई जाती है।

आनन्दगिरि—आनन्दगिरि शंकर के प्रधान शिष्यों में से थे। शंकरभाष्य पर न्यायनिर्णय नामक टीका इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

मधुसूदन सरस्वती—यह सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वेदान्ती हैं। इनकी प्रसिद्ध कृति न्यायामृत की समीक्षा रूप में अद्वैत सिद्धि है। यह अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। डॉ० हरिदत्त शास्त्री का विश्वास है कि इसके उपरान्त इतनी प्रौढ़ रचना वेदान्त में नहीं हुई। संक्षेपशारीरिक टीका, गूढ़ार्थदीपिका, सिद्धान्त-बिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका इत्यादि ग्रन्थ प्रसिद्ध कृतियाँ है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र—१६वीं शताब्दी के एक अन्य आचार्य हैं—धर्मराजाध्वरीन्द्र। इनकी उत्कृष्ट प्रतिभा और विद्वत्ता का परिचायक ग्रन्थ है—'वेदान्त-परिभाषा'। इसका अध्ययन वेदान्त के प्रमाण सम्बन्धी ज्ञान के लिये आवश्यक तथा उपयोगी है। वेदान्तपरिभाषा पर इनके पुत्ररचित 'शिखामणि' नामक व्याख्या भी उपलब्ध है।

सदानन्द—सदानन्द योगीन्द्र भी १६ वीं शताब्दी के वेदान्ताचार्य हैं। इनकी ख्यातिप्राप्त कृति वेदान्तसार है। यह सम्पूर्ण वेदान्त-सिद्धान्तों का परिचायक

ग्रन्थ है। वेदान्त का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह ग्रन्थ अत्यधिक उपादेय है। वेदान्तसार पर नृसिंह सरस्वती ने सुबोधिनी, आपदेव ने बालबोधिनी तथा स्वामी रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जिनी टीकायें रचीं।

इन महाविभूतियों के अतिरिक्त अद्वैत वेदान्त साहित्य को अन्य अनेक विद्वानों ने भी समृद्ध किया। इनमें श्रीहर्ष, सर्वज्ञात्मुनि, अप्पयदीक्षित, प्रकाशात्मा, ब्रह्मानन्द सरस्वती, नारायणतीर्थ, सदानन्द यति प्रभृति का नाम विशेषोल्लेखनीय हैं।

ब्रह्म

ब्रह्म—प्रयोग की दृष्टि से ब्रह्म शब्द जितना अधिक सरल प्रतीत होता है, इसको समझना उतना ही जटिल है। सामान्यतः 'ब्रह्म' शब्द को 'बृह्' धातु से निष्पन्न माना गया है, जिसका अर्थ है विशाल, अतः जो इतना विशाल हो कि सब कुछ परिव्याप्त कर ले उसे ब्रह्म कहते हैं, किन्तु ब्रह्म शब्द के अन्य कई अर्थ भी हैं।

प्रारम्भ में वेदों के सूत्रों तथा स्तुतियों के अर्थ में ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ। क्रमशः ब्रह्म शब्द वेद के लिये प्रयुक्त होने लगा तथा कर्मकाण्ड की प्रचुरता के कारण यज्ञों का महत्त्व बढ़ने से यज्ञ को ही सृष्टि उत्पन्न करने वाली सर्वोच्च शक्ति समझा जाने लगा। यज्ञ का आधार ब्रह्म अथवा वेद था, अतः ब्रह्म या वेद को 'प्रथमजऋ' कहा जाने लगा तथा अन्त में शक्ति का आधार बना दिया।

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य है—एकमात्र नित्य चेतन सत्ता जो जगत् का कारण और सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग एक की सख्या के लिये भी होता है—इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म शब्द के विभिन्न अर्थ हैं तथापि उन सभी अर्थों में एक ऐसी सत्ता की ओर संकेत मिलता है जो सर्वव्यापी तथा एक अद्वितीय सत्ता है। दर्शन में प्रयुक्त इस 'ब्रह्म' शब्द के लिये मैक्डानेल का कथन है—

Having a long subsequent history, this word is a very eiptome of the evolution of religious in India.'

विद्वानों को 'ब्रह्म' शब्द का जो भी अर्थ मान्य हो अथवा चाहे कोई भी अर्थ 'ब्रह्म' का यथार्थ रूप व्यक्त करने में समर्थ हो, किन्तु वेदान्त दर्शन के अनुसार

ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी जगत् के अणु-अणु में व्याप्त सत्ता है जो देश और काल सीमा से बाधित नहीं हो सकती, जो निर्गुण निराकारी, अविनाशी चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप है। कठोपनिषद् में उसकी सर्वव्यापकता का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"ह ंॅ सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसद्द-तसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।"

ब्रह्म एक निर्गुण, निराकारी सत्ता होने से प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं है क्योंकि रूपधारी वस्तु का ही प्रत्यक्ष हो सकता है और इसके अभाव में समान गुण-रूप वाली वस्तु के आधार पर उसकी सत्ता का अनुमान किया जा सकता है, अतः 'ब्रह्म' की सिद्धि शब्द प्रमाण द्वारा की जाती है—

"तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।"

श्रुतियों में स्थान-स्थान पर उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।"

"विज्ञानमानन्दंब्रह्म" तथा

"एतमानन्द अयमात्मानमुपसंक्रामिति" इत्यादि

श्रुतियों में ब्रह्म के लिये स्थान-स्थान पर 'आनन्द' एवं 'आनन्दमय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'आनन्दमय' शब्द का निर्माण पाणिनि सूत्रानुसार 'तत्प्रकृतवचने' प्रचुरता के अर्थ में मयट् प्रत्यय लगाने से हुआ है, अतः इसका अर्थ है—'आनन्द की प्रचुरता" गुणहीन होने से यह आनन्द की प्रचुरता एकमात्र ब्रह्म में ही प्राप्त होती है।

ब्रह्म को अन्य भौतिक वस्तुओं सह शब्द चित्र अथवा रूपचित्र द्वारा व्यक्त करना असम्भव है। उनकी किसी सांसारिक पदार्थ से उपमा भी नहीं दी जा सकती है। उपमा भी किसी समानधर्मा वस्तु से ही हो सकती है तथा उपमा का प्रयोजन सत्य के एक पक्ष का संकेत करना मात्र है, किन्तु ब्रह्म किसी पदार्थ का समानधर्मा नहीं है। वह तो 'अवाङ् मनसगोचर' है। उपनिषदों में उसके लिये 'नेति-नेति' जैसे निषेधात्मक शब्द का प्रयोग किया गया है। यह निषेधात्मक शब्द उसके अस्तित्व को संदेहात्मक नहीं बनाते हैं, वरन् उसके स्वरूप वर्णन में सहायक होते हैं। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में उसके रूप की परिकल्पना

"निष्कलं निष्क्रियॅ शान्तं निरवद्यं निरंजनं अमृतस्य परं सेतुर्दग्धेन्धनमिवानतम्" आदि रूप से की गई है।

ब्रह्म सत् चित् तथा आनन्द है। सत् का अर्थ है ऐसा त्रिकालाबाधित पदार्थ जो कभी विकृत न हो "एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः।" ब्रह्म प्रत्येक अवस्था में, प्रत्येक काल में विकारहीन एवं नित्य है, वह "सत्यं ज्ञानमन्तम्" है। वह नित्य प्रबुद्ध तथा पूर्ण होने से आनन्दघन है।

निष्क्रिय, निर्विकार तथा निराकार होते हुये भी यह ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत का मूलकारण तथा मूलाधार है। वह अपनी विलक्षण अवर्णनीय शक्ति माया द्वारा सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही बनता है। किन्तु न तो उसका कोई कारण है, न ही वह स्वयं माया से लिप्त होता है तथा न प्रभावित :—

"सः कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता च चाधिपः।"

नामरूपादि से हीन ब्रह्म वस्तुतः केवल अनुभूतिगम्य है। उस तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। महाकवि सूरदास के शब्दों में वह "गूँगे के मीठे स्वादुवत्" है। छान्दोग्य उपनिषद् में उसे सांवा, सरसों तथा जौ आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्म किन्तु सर्वव्यापी बताया गया है, उसे प्राप्त करने का एकमात्र साधन ज्ञान है—

"But the highest self, Parmatmana, could be discovered after a sevior moral intelectual discipline only, and this is a most characteristic feature in the religious history of India."

वेदान्त में इस निर्गुण, निरवयवी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, नित्य, चैतन्य, ब्रह्म का दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है—व्यावहारिक दृष्टि से तथा पारमार्थिक दृष्टि से—

"द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधि—
विशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् ॥"

व्यावहारिक दृष्टि से विचारित 'ब्रह्म' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है—

तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति तद्यावर्तकं तदेव, यथा गन्धत्वं पृथिवी लक्षणम्।"

और पारमार्थिक दृष्टि ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है—

"तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणं यतासत्यादिकं ब्रह्म स्वरूपलक्षणम्।"

व्यावहारिक दृष्टि अथवा तटस्थ लक्षण से तात्पर्य है–ब्रह्मके उस स्वरूप से जिसमें ब्रह्म को जगत् का उत्पन्नकर्त्ता, पालक तथा संहारक आदि रूपों में देखा जाता है। यह लक्षण उसके केवल अवस्थागत गुणों का निर्देश करता है—यथा कोई व्यक्ति रङ्गमञ्च पर किसी पात्र विशेष के अभिनय करने से कुछ काल तक उसी पात्र विशेष के रूप में सम्बोधित किया जाता है, किन्तु अभिनय अवधि के उपरान्त वह अपने यथार्थ रूप में आ जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने यथार्थ स्वरूप में निर्गुण सत्-चित् तथा आनन्द रूप है। वास्तव में तो ब्रह्म के वास्तविक रूप का वर्णन असम्भव है। वह अति विलक्षण है, मन और वाणी की सीमा से भी परे है। श्रुति का कथन है—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन॥"

किन्तु सृष्टि-रचना के निमित्त ऐसा अवर्णनीय ब्रह्म सगुण सविशेष रूप धारण करता है (यह सृष्टि हेतु धारण किया हुआ रूप ही उसका तटस्थ लक्षण है जो कुछ कालोपरान्त बाधित हो जाता है। एम० हिरियन्न के शब्दों में—

"ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और यह विभूषित जगत् और विषयी जीव दोनों के रूप में प्रतिभाषित होता है। जगत् ब्रह्म का प्रतिभासित होने वाला विवर्त है और जीव उस भ्रान्तिमय जगत् की अंगभूत उपाधियों से विशिष्ट होकर प्रतिभासित होने वाला स्वयं ब्रह्म ही है।"

ईश्वर

वेदान्त में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दो दृष्टिकोणों से 'ब्रह्म' पर विचार किया गया है। इन्हीं दो भिन्न दृष्टिकोणों से विचारित ब्रह्म 'परब्रह्म' तथा 'अपर ब्रह्म' द्वारा सम्बोधित किया गया है।

'परब्रह्म' वेदान्त का निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म है, किन्तु 'अपरब्रह्म' उपाधियुक्त सगुण है। उपाधियुक्त सगुण सविशेष ब्रह्म ही 'ईश्वर' संज्ञा द्वारा सम्बोधित किया जाता है। स्वयं में निष्क्रिय, निरवयवी, निःप्रपञ्च, ब्रह्म जिस क्षण अपनी वर्णनातीत, विलक्षण, माया नाम्नी शक्ति से उपहित हो जाता है उसी क्षण वह 'ईश्वर' संज्ञा वाला हो जाता है—

"पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो ने शिव के प्रत्यय' को ईश्वर माना है। अरस्तू ने उसे आदि संचालक, देकार्त्ते ने उसे 'सब वस्तुओं के निर्माता', स्पिनोजा ने उसे 'वस्तुओं का सार्वभौम सिद्धान्त', बर्कले ने उसे 'महाप्रयोजन' और हैगेल ने उसे निरपेक्ष चैतन्य' के रूप में मान्यता दी है।" (ब्रजगोपाल तिवारी)

वास्तव में वेदान्त में 'ईश्वर' एक अतिमहत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक तत्व है। इसके अस्तित्व की स्वीकृति से ही 'माया' तथा 'ब्रह्म' दोनों ही जगत् की उत्पत्ति का कारण सिद्ध हो जाते हैं। इन दोनों का सांकर्य ही सगुण ब्रह्म का रूप प्राप्त करता है। जिसके लिये 'ईश्वर' सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है।

'ईश्वर' के अस्तित्व के सम्बन्ध में एम० हिरियन्ना इस प्रकार कहते हैं—

"ईश्वरादिक की जो भावनायें की गई हैं, वे मन्द साधकों को परम सत्व की यथार्थ भावना तक पहुँचाने के सोपान के समान हैं।" यह कथन सत्य है। निर्गुण रूप में जो ब्रह्म वाणी और शब्दों द्वारा वर्णन की सीमा में न बंध सकने से साधारण मनुष्यों की पहुँच (उपासना) से परे होता है। वही 'ईश्वर' रूप में वर्णन योग्य तथा सुगम हो जाने से उपासना का विषय बन जाता है—

"निर्गुणमपि सत् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणम्—उपासनार्थमुपदिश्यते।"

ब्रेडले के अनुसार"......ईश्वर चाहे कोई व्यक्ति हो या नहीं, वह एक ओर एक समीप सत्ता है और मनुष्य के लिये एक विषय।"

ईश्वर का यथार्थ रूप 'ब्रह्म' ही है। वह स्वयं तो इस दृश्य जगत् एवं अदृश्य ब्रह्म के मध्य एक शृङ्खला है। यह ही जगत् का सृष्टिकर्त्ता है। सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ईश्वर ही है। अपने चैतन्य अंश की प्रधानता से निमित्त कारण और 'माया' की सहायता से जगत् का सर्जन करने से उपादान कारण भी है।

"माया" उपाधि से अभिहित हुआ 'ब्रह्म' ही 'ईश्वर' नाम से कथित होता है, अतः 'मायी' भी कहलाता है। यह 'मायी' ही समस्त नामरूपात्मक प्रपञ्चों का जनक है—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥"

ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी है। वह सृष्टि के अणु-अणु में व्याप्त है। श्रुतियों में उसे 'प्रधानक्षेत्रपतिर्गुणेश' कहा गया है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, पालक एवं संहारक है। रामानुजाचार्य ने ईश्वर को परब्रह्म, भुवनों का उपादान, कर्त्ता एवं जीवों का नियामक आदि विशेषणों से युक्त बताया है—

"वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानां उपादानं कर्त्ता जीव नियामकः॥"

वेदान्त में भी उसे 'सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकम् अव्यक्तम् अन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वरम्' कहा गया है, किन्तु इन विशेष गुणों से युक्त ईश्वर में केवल साक्षित्व है, भोक्तृत्व नहीं। वह जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभकर्मफल प्रदान करता है। उन्हें कर्मों में प्रेरित करता है—

"एष ह्येव साधुकर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते॥"

साथ ही उनका नियन्त्रण भी करता है—

"य अ त्मनि विष्ठन्नात्मानमंतरो यमयति।"

परन्तु वह इन समस्त कर्मों को करता हुआ भी कमलपत्र में जलबिन्दु के समान स्वयं इन कर्मों के बन्धन में नहीं बंधता है—

"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्नस बध्यते।"

कर्मों से लिप्त न होने से उसमें सुख, दुःख, मोहादि गुण भी नहीं व्याप्त होते हैं। वह सदा आनन्दयुक्त है। वह प्रौढ़ साहित्यिक की भाँति सदा ही आनन्दानुभूति करता है, क्योंकि उसमें अविद्या का अभाव है। वह अज्ञान की सत्वोपाधि से युक्त है। अन्त में ईश्वर के लिये इतना ही कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म की व्यावहारिक सत्ता है और मनुष्य जब ब्रह्म के पारमार्थिक रूप को प्राप्त करने में असमर्थ होता है तो वह ब्रह्म के इसी व्यावहारिक रूप की विभिन्न नामरूपों से उपासना करता है।

"Those who had not yet discovered it (Parmatmana) were allowed to worship lower Gods, and to employ more poetical names to satisfy their human wants."

इससे यह सिद्ध होता है कि जीव का सीधा सम्बन्ध ईश्वर के साथ है। ईश्वर के ज्ञान से ही वह ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता है, अतः ईश्वर ज्ञान ब्रह्मज्ञान का सोपान तुल्य है।

जीव

जीव वेदान्त की द्वितीय व्यावहारिक सत्ता है। ईश्वर के समान जीव का भी यथार्थ रूप 'ब्रह्म' ही है—

"न हि जीवो नामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः।"

जीव ब्रह्म की मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या से उपहित हुआ चैतन्यांश है। जिस प्रकार समष्टि के अभिप्रायः से समस्त वृक्षों के समूह की एकत्व का व्यपदेश करने वाला 'वन' शब्द से सम्बोधित किया जाता है, एवं व्यष्टि के अभिप्राय से पृथक्-पृथक् आम्र, जम्बू आदि के वृक्ष कहे जाते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रपञ्च के कारणभूत अज्ञान (माया) को समष्टि रूप से एकत्व का सूचित करने वाला 'एक अज्ञान' तथा व्यष्टि रूप से नानात्व के सूचक 'कई अज्ञान' कहा जाता है। इन दो भेदों में से समष्टि रूप अज्ञान सत्व गुण की प्रधानता से ईश्वर संज्ञा प्राप्त करता है और व्यष्टि रूप अज्ञान मलिन सत्त्वप्रधान्य से 'जीव' संज्ञा का बोधक है।

अज्ञान के इस भेदद्वय से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव ईश्वर के ही समान ब्रह्म का अंश है। कोई अतिरिक्त पृथक् तत्त्व नहीं। जैसा कि आचार्य शंकर ने कहा है—

"जीवो ब्रह्मैवनापरः" जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म।"

यद्यपि जीव ईश्वर के ही समान माया के प्रभाववश 'जीव' संज्ञा प्राप्त करता है, तथापि इसमें ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, तथा सर्वव्यापकता आदि गुणों का अभाव होता है। इसका कारण माया की आवरणशक्ति है। ईश्वर तो इससे मुक्त रहता है, किन्तु जीव इसके वशीभूत होकर अल्पज्ञता, अनीश्वरता आदि को प्राप्त करता है। माया में आवरण शक्ति के साथ मोहात्मिका शक्ति भी विद्यमान रहती है, जिसके द्वारा वह जगत् रचना के साथ-साथ जीव को मोहित करने की भी सामर्थ्य रखती है। इस शक्ति के वशीभूत हो जीव अपने चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान नहीं रखता है।

जीव माया की मोहात्मिका शक्ति के वशीभूत होकर सुख-दुःखादिक बन्धन में बंध जाता है तथा "मैं सुखी हूँ" "मैं दुःखी हूँ" ऐसे अनुभव को प्राप्त होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।"

जीव कर्त्ता तथा भोक्ता है, किन्तु उसका कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व ईश्वराधीन है। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने ईश्वर को ही जीव के कर्त्तापन का प्रेरक बताया है। श्रुति-वचनानुसार जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभाशुभ कर्म करता है और उन कर्मों का फल स्वयं भोगता है। ईश्वर द्वारा निर्मित यह जगत् इस जीव का भोग्य पदार्थ है। पंचदशीकार विद्यारण्यमुनी ने ईश्वरकृत इस जगत् का उपयोग जीव द्वारा उसी प्रकार बताया है जैसे—पिता द्वारा उत्पन्न कन्या पति द्वारा भोग्य होती है—

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगत् द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥"

जीवात्मा कर्मफलानुसार संसार में आवागमन रूप से संसरण करते हुये भी जन्म-मरण रूप से रहित नित्य तथा अविनाशी है। प्रत्यक्ष जगत् में प्राप्त 'वह जन्मा' 'वह मरा' आदि प्रयोग जीवात्मा के भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध प्राप्त होने पर मिलते हैं।

"स वा अयं पुरुषोजायमाना शरीरमभि संपद्यमानः स-उत्क्रामत् म्रियमाणः।"

'जीव' की नित्यता के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु से उसके पिता ने कहा—

"जीवोपेत वावकिलेद म्रियते न जीवो म्रियते ।"

अर्थात् जीव से रहित हुआ शरीर ही मरता है, जीव नहीं। कठोपनिषद् में भी जीवात्मा को अजन्मा, अविनाशी तथा पुरातन बताया गया है—

"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

अज, नित्य, अविनाशी होते हुये भी जीव कर्मफलानुसार स्थावर, जंगम शरीरों को धारण कर उसे ही अज्ञानवश अपना यथार्थरूप मान कर उसके (शरीर के) धर्मों से लिप्त हो सुख-दुःख का अनुभव करता है, किन्तु जिस क्षण

वह इस अज्ञान से मुक्त हो अपने यथार्थ स्वरूप को ज्ञात कर लेता है, तल्लक्षण वह ब्रह्म रूप हो जाता है। स्वामी जी श्री चिदानन्द सरस्वती जी के शब्दों में—

"उसको (जीव को) परमेश्वर बनाना नहीं पड़ता। स्वरूप की जो विस्मृति हो गई थी, उसकी निवृति हो जाने पर अपने मूल स्वरूप की स्मृति हो जाती है इतनी ही बात है।"

इस अविनाशी जीव के तीन शरीर होते हैं—

(१) कारण (२) सूक्ष्म तथा (३) स्थूल शरीर।

"स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चित्तेः।
एभिर्विशिष्टो जीवः स्याद् विमुक्तः परमेश्वरः॥"

सृष्टि के प्रथम चरण में जीव कारण शरीर के आश्रित रहता है। अविद्या निर्मित आवरण ही कारणशरीर कहलाता है। यह कारणशरीर व्यष्टि का अवभासक है तथा आनन्द की प्रचुरता रहने से यह 'आनन्दमय कोष' कहलाता है।

कारणशरीरोपरान्त द्वितीयावस्था सूक्ष्मशरीर है। इसका निर्माण पंचप्राण, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि-इन सत्रह अवयवों से मिलकर होता है। स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर नवीन स्थूल शरीर की प्राप्ति तक जीव इसी सूक्ष्म-शरीर के आश्रित रहता है। कठोपनिषद् से इस सूक्ष्मशरीर को 'रथ' कहा गया है।

तृतीयावस्था है स्थूलशरीर। यह 'अन्नमयकोष' भी कहलाता है, क्योंकि माता-पिता द्वारा खाये हुये अन्न द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है। यह स्थूलशरीर पाँच कोषों वाला—आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय वाला होता है।

जीवों की तीनों शरीरों की क्रमशः तीन अवस्थायें हैं—

(१) सुषुप्ति (२) स्वप्न (३) जागृत अवस्था।

विशेष—विद्वानों के मध्य इस विषय में विवाद रहा है कि अज्ञान, ब्रह्म, ईश्वर और जीव का यह विवेचन उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र से मेल खाता है कि नहीं। डा० थीबो का कहना है—The old Upanishads and the Sutras do not propound it. They do nof set forther the distinction

of a higher and lower knowledge of Brahman and Ishwar in Shankar's sense. They do not hold the doetrine of the unreality of the world and they do not, with Shankar, proclaine the absolute identity of the individual and the highest self.

आत्मा

आत्मा सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र का प्रसिद्ध तथा मूलतत्त्व है। प्रत्येक दर्शन चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक—सभी आत्मा के अस्तित्व को एकस्वर से स्वीकार करते हैं। अध्यात्म सम्बन्धी प्रत्येक छोटे-बड़े ग्रन्थ में इस छोटे से शब्द का वर्णन अवश्य मिलता है। इसके वर्णन से रहित ग्रन्थ अधूरा है। आत्मा के सम्बन्ध में ड्यूसन का कथन है--

"This is the most obstract and therefore the best name, which has found of its sole and enternal theme."

'आत्मा' अद्वैतवेदान्त का अतिमहत्त्वपूर्ण वर्ण्य विषय है, क्योंकि इसके ज्ञान द्वारा ही परब्रह्म परमात्मा को जाना जा सकता है, तथापि आत्मा की सिद्धि के लिये वेदान्ती किसी प्रकार का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझते। वस्तुतः आत्मा तो स्वयं सिद्ध है। लौकिक व्यवहार में भी सभी व्यक्ति अपनी सत्ता सूचक 'अहमस्मि' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं और यदि कोई 'अहम् नास्मि' कहता है तब भी वह 'अहं' तत्त्व को स्वीकार कर ही लेता है। पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त्ते का भी ऐसा ही विचार है। उनका कथन है—

अस्तित्त्व पर सन्देह करना ही असम्भव है, क्योंकि 'सन्देह' करने वाले के बिना असम्भव है।"

आचार्य शंकर ने आत्मा को 'स्वयं सिद्ध' कहा है। वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है। उसका निराकरण असम्भव है। निराकरण तो बाहर से आई हुई वस्तु का ही होता है न कि अपने रूप का, (अग्नि से उसकी उष्णता का निराकरण नहीं किया जा सकता—

"आत्मा तु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात् प्रगेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिद्धयति। न चे श य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। न हि अग्नेरोष्ण्यमग्निना निराक्रियते।" (शांकरभाष्य)।

वस्तुतः वेदान्त दर्शन की यह सर्वश्रेष्ठ विशेषता है कि उसने आत्मा की सिद्धि के लिये तर्क अथवा प्रमाणों का आश्रय नहीं लिया। यह उचित भी है, क्योंकि तर्क अथवा प्रमाण दोषयुक्त साधन हैं। एक विद्वान् अपने जिन सशक्त तर्कों एवं प्रमाणों के आधार पर आत्मा को सिद्ध करता है, दूसरा विद्वान् अपने वाक्चातुर्य से उनमें ही दोष दिखाकर दूसरे प्रमाण उपस्थित कर देता है। अतः ऐसे सदोष साधन से उस आत्मा को सिद्ध करना अनुचित ही है। आत्मा तो वास्तव में अनुभूति का विषय है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंᳬस्वाम्।"

जगत् के समस्त दार्शनिक—वे आस्तिक हों या नास्तिक, पाश्चात्य हों या पौर्वात्य—आत्मा के अस्तित्त्व को अस्वीकार नहीं कर पाते, किन्तु यह भी सत्य है कि उनमें आत्मा के स्वरूप के विषय में मत वैपरीत्य है। कुछ दार्शनिक विद्वान् पुत्र को ही आत्मा कहते हैं तो कुछ अन्य स्थूल शरीर, इन्द्रियों, प्राण, मन, बुद्धि शून्यादि को आत्मा की संज्ञा देते हैं, किन्तु वस्तुतः आत्मा पुत्र—कलत्रादि सबंधों एवं भौतिक शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि इन सबसे पृथक् है। उसे भौतिक वस्तुओं के समान किसी आकार-प्रकार, रंगरूप युक्त पदार्थ के रूप में नहीं देखा जा सकता। वह तो 'स्थूल सूक्ष्मकारणशरीरद्वयतिरिक्तः पंचकोशातीतः सन् अवस्थात्रय साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा।'

आत्मा तो सत्-चित् आनन्दस्वरूप है। वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। चैतन्य उसका वास्तविक धर्म है। इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी प्रकाश, चैतन्य और आनन्द दिखाई देता है, सब उसके ही फलस्वरूप है, किन्तु स्वयं आत्मा नहीं है। वह तो 'एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः' है। जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहे, वही उसका यथार्थ तत्त्व 'आत्मा' है। यह अपने स्वाभाविक रूप में समस्त विषयों से निर्लिप्त आनन्दमय है। कठोपनिषद् में इस आश्चर्यजनक आत्मतत्त्व का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

"अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययम् तथा रसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यन्तं महतः परं ध्रुवं, निचायतन्मृत्युमुखा तत्प्रमुच्यते॥"

श्रुति आत्मा को 'नेति-नेति' कहती है। अर्थात् यह जो कुछ दिखाई पड़ रहा है आत्मा नहीं है। वरन् उसका आभासमात्र है। यद्यपि श्रुति ने आत्मा का कथन अनेक प्रकार से किया है, किन्तु उसका यथार्थ कथन इस 'नेति-नेति' पद में ही समाविष्ट है। यह निषेधात्मक पद एक साथ ही आत्मा की दुर्ज्ञेयता, गूढता, स्वाभाविकता, व्यापकता, नित्यता, तथा गतिशीलता आदि अगणित विशेषताओं को व्यक्त कर देता है। यूरोपियन दार्शनिक स्पिनोजा का इस 'नेति-नेति' पद के पक्ष में कथन है—

"प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध। उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है—'नेति-नेति'। उनका विचार है कि उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी गुण का विधान करना मानों उस उद्देश्य को सीमित कर देना है।"

इन सभी वर्णनों से आत्मा आकारहीन ही सिद्ध होता है। यदि उसका कोई आकार मानें भी तो वह सूक्ष्मता ही है। श्री पं० वंशीधर शर्मा जी के शब्दों में "वह अतिसूक्ष्म है—अणु से भी सूक्ष्म, किन्तु यह अणु होते हुये भी इतना शक्तिशाली है कि हजारों करोड़ों ऐटम्, हाइड्रोजन बम, राकेट, सैटेलाइट इसके सम्मुख शून्य से भी निम्न हैं, किन्तु वह सर्वशक्तिमान होते हुए भी किसी का विनाश नहीं करता, न स्वयं कभी नाश को प्राप्त होता है।"

विरोधी स्वभाव वाले शब्दों से वर्णित आत्मा एक है। इसका निवास स्थान हृत्प्रदेश है—

"एकोयज्ञो नास्ति द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।"

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह एकदेशीय है, वरन् सर्वत्र व्याप्त वायु के समान प्रत्येक स्थान पर उसकी स्थिति है। 'ब्रह्मसूत्र' में हृदय में विराजित आत्मा की सर्वव्यापकता के लिये 'चंदन' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है।

यह आत्मा ही सत् तत्त्व है, सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् तो स्वप्नवत् मिथ्या है। जीव भ्रमवश इस सत् तत्त्व पर विभिन्न मिथ्या परिकल्पनायें आरोपित करता है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा सम्बन्धी जो कुछ भी वर्णन है वह ब्रह्म के लिये है और ब्रह्म सम्बन्धी वर्णन आत्मा के लिये ही है। आत्मा ब्रह्म का अंश अथवा खंड नहीं है। ब्रह्म तथा आत्मा प्रकट रूप से पृथक्-पृथक प्रतीत

होते हुये भी मूत रूप से दोनों एक है तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत हुये शब्दों में भी ऐक्य का प्रतिपादन हो जाता है। आचार्य शंकर कहते हैं—'आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धि आत्मस्वरूपं निरतिशयं भूमाख्यम् ब्रह्म इति विद्धि।' शांकरभाष्य।

माया

'माया' शब्द वेदान्त दर्शन की अपनी विलक्षण विशेषता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'माया' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वेदान्त दर्शन में हुआ है। जैसा कि गफ का कथन है—"मायावाद का सिद्धान्त कोई आधुनिक आविष्कार नहीं है। यदि शब्द नहीं तो विचार तो उपनिषदों में सर्वत्र वर्तमान हैं और वह उपनिषद् दर्शन का अविभाज्य अंग है।" इसके पूर्व ऋग्वेदसंहिता, अथर्ववेद, श्वेताश्वतर उपनिषद्, योग-वासिष्ठ तथा बौद्धदर्शनादि में अनेकशः 'माया' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन समस्त ग्रन्थों में 'माया' शब्द का प्रयोग देवताओं की शक्ति, प्रवञ्चना, प्रज्ञा, अविद्या तथा इन्द्रजाल आदि अर्थों में हुआ है, किन्तु इन समस्त ग्रन्थों में माया के ऊपर इतना गम्भीर चिन्तन नहीं किया गया है, जितना वेदान्त दर्शन में।

वेदान्त में वर्णित 'माया' एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जिसके अस्तित्व पर ही 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' जैसे दो विरोधी वाक्यों में एकता की प्रतीति होती है, क्योंकि सत्य वस्तु होने से 'ब्रह्म' का कभी बाध नहीं होना चाहिये और मिथ्या होने के कारण जगत् का कभी दर्शन नहीं होना चाहिये; किन्तु इसके विपरीत स्थूल रूप से जगत् प्रतिक्षण प्रतिपल दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप से निरन्तर दिखाई देने वाले लता, वृक्ष, नदी, पर्वतादि को मिथ्या कहना बड़ा विचित्र एवं असंभव प्रतीत होता है, किन्तु माया शक्ति के प्रभाववश ही ये विरोधी तत्त्व विरोधहीन ज्ञात होते हैं।

यद्यपि दो अक्षरों वाला यह शब्द उच्चारण में जितना सुगम एवं सरल है, वर्णन की दृष्टि से उतना ही कठिन है। इसका स्वरूप वर्णन एक जटिल समस्या है।

योगवासिष्ठ में इसे चित्त को मोह में डालने वाली जड़ एवं मूढ़ जनों में त्रास उत्पन्न करने वाली चित्रलिखित स्त्री के समान कर्तृत्वशक्ति से रहित बताया गया है।

'माया' के विषय में महादेव शास्त्री जी का कथन है—"माया व्यावहारिक सत्ता का ऐसा नामधेय है जो वर्ण्यविषय से बाहर है। वस्तुतः किसी वस्तुविशेष की ओर इंगित करके ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'अमुक वस्तु माया है' वह तो विरोधी तत्वों का मिश्रण है। वह स्वयं रूपहीन एवं अस्तित्वहीन होते हुये भी सर्वत्र व्याप्त एवं सर्वशक्तिशालिनी है। यह अनादि किन्तु शान्त है। किसी व्यक्तिविशेष की निधि नहीं, वरन् सार्वजनिक तथा सार्वभौम है। सदानन्द जी ने विरोधी स्वभाव वाली 'माया' का स्वरूप वर्णन इस प्रकार किया है—

"सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी-भावरूपं यत्किंचिदिति।"

माया के इस स्वरूप वर्णन द्वारा उसकी चार प्रमुख विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं—सर्वप्रमुख विशेषता है माया का अनिर्वचनीयत्व। माया सद् तथा असद् दोनों ही सत्ताओं से परे है। सद् वस्तु से तात्पर्य है जो निरन्तर विद्यमान रहे। कालगत तथा देशगत सीमाओं द्वारा कभी जो बाधित न हो। असद् का अर्थ है जो वस्तु बंध्यापुत्र अथः स्वः पुष्प के समान कभी विद्यमान न हो, किन्तु माया इन दोनों ही प्रकार की नहीं है, जैसा कि योगवासिष्ठ में वर्णित है—

"ईदृशीराम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्षमाणैव नश्यति ॥"

यदि वह सद् होती तो किसी भी पल इसका विनाश न होता यदि असत् होती तो किसी क्षण विद्यमान न रहती। इसके विपरीत माया की विद्यमानता के कारण ही इस भौतिक जगत् का दर्शन होता है। विभिन्न सांसारिक भेद बुद्धियों का कारण भी इसी की विद्यमानता है। इसके विनाश के साथ ही समस्त भेद बुद्धियाँ भी विनष्ट हो जाती हैं और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कथन की सत्यता सिद्ध हो जाती है।

इसके अतिरिक्त माया की सत्यता इसलिये भी सम्भव है कि माया से भ्रमित हुआ जीव कुछ कालोपरान्त अपने यथार्थ स्वरूप को जानकर मुक्त हो जाता है किन्तु माया के सत् होने से जीव की मुक्ति का सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीव तथा ईश्वर की सत्ता का कारण भी तो 'माया' ही है। अतः माया अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ ही है कि जिसका सत् तथा असत् दोनों ही प्रकार से विवेचन न हो सके—

"प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः ॥"

वस्तुतः यही एक शब्द है जो माया के स्वरूप को पूर्णतया व्यक्त करने में समर्थ है । डॉ० हरिदत्त शास्त्री के शब्दों में—

"अनिर्वचनीयता इसकी इसी में है कि उसके लिये अभी किसी अभिधायक संज्ञा शब्द का आविष्कार ही नहीं हुआ ।"

माया की द्वितीय विशेषता त्रिगुणात्माकता है । जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण माया है और जगत् की सृष्टिकर्त्ता शक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह सत्त्व, रजस् तथा तमस् त्रिगुणों से युक्त हो । वस्तुतः गुणत्रय ही तो सृष्टि का मूल कारण है । सांख्य दर्शन भी इन्हीं गुणों को सर्जक मानता है । आचार्य शंकर ने संसार की बीजभूत माया को त्रिगुणात्मक बताया है—

**"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिः अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिकापरा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥"**

माया के तीनों गुण इसके विशेषण होते हुये भी स्वरूप ही हैं । इनके बिना इसके अस्तित्व की कल्पना असम्भव है, क्योंकि माया तो अपने आप में अवस्तु है । चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव में इन्हीं गुणों की कर्तृत्वशक्ति के कारण उसके अस्तित्व का मान प्रतिपल होता रहता है ।

तृतीय विशेषता है ज्ञान विरोधित्व । अज्ञान ही तो माया के अस्तित्व का प्रधान कारण है । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

'अज्ञानेनावृत्त ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।"

अज्ञान से ही मोहित होकर मनुष्य रज्जु को सर्प समझकर भयभीत हो उठता है—

**"यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वैभ्रमात् ।
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ॥"**

यह उसी अज्ञान शक्ति का प्रभाव है कि त्रिकालाबाधित, सच्चिदानन्द, ब्रह्म जीव के नेत्रों से अग्राह्य रहता है तथा मिथ्या जगत् सत्य प्रतीत होता है, किन्तु उस क्षण विशेष में जबकि उसके नेत्रों से अज्ञान का पर्दा हट जाता है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" वाक्य की सत्यता की प्रतीति होने लगती है ।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान का उदय होते ही 'माया' की शक्ति नष्ट हो जाती है, जैसा की 'योगवासिष्ठ' में वर्णन किया गया है—

"जिस प्रकार दीपक के लाने पर अन्धकार के रूप का निश्चय नहीं होता है, वरन् अविमल मूर्तिमान् तमस् का केवल नाश ही होता है, उसी प्रकार ज्ञान होने पर असद् रूप अविद्या न जाने कहाँ भाग जाती है। अविद्या होने के कारण 'माया' असद् रूप है। इसका दर्शन तभी तक होता है जब तक विज्ञान दृष्टि से विवेचन किया न जाये।

'योगवासिष्ठ' के इस वर्णन के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि ज्ञान माया के स्वरूप वर्णन का साधन नहीं है, अपितु उसके अस्तित्व का आभास मात्र है। ज्ञान द्वारा नष्ट होने वाली 'माया' को वेदान्तियों ने 'भावरूप' कहा है। वे नैयायिकों के समान अज्ञान को ज्ञानाभाव मात्र नहीं मानते क्योंकि "मैं अज्ञ हूँ तथा यहाँ अमुक वस्तु का अभाव है" आदि वाक्य इस बात के द्योतक हैं कि अन्य व्यक्ति अमुक को जानता है तथा 'अन्यत्र' अमुक वस्तु का भाव भी है।' यदि कोई वस्तु भावहीन है तो सर्वत्र उसकी भावहीनता परिलक्षित होगी। भावरूपता' माया की व्यावहारिकता है। कर्नल जेकब माया के लिये कहते हैं—The word Maya has without doubt the sense of an illusory appearance produced and with drawn at will.

अविद्या

इस माया के लिये अविद्या शब्द का भी प्रयोग किया गया है। योगवासिष्ठ में वसिष्ठ जी ने अनेक स्थानों पर माया के स्थान पर 'अज्ञान' और 'अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने इस अविद्या शब्द के विषय में बताया है कि "इसे अविद्या इसीलिये कहते हैं कि ज्ञान होने पर यह विद्यमान नहीं रहती।"

आचार्य शंकर ने भी अनेक स्थलों में 'माया' के लिये 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया है। यथा—**"एक एव परमेश्वरः कूटस्थ नित्यो नामधातुः अविद्यया माययाविवदनेकधा विभाव्यते।"** तथा

अविद्यात्मिक हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्द निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामायी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिता शेरते संसारिणो जीवाः॥"

ऐसे स्थलों को देखकर प्रतीत होता है कि शंकराचार्य 'माया' तथा 'अविद्या' शब्दों को समानार्थक मानते हैं, किन्तु पंचदशीकार-विद्यारण्यस्वामी ने 'माया' तथा 'अविद्या' में भेद माना है—

"सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥"

इसके अनुसार 'माया' तथा 'अविद्या' का भेद सत्त्व की शुद्धि और अशुद्धि पर आधारित है। यही भेद ईश्वर तथा जीव के विभेद का कारण है। माया ईश्वर की उपाधि है, किन्तु जीव की उपाधि अविद्या है।

माया और अविद्या के इसी अन्तर के आधार पर ही परवर्ती विद्वानों ने उन्हें समानार्थक अथवा पर्यायवाची न मानकर भिन्न-भिन्न माना है। डॉ० देवराज लिखते हैं "अविद्या का सम्बन्ध ज्ञाता या विषयी से अधिक है और माया का ज्ञेय या विषय से, अविद्या बुद्धि का धर्म है और माया का स्वयं ब्रह्म से सम्बन्ध है।"

माया तथा अविद्या सम्बन्धी विभिन्न वर्णनों से यही स्पष्ट होता है कि ये दोनों एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, जिनमें प्रथम उत्कृष्ट है और द्वितीय निकृष्ट है। विद्यारण्य मुनि का तो विचार है कि ये दोनों ही प्रकृति तत्त्व के दो प्रकार हैं।

यद्यपि माया तथा अविद्या के विषय में विद्वानों में थोड़ा मतभेद रहा है, किन्तु यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो बहुत अंशों में ये शब्द समानार्थक हैं। जैसा कि डॉ० हरिदत्त ने अपने अनुवाद (शारीरिक भाष्य के अनुवाद) की भूमिका में लिखा है—

"Brahamana is associated a certaion power called Maya or Avidya to which the appearance of the entire world is due. This power cannot be called being (Sat) for being is only Brahmana not can it be called non-being (Asat) in the strict sense, for it at any rate produces the appearance of this world,"

इस विलक्षण अनिर्वचनीय माया की दो शक्तियाँ हैं—(१) आवरण तथा (२) विक्षेपशक्ति ।

आवरण शब्द का अर्थ है—किसी वस्तु के यथार्थ रूप को आच्छादित कर देना, किन्तु वस्तु के यथार्थ रूप को आच्छादित कर देने मात्र से ही उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, वरन् आच्छादित वस्तु में अवस्तु की प्रतीति कराना भी इसी माया का कार्य है। अपनी इन्हीं दोनों शक्तियों द्वारा वह इस जगत् की रचना में समर्थ होती है। प्रथम शक्ति आवरण के द्वारा वह ब्रह्म के यथार्थ सत्-चित्-आनन्दरूप को आच्छादित कर देती है, किन्तु ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के आच्छन्न मात्र होने से इस प्रपञ्च रूप जगत् की उत्पत्ति नहीं हो जाती है और न ही यह क्रिया जीव को भ्रमित करने के लिये पर्याप्त होती है। यथा—आवरण क्रिया के कारण रज्जु का यथार्थ रूप आच्छन्न होने से मनुष्य भयभीत नहीं होता, जब तक कि उस रज्जु के स्थान पर 'सर्परूप की उद्भावना नहीं हो जाती। यह 'सर्पत्व' उद्भावना का करना ही विक्षेपशक्ति का कार्य है। अपनी इसी विक्षेपशक्ति द्वारा ही माया ब्रह्म से आच्छादित स्वरूप में इस दृश्य जगत् का दर्शन कराती है। 'दृश्य विवेक' में माया का इन शक्तियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"शक्ति द्वयं हिमायया विक्षेपावृत्तिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं च जगत्सृजेत् ॥
अन्तर्जगद्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥"

इस प्रकार आवरण और विक्षेप ये दोनों ही माया की महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं।

माया और अविद्या के विषय में वेदान्तसार की भूमिका में कर्नल जेकब का कहना है—The word Maya is no where used by Shankar as a synonym of avidya, but is expressly said to be produced by it—and that in no sense what soever dose he regard it as the caus of the world.

कारण-कार्य सिद्धान्त

कारण-कार्य सिद्धान्त दर्शन शास्त्र का प्रमुख एवं विचारणीय सिद्धान्त है। इसी एक सिद्धान्त पर ही सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया निर्भर करती है। डॉ० राममूर्ति शर्मा ने इस कारण-कार्य सम्बन्ध के विषय में निम्नवत् प्रकाश डाला है—

"सृष्टि समस्या का सूक्ष्म चिन्तन ही रीत्यन्तर से कार्य-कारण सम्बन्ध का विचार है। इस समस्या का समाधान दुर्बोध्य बताया गया है।"

कारण और कार्य का सम्बन्ध शाश्वत है। बिना कारण के कार्य के अस्तित्व की कल्पना असम्भव है। वृक्ष को देखकर तत्काल ही उसके कारणरूप बीज का ज्ञान होता है। पुत्र को देखकर उसके जनक का विचार आता है। अतएव कारण और कार्य तो एक मुद्रा के दो पक्ष के समान अभिन्न हैं। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो कारणहीन हो और जो तत्त्व कारण हीन है—जैसे सांख्य की प्रकृति, पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म, ईश्वरादि तो वे अनित्यता की सीमा से परे हैं। यद्यपि यह तो निश्चय ही है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, किन्तु फिर भी कारण-कार्य के इस सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों में मत वैपरीत्य हैं।

जब किन्हीं दो वस्तुओं में आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और उनमें से एक वस्तु दूसरी वस्तु की उत्पत्ति का कारण भी होती है तो यह निश्चित है कि उस उत्पन्न हुई वस्तु में उत्पन्न करने वाली वस्तु के गुण अवश्य ही विद्यमान रहेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि कारण तथा कार्य का मूलभूत स्वभाव समान होगा, किन्तु कुछ दार्शनिक इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि कारण पृथक् वस्तु है और कार्य पृथक्। ये दोनों ही मत दर्शन में 'सत्कार्यवाद' तथा 'असत्कार्यवाद' विशेषणों से अभिहित किये जाते हैं।

सत् का अर्थ है 'विद्यमान'। अतः सत्कार्यवाद से तात्पर्य है कि 'कार्यरूप से पूर्व कारण में कार्य की विद्यमानता' तथा 'असत्कार्यवाद' का अर्थ है—"कार्य रूप से पहले कारण में कार्य की सत्ता का अभाव।"

सांख्य तथा वेदान्त कारण में कार्य को सत् स्वीकार करते हैं, किन्तु, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन उत्पत्ति से पूर्व कारण में कार्य की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। न्याय–वैशेषिक कारण को कार्य का पूर्वभावी किन्तु कारण से कार्य को पृथक

मानते हैं। उनका मत है कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से रहता है। निमित्त कारण की सहायता से कारण से एक नई वस्तु की उत्पत्ति होती है। वह मृत्पिण्ड तथा घट में अन्तर मानते हैं। उनका तर्क है—यदि कारण और कार्य अभिन्न हैं तो निमित्त कारण का कोई उपयोग नहीं रह जायगा। वे कारण को नित्य मानते हैं, किन्तु कार्य विनाशयुक्त हैं। उनके अनुसार नित्य परमाणुओं से अनित्य जगत् की उत्पत्ति होती है, क्योंकि परमाणु सदा रहने वाले हैं, किन्तु जगत् की उत्पत्ति तथा नाश दोनों हुआ करते हैं।

सत्कार्य के रूप—इस सत्कार्य के दो रूप हैं—(१) परिणामवाद तथा (२) विवर्तवाद।

परिणामवाद का अर्थ है जब कोई वस्तु अपने यथार्थ स्वरूप को त्यागकर अन्य स्वरूप को ग्रहण कर लेती है तो यह स्वरूप ग्रहण करना ही परिणाम कहलाता है। इस 'परिणाम' को विकार भी कहते हैं। क्योंकि यह परिणाम वस्तु का प्रथम रूप विकृत होने पर ही उत्पन्न होता है। यथा—दही दूध का परिणाम है। द्वितीय प्रकार विवर्तवाद। इसके अनुसार अपने स्वरूप का त्याग न करने पर भी, उसी वस्तु विशेष में अन्य किसी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना। विवर्तवाद के अनुसार एक ही वस्तु में किसी अन्य वस्तु की प्रतीति होना तात्त्विक नहीं है, क्योंकि प्रथम वस्तु अपना यथार्थ रूप का त्याग नहीं करती है, वरन् उस प्रथम रूप में ही कुछ काल विशेष के लिये अन्य रूप की प्रतीति होती है और कुछ क्षण उपरान्त भ्रान्ति नष्ट हो जाने पर वस्तु का यथार्थरूप दृष्टिगत हो जाता है। इस विवर्तवाद का सर्वोत्तम उदाहरण है—"रज्जु में सर्प की भ्रान्ति।"

वेदान्तसार में 'परिणामवाद' तथा 'विवर्तवाद' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"सतत्वतोन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्वतोन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥"

सत्कार्यवाद के इन दो रूपों में से प्रथम परिणामवाद तो सांख्य का सर्वप्रसिद्ध एवं प्रमुख सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त के ऊपर ही सांख्य का सर्वप्रसिद्ध एवं प्रमुख सिद्धान्त आधारित है। इसी सिद्धान्त के ऊपर ही सांख्य की अव्यक्त प्रकृति का अस्तित्त्व निर्भर है, किन्तु वेदान्त दर्शन को सांख्य का यह परिणाम-

वाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेदान्त भी असत्कार्यवाद का समर्थक है। यद्यपि वेदान्त को भी सत्कार्यवाद—("नासतोऽदृष्टत्वात्।") का सिद्धान्त ग्राह्य है, किन्तु कुछ परिवर्तित अर्थों में।

वेदान्तियों की दृष्टि में 'सत्' शब्द का अर्थ केवल वस्तु की पूर्व विद्यमानता रूप सत्ता ही नहीं वरन् उनका तात्पर्य त्रिकालबाधित वस्तु से है, जो सदैव एक सी अपरिवर्तित स्थिति में रहती है, तथा जिसे देश और काल की सीमा में विभक्त नहीं किया जा सकता है। वेदान्तियों में सत्कार्यवाद का मूलाधार वही सत् वस्तु है। सत् तत्त्व के विषय में पाश्चात्य लेखक इरविन एडमन का कथन है 'सत् समस्त पदार्थों में एक सर्वव्यापी ज्योति अथवा घट-घट व्यापी तत्त्व की भाँति अवगुण्ठित है। समस्त वस्तुयें जिसकी अर्धप्रकाशक और अर्धआच्छादक छायाएँ हैं, हिन्दू लोग हजारों वर्षों से ऐसे ही शब्दों का प्रयोग और कुछ इसी प्रकार की भावनाओं को व्यक्त करते चले आये हैं।"

वेदान्तियों के लिये सत्कार्यवाद का अर्थ केवल इतने ही तक सीमित नहीं है कि कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है अथवा नहीं। वरन् यह कार्य अपने कारण का तात्विक परिवर्तन है अथवा अतात्विक यह भी विचारना उनके लिये परमावश्यक है, इसीलिये उन्होंने 'सत्कार्यवाद' सिद्धान्त के अन्तर्गत 'विवर्तवाद' के सिद्धान्त को स्थापित किया है, जैसा कि 'दर्शनशास्त्र के इतिहास' के लेखक देवराज का कथन है—"दो विरोधी (सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद) सिद्धान्तों में एक भी कठिनाई से मुक्त नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि इन दोनों के विरोध और इन दोनों की असमंजसता ने वेदान्त के 'अनिर्वचनीयवाद' और 'विवर्तवाद' को जन्म दिया।"

वेदान्ती सांख्यमतावलम्बियों के समान कारण तथा कार्य में अभेद मानते हैं। उनका भी विश्वास है कि बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता है—
"यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्तत् उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्।"

जल से मक्खन नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि जिस वस्तु में जिस वस्तु-विशेष के तत्त्व निहित हैं, कार्यसाधक (निमित्त कारण) उस वस्तु से उसी वस्तु-विशेष को प्रकट करता है। किसी वस्तु को प्रकट करने में कार्यसाधक का इतना ही स्थान है।

वेदान्तमतानुसार कारण तथा कार्य एक ही वस्तु के दो रूपों को प्रकट करते हैं। जिस प्रकार लपेटे हुये वस्त्र तथा फैले हुये वस्त्र में कोई अन्तर नहीं है, दोनों वस्त्र एक ही हैं। अन्तर इतना है कि जब वस्त्र मुक्तावस्था में नहीं था तब उसके विस्तार का ज्ञान नहीं था किन्तु मुक्तावस्था में उसका विस्तार, चौड़ाई तथा लम्बाई का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। यह अन्तर अवस्था अथवा कालभेद का परिणाम है, किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में वस्त्र वस्तुतः वस्त्र ही रहता है—घट या अन्य कोई वस्त्र नहीं बन जाता है।

इसी प्रकार कारण तथा कार्य अवस्था—भेद तथा काल-भेद के कारण दो विभिन्न रूपों को धारण करते हैं, किन्तु उनका मूलभूत सत् तत्त्व तो सदा एक ही रहता है—यथा मृत्पिण्ड के बने घट, दीप एवं अन्य पात्र विभिन्न कार्य-रूपों को धारणकर विभिन्न उपाधियों वाले हो जाते हैं, किन्तु उन सब में कारण—मृत्पिण्ड ही सदा रहता है तथा घटादिक कार्य अव्यक्त रूप से अपने कारण 'मृत्तिका' में वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार वेदान्त तथा सांख्य दोनों ही कारण को कार्य का पूर्ववर्ती ही नहीं, वरन् कार्य का उत्पन्नकर्त्ता भी स्वीकार करते हैं।

ऊपर कहा गया है कि सांख्य 'परिणामवादी' तथा वेदान्त 'विवर्त्तवादी है। सांख्य के 'परिणामवाद' सिद्धान्तानुसार कारण का कार्य रूप में परिवर्तन यथार्थ है। सांख्य यह स्वीकार करता है कि प्रकट हुआ कार्य अव्यक्त रूप से कारण में निहित था, किन्तु वह उस प्रकट हुये कार्य के अस्तित्व अयथार्थ नहीं मानता। दूध के दही रूप में परिवर्तित हो जाने पर वह दही को वास्तविक सत्ता स्वीकार कर लेता है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में वह 'दही' है। उसे हम 'दूध' न कहकर 'दही' सम्बोधन प्रदान करते हैं, किन्तु वेदान्त मतानुसार 'दूध' का परिवर्तित 'दही' रूप अयथार्थ है। हम उसे 'दही' सम्बोधन तो प्रदान करते हैं, किन्तु वास्तव में वह तो 'दूध' ही है। अवस्था तथा काल-भेद वश उसको एक नई उपाधि प्रदान कर दी गई है।

वेदान्त में सत्ता की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—

(१) प्रातिभासिक सत्ता।

(२) व्यावहारिक सत्ता।

(३) पारमार्थिक सत्ता।

प्रथम सत्ता के अन्तर्गत क्षणिक अस्तित्व वाले विषय आते हैं। यथा स्वप्न या भ्रम में रज्जु में सर्प, अथवा शुक्ति में रजत् की सत्ता का दर्शन। प्रतीति-काल में तो इनका यह स्वरूप यथार्थ प्रतीत होता है किन्तु उत्तर काल में प्रातिभासित स्वरूप का बाध हो जाता है।

द्वितीय—व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत वाले विषय व्यवहार रूप से सत् प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन में उनकी सत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। किन्तु ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर इनका भी बाध हो जाता है। इस सत्ता के अन्तर्गत समस्त सांसारिक पदार्थ—घट-पट आदि आते हैं। प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता का अस्तित्व अधिक स्थायी है, किन्तु पूर्ण सत्य यह भी नहीं।

तृतीय है पारमार्थिक सत्ता। यह सत्ता पूर्णरूपेण सत्य है। किसी भी क्षण, किसी भी अवस्था में यह बाधित नहीं हो सकती। इस सत्ता के अन्तर्गत एकमात्र ब्रह्म आता है। वेदान्त में 'सत्' शब्द से तात्पर्य केवल त्रिकालाबाधित सत् ब्रह्म से है जिसे श्रुति में "अशब्दमस्पर्शरूपमव्ययम्" कहा गया है। वह सत् तत्त्व ब्रह्म किस प्रकार जगत् रूप में प्रकट होता है, यह वेदान्त में 'विवर्तवाद' द्वारा सिद्ध किया गया है।

वेदान्त को सत्कार्यवाद के द्वितीय रूप (विवर्तवाद) की स्थापना करने के लिये 'मायावाद' का आश्रय लेना पड़ा है। मायावाद के आधार पर वेदान्त के 'अद्वैतवाद' का अस्तित्व निर्भर करता है। वेदान्त में माया, अविद्या, अज्ञान तथा भ्रान्ति आदि के अर्थों में प्रयुक्त हुई है। 'अनिर्वचनीयत्व' इसका लक्षण बताया गया है। इसकी सत्ता व्यावहारिक है। इसकी दो विलक्षण शक्तियाँ हैं—(१) आवरण तथा (२) विक्षेपशक्ति।

माया की आवरण शक्ति के प्रभाव का वर्णन एक दृष्टान्त द्वारा 'हस्तामलकस्रोत' में इस प्रकार किया गया है—

"घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथामन्यते निष्प्रभंचातिमूढः। तथा बद्धवद्नाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिः स्वरूपोहमात्मा॥"

आवरण शक्ति द्वारा माया वस्तु के यथार्थ स्वरूप को आच्छादित कर देती है तथा 'विक्षेप' शक्ति की सहायता से उस आच्छादित रूप वाली वस्तु में अन्य

वस्तु को उद्भासित करती है, किन्तु यह उद्भास यथार्थ न होकर मिथ्या होता है। माया अपनी प्रथम शक्ति द्वारा 'रज्जु' के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करके द्वितीय विक्षेप शक्ति द्वारा आच्छादित रूप वाली 'रज्जु' में 'सर्पत्व' की मिथ्या प्रतीति कराती है। यह 'सर्पत्व' इसलिये मिथ्या है कि द्वीप के प्रकाश में यथार्थ रूप में 'रज्जु' दृष्टिगत हो जाती है। द्वीप का प्रकाश जीव के नेत्रों से भ्रान्ति का पर्दा हटा देता है। 'माया' का अन्य वस्तु में अन्य अयथार्थ वस्तु की प्रतीति कराने की क्रिया को अध्यास या विवर्त नाम प्रदान किया गया है। "अध्यासो नाम अतर्मिंस्तद्बुद्धिः ॥" इस विवर्त का आधार सारूप्य है।

कारण-कार्य शृङ्खला के सम्बन्ध में कम्पवेल का कथन है—"किसी भी विधान में कारण-कार्य सम्बन्ध का उपयोग इस विषय की स्वीकृत का सूचक है कि ज्ञान अपूर्ण है।"

यह उपर्युक्त कथन उचित है, क्योंकि विश्व की समस्त वस्तुयें अपूर्ण हैं। किसी एक पदार्थ या वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने से हम यह नहीं कह सकते कि हमें सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है, क्योंकि विश्व की प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य पर आश्रित है।

डॉ० राधाकृष्ण के शब्दों में—"अनुभूत पदार्थों में से कोई भी स्वनिर्णीत अथवा आत्मनिर्भर नहीं है। प्रत्येक विषय (पदार्थ) अपने से गुजर कर अन्य पदार्थ में परिणत होने की प्रवृत्ति रखता है।"

परिणत होने की प्रवृत्ति संकेत करती है कि प्रत्येक सीमित पदार्थ कारण तथा कार्य दोनों है। अतः यह सम्पूर्ण संसार कारण तथा कार्य के सिद्धान्त की ही स्पष्ट व्याख्या है। पाश्चात्य विद्वान् लेखक इरविन एडमन लिखते हैं—

"यह इतना ठोस प्रतीत होने वाला जगत् केवल देशकाल में स्थित पदार्थों का संघातमात्र है, जो कार्य-कारण सिद्धान्त का दूसरा नाम है और स्वयं बुद्धि का एक अपरिहार्य आकार है।"

कारण-कार्य शृङ्खला अति विस्तृत है। यह कारण-कार्य सम्बन्ध हमें बाध्य कर देता है कि उस एक कारण को खोजें जो समस्त कार्यों (विषयों) का कारण हो और अपने आप में पूर्ण हो। यदि ऐसे किसी कारण की खोज न की जाय तो कारण-कार्य सम्पूर्ण सिद्धान्त अव्यवस्थित तथा निरुद्देश्य हो जाता है,

अतः इस सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य है—कारण-कार्य सिद्धान्त पर आधारित इस जगत् के आदि कारण की गवेषणा। इस उद्देश्य के अनुसार वेदान्तियों ने जगत् का मूल कारण ब्रह्म' प्रस्तुत किया है—

"कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्च जगत् कारणं पर ब्रह्म।"

यह बहुचर्चित कारण दो प्रकार का है—

(१) निमित्त कारण तथा

(२) उपादान कारण।

निमित्त कारण वह है, जिसकी सहायता से कार्य की उत्पत्ति होती है और कार्य का जो तत्त्व कारण में रहता है वह उपादान कारण होता है यथा—तन्तु वस्त्र का उपादन कारण है तथा तुरी-वेमादि वस्त्र की उत्पत्ति में निमित्त-कारण बनते हैं।

वेदान्त दर्शन का अद्वैत प्रतिपादक प्रसिद्ध सिद्धान्त है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"। उसके अनुसार सब कुछ ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस दृश्यमान् जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही ब्रह्म हैं। वेदान्त में मकड़ी के उदाहरण के माध्यम से निर्विकारी ब्रह्म को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण सिद्ध किया गया है—

"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधान-तयोपादान च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतयां निमित्तं स्वशरीरं पधानतयोपादानं च भवति।"

जिस प्रकार अपने शरीर की प्रधानता के कारण मकड़ी अपने तन्तु रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है तथा अपने चैतन्यांश की प्रधानता के कारण निमित्त कारण। उसी प्रकार अवर्णनीय ब्रह्म अपनी प्रधानता से तो जगत् का निमित्त कारण बनता है तथा माया (अज्ञान) की प्रधानता से इस सृष्टि का उपादान कारण।

एक तथ्य विचारणीय है कि वेदान्त में जब ब्रह्म को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण बताया जाता है उस क्षण 'ब्रह्म' के लिये 'ईश्वर' सम्बोधन का प्रयोग किया जाता है। डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं—"......ज्योंही हम माया का सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़ने जाते हैं, ब्रह्म ईश्वर में परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है।"

वेदान्त के जगत् के मूल कारण ब्रह्म ईश्वर के विपरीत सांख्य का मूल कारण स्वतन्त्र रूप से एकमात्र 'अव्यक्त' प्रकृति है। वही जगत् का मूल उपादान तथा निमित्त कारण है। उसे सृष्टि कार्य में वेदान्त की 'माया' अथवा अन्य किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। 'चेतन' पुरुष के सकाश से वह स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का कारण बनती है। जगत् की सृष्टि तथा विलय में उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

ब्रह्म तथा प्रकृति पृथक्-पृथक् दर्शनों में जगत् के बीज कारण बनते हैं। एक के अनुसार ब्रह्म अपनी अधीनस्थ माया शक्ति के प्राधान्य से नाना-नामरूपात्मक स्थूल प्रपञ्चरूप जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है—पाश्चात्य विद्वान शॉपेनहावर का मत है—"स्वर्ग और पृथिवी की समस्त सामग्री एक आभास है।" यह प्रतिभास मिथ्या भ्रान्तिजन्य होता है। तथापि 'विविधता-रूप जगत् यथार्थ सत्ता तथा हमारे मध्य पर्दे का काम करता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति जगत् का मूल, कारण है। जगत् प्रकृति का विवर्त न होकर विकार है। यह विकार मिथ्या भ्रान्ति जन्य न होकर यथार्थ है। प्रकृति द्वारा विकास को प्राप्त सृष्टि 'पुरुष' के यथार्थ रूप को आच्छादित करके जीव को भ्रमित नहीं करती है, वरन् जीव के बन्धन और मोक्ष का साधन बनती है।

यदि सूक्ष्म रूप से परिणामवाद तथा विवर्तवाद पर विचार किया जाये तो ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों ही सत्कार्यवाद के दो रूप हैं, जिनमें दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल थोड़ा अन्तर है। यह अन्तर द्वैतवाद, अद्वैतवाद की सिद्धि के विचार से हुआ। वेदान्त के विवर्तवाद का आधार है सारूप्य और सांख्यीय परिणामवाद वैरूप्य पर आधारित है।

वेदान्त अद्वैतवादी समर्थक होने से विवर्तवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिये बाध्य है। विवर्तवाद के सिद्धान्त द्वारा ही वह अद्वैतवाद की दुरूहता को हल करने में समर्थ हो सका है, अन्यथा दो विरोधी सत्ताओं में अभेद की बात कंठ से नीचे नहीं उतर पाती प्रतिक्षण अपनी सत्ता की अनुभूति कराने वाले जगत् को मिथ्या तथा चर्मचक्षुओं से परे वाले ब्रह्म को एकमात्र 'सत्य' स्वीकार करना बिना विवर्तवाद के सिद्धान्त के विचित्र-सा लगता है, अतः यह कहना उचित ही है कि—

"इस विवर्तवाद में कई गुण हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय वचनों (सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, आदि) की संगत व्याख्या इस मत में हो जाती है। दूसरे सृष्टि का अधिक युक्ति संगत कारण यह बतलाता है।"

सृष्टि प्रक्रिया

जगत् के सम्बन्ध में एक विद्वान् का विचार है—"जगत् हितैषी अथवा द्वेषी या मौजी देवताओं की लीला नहीं है। इसका एक अपना विधान है जिसे मानव की बुद्धि समझ सकती है। वह विधान समस्त मानवीय विधान का मूल है तथा उसको प्रभावित एवं निर्धारित करता है।"

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश आदि से सम्बन्धित इस विधान की व्याख्या करना ही सृष्टि प्रक्रिया का उद्देश्य है। प्रत्येक दर्शन ने अपनी बौद्धिक सामर्थ्यानुसार इस जटिल प्रश्न पर विचार करने का प्रयास किया है। इसमें वेदान्त का प्रयास अन्य की अपेक्षा अधिक सराहनीय है। उन्होंने सृष्टि समस्या पर सूक्ष्म चिन्तन तथा गहन विमर्श द्वारा इस विश्व के निर्माण तथा विनाश का एक व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विधान प्रस्तुत किया है।

वेदान्त सम्मत सृष्टिप्रक्रिया—सृष्टि विकास के सम्बन्ध में वेदान्त ने कुछ पृथक् मार्ग अपनाया है। उसके अनुसार प्रतिक्षण परिणामी एवं सुव्यवस्थित व्यवस्था वाला जगत् अचेतन परमाणु अथवा जड़ प्रकृति का कार्य नहीं हो सकता। ऐसी सुचारु व्यवस्था तो किसी चेतन विवेकी द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, अतः वेदान्ती सांख्य मत के विपरीत सृष्टि का आधार एक मात्र चेतन 'ब्रह्म' बताते हैं—

"अस्य जगतो जन्मस्थितिभंगः यतः सर्वज्ञत् सर्वशक्ति—कारणात् भवति तद् ब्रह्म।"

जैसा कि कठोपनिषद् में इस जगत् की उपमा एक वृक्ष से देकर वृक्ष का मूल ऊपर तथा शाखायें अधोमुखी बताई गई हैं।

सृष्टि समस्या का समाधान कारण-कार्य-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदान्त 'ब्रह्म' को जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों ही बतलाता है। एक ही तत्त्व को उपादान तथा निमित्त कारण मानना यद्यपि व्यवहार विरुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्मरूपेण विचार करने पर इसमें कुछ

भी विरोध नहीं प्रतीत होता है। यथा "मकड़ी अपने शरीर के चेतनांश की प्रधानता से जाले का उपादान कारण तथा शरीर के प्राधान्य से निमित्त कारण बनती है। तथैव—मायोपाधिक ब्रह्म उपादान, कारण तथा निरुपाधिक अनुपहित ब्रह्म इस जगत् का निमित्त कारण है।

यह सृष्टि क्यों और कैसे हुई ? इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त में स्वभाव दिया गया है जिस प्रकार मनुष्य का श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया स्वाभाविक है तथाविध रूप से सृष्टि भी उत्पन्न तथा विनष्ट होती है।

श्रुतियों में भी सृष्टि-समस्या पर विचार करने पर इसे ईश्वर का ऐच्छिक एवं लीलापूर्वक किया हुआ कार्य बतलाया गया है। श्रुति कहती है कि उस ईश्वर ने संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ। तथा 'उसने ईक्षण किया कि मैं अनेक होऊँ' और फिर उस चेतन तत्त्व ब्रह्म (ईश्वर) से यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जैसे सत् पुरुष के शरीर से केश, लोम आदि उत्पन्न होते हैं।

इस कल्पना के आगे श्रुति सृष्टि का अन्य कोई हेतु नहीं देती है। मूल तत्व से इस जगत् की उत्पत्ति क्यों और कब हुई ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में डॉ॰ चटर्जी तथा दत्ता का कथन है—

"यहाँ युक्ति के स्थान पर कल्पना से ही काम लिया जाता है। उसे तर्क की कसौटी पर कसना उचित भी नहीं है।"

वेदान्त ने सृष्टि के रहस्य को स्पष्ट करने के लिये श्रुति की सहायता ली है बिना श्रुति की सहायता के केवल तर्क द्वारा सृष्टि के रहस्य को ज्ञात करना असम्भव है ?

वेदान्त के अनुसार सृष्टि का अथ किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति नहीं, अपि तु अव्यक्त का व्यक्त होना है। 'सृष्टि' शब्द का अर्थ है—'सर्ग' सृष्टि सदा सत्तावान् जगत् का नाम रूप व्याकरणमात्र है।

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामाख्ये व्याकरवाणि।"

वेदान्तियों ने एक मात्र सत् तत्त्व ब्रह्म को इस नामरूपात्मक जगत् का बीज कारण बताया है। ब्रह्म से ही समस्त भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। यही वेदान्त की मर्यादा है—

"परमाच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्त मर्यादा।"

नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अविकारी एक ब्रह्म इस नानारूपात्मक नित्य विकारी जगत् को उत्पन्न करने में कैसे समर्थ हो सकता है। ऐसा होने पर ब्रह्म उन समस्त दोषों से संस्पृष्ट होने लगेगा जो इस जगत् में हैं। उसके अनन्तता, निरवयवता, अखण्डता आदि विशेषण बाधित होने लगेंगे। किन्तु वेदान्त में इन समस्त समस्याओं का समाधान खोजा गया है—मायानाम्नी शक्ति में—

"एक एव परमेश्वरः कूटस्थ विज्ञानधातुरविद्यया, मायया मायाविवदने- कधा विभाव्यते।"

यह माया ब्रह्म की एक अति शक्तिशाली स्वाभाविक एवं अनिर्वचनीय शक्ति है। इसके द्वारा सृष्टि करने में वह समर्थ होता है और सांसारिक दोषों से भी अस्पृष्ट रह जाता है। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने इस जगत् की उत्पत्ति अपने द्वारा अवेष्टित प्रकृति द्वारा बताई है।

ब्रह्म की इस अनिर्वचनीय विलक्षण शक्ति की दो शक्तियाँ हैं—आवरण तथा विक्षेप।

आवरण शक्ति रज्जु के यथार्थ रूप को आच्छादित करती है तथा विक्षेप-शक्ति उस आच्छादित वस्तु में नवीन वस्तुओं की उद्भावना करती है। इस प्रकार वस्तु का यथार्थ रूप तो अपरिवर्तित रहता है, किन्तु उसी एक वस्तु में किसी परिवर्तन के बिना ही अन्य वस्तुओं का दर्शन होने लगता है। इन दर्शित होने वाली वस्तुओं का आधार वहीं अपरिवर्तित तत्व रहता है। वह अपरिवर्तित तत्त्व उद्भासित होने वाली वस्तु से अलग रहता है, किन्तु माया की शक्ति द्वारा उसका यथार्थ रूप आच्छादित कर दिया जाता है। अतः माया द्वारा उत्पन्न इस सृष्टि के विषय में यह कथन उचित ही है—

"कुछ लोग सोचते हैं कि सृष्टि उस 'ब्रह्म' की अभिव्यक्ति के लिये है। मेरा कहना है कि उसका प्रयोजन उसे छिपाना है और इसके अतिरिक्त यह और कुछ नहीं कर सकती है।"

अब यह प्रश्न उठता है कि 'माया' शक्ति के प्रभाववश एक ही ब्रह्म में नाना-रूप जगत् का दर्शन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्य शंकर ने अति सुन्दर दृष्टान्त द्वारा दिया है कि "तिमिर रोग के कारण नेत्र दीप्ति के नष्ट हो जाने पर जिस प्रकार द्रष्टा को एक चन्द्रमा के स्थान पर

अनेक चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार अविद्या द्वारा कल्पित नामरूपादि के रूप में ब्रह्म के विभिन्न परिणाम दृष्टिगत होते हैं।

इन नामरूपादि विकृतियों में यथार्थ सत्ता सदा अनुस्यूत रहती है। तीनों कालों में विश्व का कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसकी ब्रह्म से देश-काल गत पृथक् स्थिति हो किन्तु वह स्वयं समस्त विकारों से उसी प्रकार संस्पृष्ट नहीं होता जैसे जल में पड़ा सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की शीतोष्णता से अछूता रहता है।

सृष्टिक्रम—वेदान्त मत में सृष्टि का क्रमिक विकास स्वीकार किया गया है। यह क्रमिक विकास सूक्ष्मतम रूप से स्थूलतर रूप की दिशा में होता है। इस विकास परम्परा की तीन अवस्थायें हैं—(१) कारणावस्था, (२) सूक्ष्मावस्था तथा (३) स्थूलावस्था।

तमोगुणप्रधान माया की विशेष-शक्ति से उपहित हुआ 'ब्रह्म' ईश्वर की संज्ञा प्राप्त करता है। यह ईश्वर की सृष्टि का कारण है। इस उपहित ब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न होता है। आकाश एक अनन्त लघु सूक्ष्म तथा सर्वव्यापक और सर्वप्रथम उत्पन्न पदार्थ है। आकाश से क्रमशः स्थूलतर तत्वों का उद्भव होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होते हैं।

इन पाँचों तत्त्वों में अन्य परिवर्तित तत्त्वों की अपेक्षा स्थायित्व रहता है। वेदान्त ने सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपनिषदों का स्मरण किया है—

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशऽसंभूतऽआकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापापादेभ्यः पृथिवी।"

यद्यपि माया त्रिगुणात्मिका है तथापि आकाशादिक कार्य जड़ है, अतः इनके कारण में तमोगुण का प्राधान्य कहा गया है। ये पाँचों तत्त्व सूक्ष्म हैं। अतः वेदान्त में ये 'तन्मात्र' सूक्ष्मभूत अथवा अपंचीकृत भूत कहलाते हैं।

इन पाँचों के क्रमशः गुण इस प्रकार हैं—आकाश का गुण शब्द, वायु का गुण स्पर्श, अग्नि का उष्णता, जल का रस तथा गन्ध पृथिवी का गुण है। इन तत्त्वों में उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि होती जाती है। आकाश में एकमात्र गुण रहता है शब्द, किन्तु वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में अपने गुण उष्णता

के अतिरिक्त अपने पूर्व तत्त्वों के गुणों का भी समावेश रहता है। एवंविध जल में रस के अतिरिक्त तीन पूर्वगामी गुण तथा पृथिवी में गन्धसहित चार अन्य गुण भी रहते हैं।

इन पाँचों सूक्ष्मतन्मात्राओं से तो सूक्ष्म तत्त्वों का निर्माण होता है, किन्तु स्थूल सृष्टि के निर्माण के लिये वेदान्त में पञ्चीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया का आश्रय लिया गया है।

पञ्चीकरण प्रक्रिया—पञ्चीकरण अद्वैत वेदान्त की स्थूल सृष्टि निर्माण की विशिष्ट प्रक्रिया है। आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के संयोग से स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है। अतः स्थूल महाभूतों में प्रत्येक सूक्ष्म तन्मात्र के गुणों के अतिरिक्त अन्य तन्मात्राओं के भी गुण समाविष्ट रहते हैं।

पञ्चदशीकार ने पञ्चीकरण की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है—

"द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥"

इस क्रियानुसार सर्वप्रथम आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं को दो समान भागों में विभक्त किया। तत्पश्चात् पञ्चतन्मात्राओं के दश भागों में से प्रथम पाँच को छोड़कर अन्य पाँच भागों को पुनः चार-चार भागों में विभक्त किया गया। इस प्रकार प्रत्येक तन्मात्र के पाँच विभाग हो गये–एक अर्धांश तथा चार अष्टमांश। इन पाँच विभागों में प्रत्येक तन्मात्र में उस तन्मात्र के अपने अर्धांश के अतिरिक्त शेष चार तन्मात्राओं का सम्मिलन करने से प्रत्येक तन्मात्र पुनः पूर्ण हो जायेगी। अपने अर्धांश के साथ अन्य तन्मात्राओं का चतुर्थांश भी सम्मिलित रहने से अन्य तन्मात्राओं के गुणों का भी समावेश हो जाता है। यथा स्थूल आकाश में १/२ शब्दतन्मात्र + १/८ स्पर्शतन्मात्र + १/८ रूपतन्मात्र + १/८ रसतन्मात्र तथा १/८ गन्धतन्मात्र।

यद्यपि स्थूल महाभूतों में प्रत्येक तत्त्व निहित रहता है, किन्तु प्रत्येक महाभूत में अपना तत्व अधिक मात्रा में होने से उनके लिये पृथक्-पृथक् आकाश, वायु इत्यादि सम्बोधनों का व्यवहार होता है। इन्हीं पचीकृत भूतों से चौदह भुवन तथा उसमें वास करने वाले प्राणिवर्ग के स्थूल शरीरादि का निर्माण होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ—आकाशादि अपंचीकृत पञ्चतन्मात्रों के सात्विक अंशों से पृथक्-पृथक् क्रमानुसार श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं।

ये इन्द्रियाँ अति सूक्ष्म हैं। इनका निवास क्रमशः कर्ण, त्वक, नेत्र, रसना तथा नासिका में है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इनके विषय हैं। ये इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, किन्तु यदा-कदा आन्तरिक विषयों को भी ग्रहण करती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ—आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के राजस अंशों से व्यक्तिशः क्रम-बद्ध श्रेणी में वाक्, हस्त, पाद, वायु तथा उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती है। क्रिया के प्राधान्य से ये कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनके कार्य हैं क्रमशः—वाणी, आदान, गमन, मलोत्सर्ग तथा सन्तानोत्पत्ति।

ये समस्त इन्द्रियाँ भौतिक होने से अनित्य हैं।

पञ्चप्राण—आकाशादिक पञ्चतन्मात्राओं के सम्मिलित राजोऽशं से पञ्चप्राणों—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान की अभिव्यक्ति मानी गई है।

प्राण नासिका के अग्रभाग में रहता है। यह ऊर्ध्वगति वाला है। अपान का निवास स्थान वायु आदि है। इनकी गति नीचे की ओर होती है। व्यान का वास सम्पूर्ण शरीर में होने से इसकी गति चारों ओर है। उदान की स्थिति कण्ठ में है। **जीवात्मा को ऊपर ले जाना इसका कार्य है। समान का निवास स्थूल उदर है**। अतः पाचन-क्रिया में यह सहायक बनता है।

प्राण स्थूल शरीर की शक्ति है, वह न वायुरूप है और न इन्द्रियों का व्यापार। कौषीतकि उपनिषद् में प्राण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"अथ खलु प्राण एवं प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति।"

ये अणुरूप से समस्त शरीर में व्याप्त हैं। ये प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं है। उपनिषदों में 'प्राण' शब्द को ब्रह्म का वाचक बताया गया है।

मन और बुद्धि—अपंचीकृत आकाशादिक पञ्चतन्मात्राओं के सम्मिलित सात्त्विकांश से बुद्धि और मन का उद्भव होता है। ये दोनों अन्तःकरण वृत्तियाँ हैं। इन दोनों में क्रमशः चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव होता है। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है, मन संकल्प, विकल्पात्मक तथा चित्त अनुसन्धानात्मक।

ये दस इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह अवयवों का समूह मनुष्य का सूक्ष्म शरीर निर्मित करते हैं। यह योग का साधन हैं। इन अवयवों का पृथक्-पृथक् समूह 'कोष' कहलाता है। सूक्ष्म शरीर में मनोमय, प्राणमय, तथा विज्ञानमय, इन कोषत्रय से युक्त होने से इसमें ज्ञान, क्रिया तथा इच्छा तीनों शक्तियों का योग रहता है।

कोष—कोष पाँच हैं। ये आत्मा के आच्छादक हैं।

"कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्।"

कारणावस्था में मात्र 'आनन्दमयकोष' स्थित रहता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि का समूह विज्ञानमय कोष कहलाता है। इस कोष से आवृत्त हुआ चैतन्य ही जीव है। यही व्यावहारिक कार्यों का कर्त्ता है।

मन के साथ ज्ञानेन्द्रियों के संयुक्त होने पर, इसे 'मनोमय कोष' की संज्ञा प्राप्त होती है। यह कोष इच्छाशक्ति से युक्त होता है।

पञ्चप्राण सहित कर्मेन्द्रियों का सामूहिक रूप प्राणमय' कोष सम्बोधन से अभिहित होता है। इसमें क्रियाशीलता का प्राधान्य है।

स्थूल शरीर—सृष्टि का चरम विकास स्थूल शरीर है। स्थूल शरीरों का निर्माण आकाशादिक पंचीकृत स्थूल भूतों से होता है। यह शरीर ही व्यावहारिक रूप से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। जीवात्मा इसी शरीर के माध्यम से कर्म तथा उसके फल का उपभोग भी करता है।

स्थूल शरीर चार प्रकार के होते हैं—(१) जरायुज्ञ (२) अण्डज (३) स्वेदज तथा (४) उद्भिज्ज।

मनुष्य, पशु आदि के शरीर जरायुज; पक्षी, सर्पादि अण्डज; स्वेद आदि से उत्पन्न होने वाले जूँ, कीट, आदि स्वेदज; तथा वृक्ष, लतादि उद्भिज्ज के अन्तर्गत आते हैं। इन चारों में मनुष्य योनि उत्कृष्ट है। मनुष्य को चिन्तन, बोध तथा संकल्प शक्ति का वरदान मिला है। "ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प स्वातंत्र्य द्वारा उस उत्थान, पतन, उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट के चुनाव की आजादी दे दी है।" मनुष्य प्रयत्न करके उन्नत कर्मों के प्रतिपादन से उच्चतर जीवन भी प्राप्त कर सकता है और निम्नकोटिक त्याज्य दुष्ट कर्मों के संपादन से निम्नतर योनियों में भी गमन कर सकता है। उद्भिज्ज वर्ग जीवात्मा के दुष्ट कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाली भोगयोनि हैं।

प्रमाण—किसी भी कथन की सत्यता का आधार प्रमाण है। दर्शन की भाषा में प्रमा का करण प्रमाण कहलाता है। प्रमा से तात्पर्य है—'यथार्थ ज्ञान'। प्रमा की सिद्धि तीन घटकों पर निर्भर है-प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण।

'प्रमाता वह है जो ज्ञान को प्राप्त करता है। जो विषय ज्ञात किया जाता है, वह 'प्रमेय' है। इस प्रमेय की प्राप्ति की प्रक्रिया 'प्रमाण' है। लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु की सिद्धि असम्भव है। अतः प्रमेय की सिद्धि हेतु प्रमाणों का वर्णन सभी दर्शनों का इष्ट है। प्रमाण की सत्यासत्यरूपी कसौटी पर परीक्षित ज्ञान ही विश्वस्त होता है।

प्रमाणों की संख्या बहुविध है। दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में स्वीकृत इनकी संख्याओं में परस्पर भेद हैं।

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाक्, बौद्धा वैशेषिकाद्वयम्।
सांख्या योगस्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम्॥
पंच प्रमाकरा, भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्चषट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै॥"

वेदान्त सम्मत प्रमाण—वेदान्त दर्शन में ज्ञान सम्बन्धी धारणा पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है—पारमार्थिक तथा तार्किक दृष्टिकोण से।

पारमार्थिक दृष्टिकोण से पूर्णसत्य, नित्य और अबाधित ज्ञान एकमात्र ब्रह्म है। उससे अतिरिक्त जगतादिक भावनायें मिथ्या हैं। मार्मिक दृष्टि से वेदान्त में प्रमाण—प्रमेय आदि सभी व्यवहार मिथ्या हैं। किन्तु वेदान्त में व्यावहारिक दृष्टि से संसार तथा सांसारिक वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः उनकी सिद्धि हेतु वेदान्त में भी अन्य दर्शनों के समान प्रमाणों का आश्रय लिया गया है। वेदान्त-स्वीकृत प्रमाण छः हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि।

प्रत्यक्ष प्रमाण—प्रत्यक्ष प्रमा का कारण प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमा वस्तु से इन्द्रिय-सन्निकर्ष का परिणाम होता है। प्रत्यक्ष प्रक्रिया में सर्वप्रथम घटादि वस्तु के साथ ज्ञानेन्द्रिय का सम्पर्क होता है। घटादि वस्तु के साथ चक्षु आदि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा अन्तःकरण उस घटादि पदार्थ तक जाता है और तद्वस्तु आकार में परिणत हो जाता है यह परिणति 'वृत्ति' कहलाती

है। यह अन्तःकरण वृत्ति स्वयं चिदाभास से आभासित होती है, अतः वस्तु के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण वृत्ति पहले चित्तवृत्ति द्वारा वस्तु विषयक अज्ञान को नष्ट करती है। तद्-उपरान्त अपने में प्रतिबिम्बित चिद् द्वारा वस्तु के स्वरूप को उसी प्रकार प्रकाशित करती है जैसे दीप प्रभा मण्डल अंधकार में स्थित घटादि के कारणभूत अंधकार का विनाश तथा घटादि को स्वप्रकाश से आलोकित भी करता है। जड़ पदार्थ के प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया में चिद्वृत्ति के व्यापार का उल्लेख पञ्चदशी में इस प्रकार किया गया है—

"बुद्धितस्थचिदाभासो द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राधानं धिया नश्येदाभासेन घटे स्फुरेत॥"

वेदान्त मतानुसार हमारा प्रत्यक्ष वृत्त्याश्रित होता है। प्रमाता की वृत्ति जिस वस्तु विषयक आकार को धारण करती है। प्रमाता की तद्वस्तुविषयक ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। डॉ॰ राधाकृष्णन् के अनुसार—

"यह वृत्ति सूर्य की किरण के समान एक निश्चित् दूरी तक ही जाती है। यही कारण है कि दूरस्थ पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता है।"

प्रत्यक्ष ज्ञान की यह प्रक्रिया जड़ पदार्थों के सम्बन्ध में है। 'ब्रह्म' साक्षात्कार हेतु इस प्रक्रिया में आंशिक अन्तर है। यह अन्तर चेतनात्मक है। घटादिविषय अचेतन होने से उन्हें भासित करने का कार्य भी चिद्वृत्ति को करना पड़ता है, किन्तु ब्रह्म के स्वयं चेतन ज्योतिस्वरूप होने से ब्रह्मसाक्षात्कार में चिद्वृत्ति ही सक्रिय होती है। चिद्वृत्ति द्वारा ब्रह्मगत अज्ञान नष्ट हो जाने पर स्वयं प्रकाश ब्रह्म स्वयमेव प्रकाशित हो जाता है।

वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष को विभिन्न दृष्टिकोणों से विभाजित किया है। सर्वप्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर प्रत्यक्ष के दो भेद कहे गये हैं—इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रियाजन्य।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वस्तु के साथ सन्निकर्ष होने से उत्पन्न ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष है। इस कोटि में घटपटादि खड् पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष आता है।

इन्द्रिय अजन्य प्रत्यक्ष की कोटि में सुख-दुःख आदि को प्रत्यक्ष माना गया है। सुख-दुःखादि घटपटादिवत् बाह्य पदार्थ नहीं वरन् अन्तःकरण के धर्म हैं।

वेदान्तदर्शन में मन का इन्द्रियत्व अस्वीकृत होने से सुख-दुःखादिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय अजन्य हैं।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप से भी प्रत्यक्ष द्विविध कहा गया है—

"तच्चप्रत्यक्षं द्विविधम्। सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्।"

घटादि वस्तु का उसके नामरूप गुणादि विशेषण सहित होने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक ज्ञान में विशेष्य (घटादिपदार्थ) के नाम रूप गुणादि का निश्चय करने वाले विशेषण का बोध नहीं होता है।

ज्ञाता के आधार पर यह प्रत्यक्ष पुनः जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी भेद से दो प्रकार का है—

"तच्चप्रत्यक्षं पुनर्द्विविधं जीवसाक्षि ईश्वरसाक्षि चेति।"

अन्तःकरणोपाधियुक्त चैतन्य जीवसाक्षी है। जीवसाक्षी चैतन्य प्रत्येक आत्मा में पृथक्-पृथक् होने से अनेक हैं। अन्तःकरण के स्थान पर मायोपाधि से युक्त चैतन्य 'ईश्वर' साक्षी चैतन्य कहलाता है। 'माया' एक ही है, अतः 'ईश्वर' साक्षी चैतन्य भी एक है।

अनुमान—अनुमिति प्रमा का करण 'अनुमान प्रमाण' है। अनुमान प्रमाण का हेतु व्याप्तिज्ञान है। 'व्याप्ति' दो पदार्थों साध्य तथा साधन के मध्य दृष्टगत होने वाला निरन्तर साहचर्य है। किन्हीं दो पदार्थों में निरन्तर साहचर्य का दर्शन तथा किसी भी क्षण व्यभिचार का दर्शन न होने से 'व्याप्ति' का निश्चय होता है।

"सा च व्यभिचारदर्शनसति सहचारदर्शनेन गृह्यते।"

जैसे धूम और अग्नि का निरन्तर साहचर्य और धूम के साथ अग्नि का व्यभिचार अदर्शन से 'यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः' इस व्याप्ति का ग्रहण होता है। इस व्याप्ति द्वारा ही 'पर्वत में धूम देखकर पर्वत वह्निमान्' है इसका अनुमान होता है। यह अनुमान नैय्यायिकों के तृतीय लिंगपरामर्शानुसारी नहीं है वरन् व्याप्ति ज्ञान का संसार अवान्तर व्यापार रूप से है।

वेदान्त मत से अनुमान प्रमाण में अन्वयरूप व्याप्ति को स्वीकार किया गया है। नैय्यायिक स्वीकृत व्यतिरेक तथा अन्वय व्यतिरेक व्याप्तियों को नहीं। व्यतिरेक व्याप्ति साध्य का अभाव ही सिद्ध करती है, भाव नहीं। अतः वहाँ इसकी व्यर्थता मानी गई है।

स्वार्थ और परार्थरूप अनुमान के भेद को वेदान्त ने स्वीकार किया है—

"तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम् ।"

उपर्युक्त वर्णित अनुमान की प्रक्रिया स्वार्थानुमान की है। किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं ही साध्य-साधन रूप धूम और अग्नि के सहचार दर्शन द्वारा व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत प्रदेश में स्थित 'धूम' को देखकर 'यह पर्वत वह्निमान है' इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किया जाना स्वार्थानुमान है।

परार्थानुमान में व्यक्ति स्वयं अनुमान करके अन्य किसी को उसका ज्ञान कराने के लिये अवयव वाक्यों का प्रयोग करता है। वेदान्तियों को न्याय के पाँच अवयवों में से तीन अवयव ही ग्राह्य हैं। तीन अवयवों में ही व्याप्ति और पक्षधर्मता, का उचित ज्ञान मानते हैं। यथा-पर्वत वह्निमान है' (प्रतिज्ञा) क्योंकि वहाँ धूम है' (हेतु) 'जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि होती है जैसे महानस (उदाहरण)।

वेदान्ती इस अनुमान के आश्रय से ब्रह्म भिन्न समस्त प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि इस प्रकार करते हैं—'ब्रह्म भिन्न सर्व मिथ्या है' (प्रतिज्ञा), "ब्रह्म भिन्न होने से" (हेतु) "जो ब्रह्म भिन्न होता है, वह मिथ्या होता है जैसे शुक्ति.रूप्य (उदाहरण)।"

उपमान—वेदान्तियों ने सादृश्य प्रमा के करण (असाधारण कारण) को 'उपमान' कहा है—

तत्रसादृश्यप्रमाकरणमुपमानम् ।"

और इसे एक स्वतन्त्र प्रमाण माना है। उपमान का हेतु सादृश्य है। पूर्वदृष्ट किसी वस्तु के सादृश्य से अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया उपमान है। उपमान सम्बन्धी यह परिकल्पना नैय्यायिकों के समान है किन्तु उपमिति सम्बन्धी विचार में आंशिक भेद है। वेदान्तियों ने भी उपमान का स्पष्टीकरण पूर्ववर्णित 'गो' तथा वाक्य गवय' के सादृश्य ज्ञान के दृष्टान्त द्वारा किया है।

'गोसदृश गवय होता है' ऐसा ज्ञान प्राप्त व्यक्ति अन्यत्र 'गवय' का दर्शन होने पर 'गो साधर्म्य रूप' पूर्व ज्ञान के उद्बोधन में 'यह प्राणी गवय है' ऐसा निर्धारण करता है तथा पुनः प्रत्यक्षीकृत 'गवय' के साधर्म्य से 'पूर्वदृष्ट गो ऐसी ही थी' ऐसा यथार्थ ज्ञान 'उपमिति' प्राप्त करता है, किन्तु नैय्यायिक 'गो' सादृश्य ज्ञान के

आधार पर 'गवय' का ज्ञान ही उपमान का फल स्वीकार करते हैं। प्रत्यक्षीकृत गव्य के साधर्म्य से पूर्व दृष्ट गौ के सादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा असम्भव है, क्योंकि उस समय इन्द्रिय सन्निकर्ष का विषय 'गवय' होता है, 'गो' नहीं और यह ज्ञान गवय निष्ठ गोसादृश्य और गोनिष्ठगवय सादृश्य में व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव होने से अनुमान प्रमाण द्वारा ही साध्य नहीं है।

आगम प्रमाण—वेदान्त दर्शन में आगम अथवा शब्द प्रमाण का अत्यधिक महत्त्व है। यह ज्ञान का स्वतन्त्र साधन रूप में स्वीकृत है। पारमार्थिक दृष्टि से वेदान्त का एकमात्र प्रमेय 'ब्रह्म' है और ब्रह्म का ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान का विषय नहीं है, अपितु ब्रह्म के ज्ञान पर एकमात्र समर्थ प्रमाण आगम ही है। वेदान्त मतानुसार वह वाक्य प्रमाण है, जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता है। वाक्य से विशेष तात्पर्यार्थ प्रस्तुत करने में आकांक्षा, योग्यता आसक्ति (सन्निधि) और तात्पर्यज्ञान–चार सहायक होते हैं।

वेदान्तियों ने भी पौरुषेय और अपौरुषेय शब्दों में भेद किया है। पौरुषेय लौकिक तथा अपौरुषेय वैदिक वाक्य हैं। वेद एवं श्रुतिवचन अपौरुषेय वैदिक वाक्य हैं। वेद एवं श्रुतिवचन अपौरुषेय शब्द प्रमाण की कोटि में आते हैं। वेदान्त में श्रुतिवचनों तथा वेदवाक्यों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, क्योंकि श्रुतिसाधारण साधनों के द्वारा आप्य असाधारण ज्ञान को हमें प्रदान करती हैं—

"प्रत्यक्षादि प्रमाणानुपलब्धे हि विषये श्रुतेः प्रामाण्यं न यत्यक्षादि विषये।"

किन्तु प्रत्यक्षादि विषयों में इनकी अनुपयुक्तता है। वेदान्तियो ने स्थान-स्थान पर अपने कथनों का, ज्ञान का समर्थन हेतु वेद तथा श्रुति वाक्यों का आश्रय लिया है, क्योंकि श्रुति के गुरुतर प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। शंकराचार्य का कथन है कि श्रुति प्रदीप के समान सत्य का प्रकाशन करती है।

वेदान्तियों को वेद का स्वतः प्रामाण्य स्वीकृत है। वेद सूर्य के प्रकाश के समान स्वतः सिद्ध है। स्मृति, पुराण, इतिहास आदि की प्रामाणिकता भी वेदाश्रित है। वेद यद्यपि नित्य ज्ञान हैं, किन्तु इनके मन्त्र नित्य नहीं हैं, ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में वेद-मन्त्रों का उच्चारण करता है। ये वेद-मन्त्र

विभिन्न ऋषियों द्वारा दृष्ट होते हैं रचित नहीं। अतः इनका अपौरुषेयत्व सिद्ध है। श्रुति स्वतः एक असीमित अथाह ज्ञान का सागर है। डॉ॰ राधाकृष्णन् श्रुति के महत्त्व के विषय में कहते हैं—"श्रुति को मानने का तात्पर्य है सन्तों तथा ऋषियों की साक्षी को स्वीकार करना। श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है।"

अर्थापत्ति—वेदान्त दर्शन में अर्थापत्ति पृथक् प्रमाण रूप में स्वीकृत है। प्रत्यक्ष में कार्य तथा कारण में दिखाई देने वाले विरोध का परिहार करके कार्य के संगत एक अन्य कारण की कल्पना करना ही 'अर्थापत्ति' है। वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार 'उपपाद्य' (कार्य) के ज्ञान से उपपादक (कारण) की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है। दिन में भोजन न करने वाले व्यक्ति के शरीर का पुष्टत्व रात्रि में भोजन किये बिना असम्भव है। इसमें उपपाद्य शरीर का पुष्टत्व की कल्पना उपपादक रात्रि-भोजन द्वारा ही की जाती है।

वेदान्तियों द्वारा अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करने का उद्देश्य इसकी विशिष्टता है। दृष्ट परस्पर विरोधी कार्य तथा कारण द्वारा संगत अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति के बिना दुष्कर है, क्योंकि व्यक्ति का रात्रि-भोजन प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और व्याप्ति अभाव में अनुमान साध्य भी नहीं है। नैय्यायिभिमत व्यतिरेक अनुमान का अन्तर्भाव वेदान्ती अर्थापत्ति में करते हैं। अर्थापत्ति के दो भेद हैं—(१) दृष्टार्थापत्ति तथा (२) श्रुत्वार्थापत्ति।

"सा चार्थापत्तिर्द्विविधा-दृष्टार्थापत्ति: श्रुतार्थापत्तिश्चेति।"

दृष्टार्थापत्ति का विषय दृष्ट होता हैं। रजत् के समान दृष्ट पदार्थ को समीप से देखकर व्यक्ति को ज्ञान होता है कि 'यह रजत् नहीं है'। यह निषेध ज्ञान उस पदार्थ में रजत् के सत् होने पर सम्भव नहीं है, अतः दृष्टार्थापत्ति से उस रजत् में मिथ्यात्व की कल्पना द्वारा निषेध सम्भव होता है।

श्रुतार्थापत्ति में सुने हुये वाक्य में मुख्यार्थ की संगति के लिये अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है। जीवित व्यक्ति के 'घर में न होने' कथन के अर्थ की सिद्धि हेतु उसके घर से बाहर होने की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति है।

अनुपलब्धि—वेदान्त-मत में अभाव की सिद्धि अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा मान्य है। अनुपलब्धि किसी वस्तु का प्राप्त न होना है। अभाव प्रमा ज्ञान

कारण जन्य न होने से इसका प्रत्यक्ष ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा ही सम्भव है। पूर्वोक्त पाँचों प्रमाण भाव पदार्थों का ही ज्ञान कराने में समर्थ हैं। भूतल के घटाभाव का इन्द्रिय सन्निकर्ष न हो सकने से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साध्य नहीं है।

व्याप्ति सम्बन्ध के अभाव में यह अनुमान द्वारा ही ग्राह्य नहीं है। आप्त वाक्य अथवा सादृश्य ज्ञान न होने से घटाभाव का ज्ञान शब्द प्रमाण अथवा उपमान की कोटि में भी नहीं आता है।

वेदान्ती पदार्थाभाव (घटादि) के ज्ञान में हेतु अनुपलब्धि को नहीं वरन् 'योग्यानुपलब्धि' को मानते हैं। योग्यानुपलब्धि प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष न होना है। प्रत्यक्षयोग्य (इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य) घटपटादि के अभाव का ज्ञान ही अनुपलब्धि द्वारा सम्भव है, अतीन्द्रिय पदार्थ पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि का अभाव अनुपलब्धि द्वारा ग्राह्य नहीं।

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।

"स चाभावश्चतुर्विधः-प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति।"

इनमें उत्पत्ति से पूर्व कारणभूत मृतपिण्ड में कार्यभूत घटादि का अभाव प्रागभाव है। घटनिर्माणोपरान्त मुग्दर आदि से घट के नष्ट हो जाने पर मृत्पिण्ड में होने वाला घटाभाव प्रध्वंस अभाव है। किसी अधिकरण में वस्तु का कालत्रय में रहने वाला अभाव 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है। यथा—वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है। किसी एक वस्तु में उससे भिन्न अन्य वस्तु का अभाव अन्योन्याभाव है। जैसे घट में पट या अन्य किसी सत्ता का अभाव।

अन्तिम अन्योन्याभाव—सोपाधिक तथा निरुपाधिक रूप से दो प्रकार का है। सोपाधिक भेद की प्रतीति का कारण उपाधि है। आकाश एक है फिर भी घट, मठ आदि उपाधि से घटाकाश तथा मठाकाश सम्बोधन दिये जाते हैं।

द्वितीय भेद में उपाधि का कोई स्थान नहीं। जैसे घट में पट का अभाव।

मोक्ष

दर्शन जगत् का अन्तिम लक्ष्य है—क्लेशों से निवृत्ति। इस निवृत्ति का दार्शनिक सम्बोधन 'मोक्ष' है 'मोक्ष' शब्द संस्कृत की 'मुच्' धातु से त्यागना

अर्थ में निर्मित हुआ है। अतः सामान्यतः मोक्ष का अर्थ मृत्यु से लिया जाता है। मृत्यु के माध्यम से ही इस भौतिक शरीर का त्याग हो जाता है और शरीर के विनाश के साथ ही सुख-दुःखादि की अनुभूति भी नष्ट हो जाती है। साधारण प्राणी इस अवस्था को ही मोक्षावस्था मानने लगता है, किन्तु दर्शन-जगत् में मोक्ष मृत्यु से नितान्त पृथक् परम शान्ति और आनन्द की दिव्य अवस्था का नाम है। यदि मृत्यु स्वयं मोक्ष है अथवा मुक्ति का साधन होती तो विश्व का प्रत्येक प्राणी मुक्त हो गया होता। आत्मा को पुनर्जन्म के बन्धन में बंधना न पड़ता किन्तु मृत्यु तो स्वतः वस्तुतः सांसारिक क्रिया-कलाप शृङ्खला का मध्यान्तर है। वह अल्पावधि के लिये स्वतंत्रता का आभास है, उसके उपरान्त जन्म लेना सृष्टि का शाश्वत नियम है।

मोक्ष एक ऐसी स्थिति है जिसमें केवल सांसारिक दुःखों का ही नहीं वरन् जन्म-मृत्यु शृङ्खला का ही अन्त हो जाता है। एक भौतिक शरीर के विनाशोपरान्त अन्य नवीन शरीर को धारण करना मोक्ष नहीं है और न विनाश ही मोक्ष है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में—"मोक्ष एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का विषय है जो अनन्तकाल से विद्यमान है, यद्यपि वह हमारे दृष्टि के क्षेत्र से परे है।"

मानव जीवन असंख्य कष्टों एवं दुःखों की माया है। नाना रूप एवं कष्टों से पूर्ण एवं आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त करना ही प्रत्येक जीवधारी का मार्ग प्रशस्त दर्शन द्वारा हुआ है। पाश्चात्य विचारक इरविन एडमन का कथन है—

"मनुष्य के समस्त दुःखों का उपचार करने के लिये किसी पारस पत्थर को खोज निकालने की उनकी कामना रही है, किन्तु आदान पारस-पत्थर नहीं वरन् दार्शनिक दृष्टिकोण है।"

प्रत्येक दर्शन में सैद्धान्तिक विभेद के परिणामस्वरूप मोक्ष-सम्बन्धी धारणा तथा मोक्ष-प्राप्ति के साधन में भी किञ्चित् मात्र ही अन्तर है।

वेदान्त में मोक्ष की धारणा—वेदान्त दर्शन मोक्ष को जीवन का अन्तिम महत्त्वपूर्ण परम पुरुषार्थ मानता है। मोक्ष अलौकिक सुख और दिव्य शान्ति की विलक्षण अवस्था है। आचार्य शंकर ने मोक्ष का स्वरूप निरूपण इस प्रकार

किया है—"**इदं तु निरवयं स्वयं ज्योतिः स्वभावं यत्र धर्माधर्मो सहकार्येण कालत्रयं च नोपवर्तते तदेतदयं शरीरत्वं मोक्षाख्यम् ।**"

शंकर द्वारा वर्णित मोक्ष की यह दशा वस्तुतः ब्रह्म का ही वर्णन है । मोक्ष ब्रह्म स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है—

"**ब्रह्मैवहि मुक्त्यवस्था ।**"

मोक्ष की स्थिति में आत्मा से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है—

"**आत्मन्येवाविद्यानिवृत्तिः ।**"

और मुक्तात्मा अपना यथार्थ स्वरूप प्राप्त कर लेता है—

"**शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते ।**"

पद्माचार्य के शब्दों में 'मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है ।'

"**मिथ्या निवृत्तिमात्रम् मोक्षः ।**"

मोक्ष निषेधात्मक नहीं है । यदि मोक्ष का वर्णन कहीं निषेधात्मक रूप से किया गया है तो इसका उद्देश्य यही है कि ब्रह्म के समान ही मोक्ष में भौतिकता का परिहार किया जाय । चित् सुखाचार्य के शब्दों में 'मोक्ष अनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिः है । यह अनवच्छिन्न आनन्द अज्ञान के विनाश होने पर ही व्यक्त होता है । अज्ञान के विनष्ट होते ही आत्मा और ब्रह्म का पार्थक्य भी समाप्त हो जाता है, किन्तु इससे आत्मा का परमात्मा में विलय नहीं मान लेना चाहिये । मुक्ति तो आत्मा का ब्रह्म के साथ अपृथक् तादात्म्यभाव है । ब्रह्म के शून्य न होने से मोक्ष को भी शून्य नहीं माना जा सकता है । डॉ० रामानन्द तिवारी के शब्दों में—

"यह नहीं कहा जा सकता कि मोक्ष एक "अतल" शून्यगर्त में हमारी सत्ता का विलय है । मोक्ष हमारी व्यक्तिगत सत्ता का एक अवैयक्तिक सत्ता में विलय नहीं है, वरन् आध्यात्मिक अन्तता में इसका विकास है जो इसका अन्ततम सत्य है ।"

मोक्ष एक मनोवृत्ति मात्र है, किन्तु यह मनोवृत्ति निराशाजन्य एवं विनाशकारी नहीं है । मुक्ति वस्तुओं के स्वरूप को नष्ट नहीं करती है जैसे अग्नि द्वारा घी का कड़ापन नष्ट हो जाता है । मोक्ष वस्तुओं का स्वरूप परिवर्तन नहीं करता है । यह तो मात्र जीवात्मा के दृष्टिकोण में परिवर्तन है । डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार—

"यह एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि है जो जगत् के चित्र को ही बदल देती है। सब वस्तुओं का नए सिरे से निर्माण करती है किन्तु यह निर्माण मुक्तात्मा के दृष्टिकोण से सम्बन्धित होता है न कि वस्तुओं के रूप से सम्बन्धित मुक्तात्मा के लिये अविद्या निष्क्रिय हो जाने से मिथ्या सुख-दुःखादि भी व्यर्थ हो जाते हैं। प्रपंचरूप जगत् उसे भ्रमित नहीं करता, किन्तु जगत् का अस्तित्व पूर्ववत् बना रहता है। यदि ऐसा न होता तो एक व्यक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त किये जाने पर सम्पूर्ण जगत् विनष्ट हो जाता—

"एकै न चामुदिक्तेन पृथिव्यादि प्रविलयः
कृत इतोदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगत् अभविष्यत्।"

मुक्ति स्वर्गादि की सुखद कल्पना नहीं, वरन् नित्य तथा व्यावहारिक सत्य है। यह कोई ऐसी असत्य वस्तु नहीं जिसे अपने से अन्यत्र कहीं प्राप्त किया जा सके। यह तो कंठ में पड़े हुये उस हार के समान है जिसे व्यक्ति भ्रमवश अपने से अन्यत्र खोजता है तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ज्ञान करा दिये जाने पर वह उसे अपने कंठ में ही प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार जीवात्मा अज्ञानवश अपने स्वरूप को विस्मृत कर अन्यत्र आनन्द की खोज करता है—किन्तु आप्तकाम अथवा गुरु द्वारा उसका अज्ञानावरण हटाकर उसे 'तत्त्वमसि' का उपदेश प्राप्त होने पर उसे अपने यथार्थ स्वरूप 'आनन्दमय ब्रह्म' का साक्षात्कार हो जाता है। यह आनन्द ही मोक्ष है। रेवरेण्ड सी० सी० का कथन है—

"हम बहुत मेहनत कर आनन्द की तलाश करते हैं, पर वह हमें प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि हम उसे ऐसी जगह खोजते हैं जहाँ वह है ही नहीं। एन्थनी में प्रेम में ब्रूट्स ने यज्ञ में, सीजर ने साम्राज्यवृद्धि में आनन्द ढूंढा था पर मिला वह किसी को नहीं।"

मोक्ष सर्वदा अपरिवर्तनशील, क्षय, विकार, तथा भेदबुद्धिरहित अवस्था है। यह मृत्युपरान्त लभ्य नहीं है। अपितु मुमुक्षु वर्तमान जीवन में ही ज्ञान के प्रकाश द्वारा स्वशरीरमुक्ति की अनुभूति कर सकता है। मुक्तात्मा किसी प्रकार से बाह्य परिवर्तन से रहित यथावत् समस्त सांसारिक कर्मों का निर्वाह अनात्यवत-भाव से करता हुआ सशरीर इसी पृथ्वी में स्थित रहता है। उसकी समस्त क्रिया लोककल्याण हेतु होती है। जीव मुक्त प्रारब्धकर्मों के परिणामस्वरूप शरीर

धारण करता है और शरीर क्षय होने पर उसे पूर्ण विदेह मुक्ति मिल जाती है। तत्त्व ज्ञान द्वारा उसके संचित तथा संचीयमान कर्मों का क्षय हो जाने से उसके पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती। तथापि यदि कुछ मुक्तात्माओं द्वारा लोक में पुनरागमन तथा शरीर धारण किया जाता है तो इसका कारण लोक-कल्याण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ऐसी आत्माओं का जीवन तथा सम्पूर्ण कर्म निष्काम कर्मयोग की साधना है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्ति व्यक्तिसाध्य प्रक्रिया है। प्रत्येक व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी हो सकता है, किन्तु अधिकार होने के लिये कतिपय विशिष्टताओं से युक्त होना तथा वेदान्त सम्मत साधना मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है। मोक्षोपयोगी तत्व ज्ञान हेतु वेदान्त में श्रुति, गुरु (केवलशास्त्राचार्योपदेश-गम्यम्) तथा नैतिक मनुष्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है (श्रुति ही सर्वप्रथम मुमुक्षु को ब्रह्म के प्रारम्भिक स्वरूप का ज्ञान करा देती है। गुरु उसे विभिन्न उपदेशों तथा तर्कों द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार मार्ग का दर्शन कराता है। इस मार्ग का अनुसरण करके ही मुमुक्षु को 'तत्त्वमसि' महावाक्य के यथार्थ अर्थ की प्रतीति होती है और अन्त में निरन्तर चिन्तन, मनन आदि के द्वारा अहमस्मि की दिव्यानुभूति करता है।

मोक्षोपलब्धि ज्ञान द्वारा सम्भव है। शुभाशुभ कर्म तथा उनके फल क्षयशील तथा अनित्य होने से नित्य अक्षय मोक्ष की उपलब्धि कराने में असमर्थ हैं।

"कर्मकार्यस्यानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके आरभ्यस्यानित्यत्वात्।"

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वेदान्त अकर्मण्यता का उपदेश करता है। वह काम्य कर्मों की तो उपेक्षा करता है, किन्तु निष्काम भाव से किये गये श्रेष्ठ नतिक कर्मों को अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक मानता है—

"ब्रह्मविद्यायां एवं फलायां काम्यैक देशवर्जितं'
कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन विनियुज्यते।"

श्रेष्ठ कर्म किसी भी व्यक्ति को निरन्तर उत्कृष्टता को प्राप्त कराते हुये उसे क्रमिक मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है। निश्चेष्टता अथवा निष्क्रियता से मुक्ति ग्राह्य नहीं। अतः वेदान्त पर निष्क्रियता का आरोप नहीं लगाया जा सकता है जैसा कि प्रो० हिरियन्ना का कथन है—

"नैष्कर्म्य कर्म का त्याग नहीं वरन् कर्म में त्याग है।"

—व्यष्टि एवं समष्टिगत चैतन्य—

विकास

व्यष्टि (आत्मा)	समष्टि (ब्रह्म)
१. जीव अर्थात् प्राज्ञ—माया की मलिन सत्व उपाधि वाला। व्यष्टि अज्ञान का अवभासक। अहंकार आदि का कारण। आनन्दमय कोष। सुषुप्ति अवस्था। तुरीय चैतन्य।	१. ईश्वर—माया की सत्वोपाधि वाला। अज्ञान की समष्टि का अवभासक। जगत् का कारण। आनन्दमय कोष। सुषुप्ति अवस्था।
२. तैजस—सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि। विज्ञान, मन तथा प्राणमय कोष। स्वप्न अवस्था।	२. हिरण्यगर्भ अर्थात् सूत्रात्मा—सूक्ष्मशरीरसमष्टि। विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय कोषों वाला। स्वप्नावस्था।
३. विश्व—स्थूल शरीर की व्यष्टि। अन्नमय कोष। जाग्रत् अवस्था।	३. वैश्वानर अर्थात् विराट्—स्थूल शरीरों की समष्टि। अन्नमय कोष। जाग्रत् अवस्था।

वेदान्तसारः

१. अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥

अन्वय—अखण्डं, सच्चिदानन्दम् अवाङ्मनसगोचरम् अखिलाधारम् आत्मानम् अभीष्टसिद्धये आश्रये ।

शब्दार्थ—**अखण्डम्** = सजातीय तथा विजातीय और अपनेपन के भेदभाव से रहित, अर्थात् केवल एक सम्पूर्ण, अद्वितीय । "**अवाङ्मनसगोचरम्** = वाणी तथा मन से परे, अर्थात् वाणी तथा मन से न जाना जा सकने वाला । **अखिलाधारम्** = आकाशादि पाँच महाभूतों का आधार, अर्थात् सृष्टि, पालन, नाश का कारण, **अभीष्टसिद्धये** = निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए ।

अनुवाद—**(मैं सदानन्द) आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिये अथवा ग्रन्थ की समाप्ति के लिये सर्वदा वर्तमान, चेतन एवं आनन्द स्वरूप, वाणी और मन की पहुँच से परे, सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमरूप प्रपञ्च के आधारभूत, अखण्ड परमात्मा का आश्रय ग्रहण करता हूँ ।**

विद्योत्तमा—१. आत्मा–यहाँ पर आत्मा परमात्मन् के अर्थ में आया है । आत्मा का प्रयोग वेदान्तसार में जीव-आत्मन् के लिये भी आया है, जो वस्तुतः ब्रह्म के साथ तादात्म्य रखता है ।

२. **अखिलाधारम्**—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्तिरीय उपनिषद्) वह, जिससे यह सभी पदार्थ (प्राणी आदि) विकसित हुये हैं, उत्पन्न हुये हैं । वस्तुतः यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है । अखिल का अर्थ है प्रपञ्च का और आधार का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण है । ब्रह्मसूत्र का 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र इसी अर्थ का बोधक है ।

३. **अभीष्टसिद्धये**—लेखक की विशिष्ट कामना की पूर्ति के लिये अर्थात् शास्त्र सम्मत वेदान्तविषय के निरूपण के लिये । रामतीर्थ ने अभीष्ट से तीन

प्रकार की अर्थ निवृत्ति मानी है (१) शास्त्रीय अर्थ का बोध न होना (२) अन्यथा बोध होना (३) विरुद्ध बोध होना।

४. **ब्रह्म (आत्मा)**—मुण्डक उपनिषद् में यह कथा है—सुनक के पुत्र अङ्गिरस ऋषि के पास पहुँचे और उनसे नम्रता से पूछा वह कौनसी वस्तु है जिनके जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जायेगा। ऋषि अङ्गिरस ने उत्तर दिया—'ब्रह्म'। वेदान्त दर्शन और उपनिषद् कहते हैं कि यही भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य है। आगे के दार्शनिकों ने प्राचीनों के इस तथ्य को लेकर अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं और वेदान्त दर्शन में तो पाँच सम्प्रदाय विकसित हुये हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण हिन्दू आस्तिक मस्तिष्क एवं जीवन को प्रभावित किया है।

५. **सत्**—वेदान्त दर्शन में तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार की गई हैं—(क) पारमार्थिक (ख) व्यावहारिक तथा (ग) प्रातिभासिक। ब्रह्म पारमार्थिक सत्ता है, व्यावहारिक सत्ता में ईश्वर, जीवात्मन, स्वर्ग नरक और सम्पूर्ण सृष्टि आती है। ये सब अज्ञान से कल्पित हैं और स्वप्न से अधिक 'स्थायित्व नहीं रखते किन्तु मनुष्य व्यवहार में उन्हें वास्तविक अस्तित्त्व वाला मानकर चलता है, अतः वह परम्परया एवं व्यवहारेण अस्तित्त्व वाले माने जाते हैं। प्रातिभासिक सत्ता आभासमात्र होती है जैसे सीपी में रजत का आभास और रस्सी में सर्प का। यह आभास अज्ञान के कारण होता है। यह सारा सत्ताओं का सिद्धान्त जगत् का निराकरण और ब्रह्म की व्याख्या करने के लिये प्रस्तुत हुआ है। इसे कहाँ तक सफलता मिली है, हम कह नहीं सकते।

६. **चित् अथवा चैतन्य**—यह ब्रह्म का प्रचलित प्रतीक है, पर 'चित्' शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में ज्ञान के लिये भी आया है, किन्तु शङ्कर के अनुसार चित् बुद्धि का अर्थ नहीं रखता। वह निरपेक्षता और सत्यता से सम्बद्ध है।

'The knowledge of the absolute spirit. like the light of the sun or like the heat in fire, nought else than the absolute essence itself,' G. A. Jecob.

माण्डूक्य उपनिषद् में भी ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन है।

७. **आनन्द**—सांख्य प्रवचनभाष्य में पूछा गया है कि क्या आत्मा आनन्द है ? उत्तर में कहा गया है कि आत्मा को किसी प्रकार आनन्द कह सकते हैं।

८. **अखण्डम्**—नृसिंह सरस्वती ने अखण्डम् को समझाने में उदाहरण दिया है—जैसे—एक वृक्ष है उसमें स्वगत विविधतायें हैं जैसे, पत्तियाँ, फूल, फल। साथ ही वह कुछ ऐसी भी वस्तुयें रखता है जो दूसरे वृक्षों में भी हैं, साथ ही वह कुछ ऐसी वस्तुयें भी रखता है जो अन्य पदार्थों जैसे पाषाण आदि में हैं किन्तु ब्रह्म ऐसा नहीं है वह निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील है, वह यथार्थ सत् है। छान्दोग्य उपनिषद् में आया है सदेवसोम्यइदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्' । विद्यारण्य ने भी पञ्चदशी में वृक्ष के उदाहरण से ब्रह्म को अखण्ड अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगतभेदशून्य कहा है। अनेक स्थानों पर वेदान्त के ग्रन्थों में ब्रह्म की अखण्डता की बोधक उक्तियाँ आई हैं। जिनमें ऐक्य, अवधारण तथा द्वैत नषध से त्रिविध भेद का निराकरण किया गया है। कहीं भी श्रुतियों में सत् वस्तु के अवयवों का वर्णन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सत् का विजातीय असत् होता है अर्थात् जिसकी सत्ता न हो तथा जिसमें सत्ता न हुई उसमें भेद भी न होगा। सत् का सजातीय कोई सत् ही हो सकता है, किन्तु श्रुति स्पष्ट रूप से सत् के विलक्षण वस्तु का निषेध करती है। रामतीर्थ आदि कुछ टीकाकारों ने अखण्ड शब्द का पर्याय अनन्त कहा है। जैसा कि विद्यारण्य भी कहते हैं—

न व्यापित्वात् देशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः ।
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानत्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥ (पञ्चदशी)

उपनिषत् में उस अखण्ड की लौकिक शब्दों से अभिव्यक्ति की गई है जो वस्तुतः अनिर्वचनीय है—

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

९. **सच्चिदानन्दम्**—अनेक शंकाओं का निराकरण करने के लिये ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द कहा गया है, क्योंकि अखण्ड, अनृत और शून्य भी हो सकता है, इसलिये ब्रह्म का सत् विशेषण दिया गया है, क्योंकि जगत् की

सृष्टि निराधार नहीं हो सकती है। अतएव ब्रह्म को सत् कहा गया है, वह अनृत एवं शून्य नहीं है। इससे बौद्धों का शून्यवाद खण्डित हो जाता है। चित् कहने से ब्रह्म को अन्धकार के समान जड़ता का निराकरण होता है अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है चैतन्य उसका गुण नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' ज्ञान और ब्रह्म का समानाधिकरण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म सर्वगुणराहित्य का विस्तार के साथ प्रतिपादन हुआ है, वहाँ कहा गया है ज्ञान नित्य होता है और वह त्रिकालाबाधित सत्य होता है। साथ ही, ब्रह्म आनन्द है, सुखरूप है, यदि वह सुखरूप न होता तो विचारशील लोगों की प्रवृत्ति भी उस ओर न होती। ब्रह्म की आनन्द-रूपता को सिद्ध करने वाली श्रुतियों में अनेक उक्तियाँ है—जैसे बृहदारण्यक कहता है—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' तैत्तिरियोपनिषत् कहता है—'आनन्दो ब्रह्मेति। मुण्डक उपनिषत् कहता है—'आनन्दरूपं अमृतं यद्विभाति।'

१०. **अवाङ्मनसगोचरम्**—अनेक श्रुतियों में आत्मा के वाणी और मन का तथा इन्द्रियों का विषय न होने का प्रतिपादन किया गया है जैसे तैत्तिरीय २।९, केन १।३, माण्डूक्य ७, कठ—'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। इसी प्रकार केन १।४, ५ और कठ २।२।१५, मुण्डक २।२।१० में आत्मा को बुद्धि, मन, प्राण और इन्द्रियों से अगम्य प्रतिपादित किया गया है।

विद्वन्मनोरञ्जनी

स्वामीरामतीर्थकृता टीका

ॐ सकल ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकाचार्येभ्यो नमः।

सत्यं ज्ञानमनन्तं परिपूर्णानन्द विग्रहं रामम्।
प्रत्यञ्चमनृतविश्वसृष्टिस्थित्यप्ययं वन्दे ॥ १ ॥

वागीकाय मनोभिः श्रीगुरुविद्यागुरून्नमस्कृत्य।
वेदान्तसार टीकां कुर्वे श्रद्धावशाद्यथाबुद्धि ॥ २ ॥

[१] चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्याविघ्नपरिसमाप्तिप्रचयगमनशिष्टाचारपरिपालन-फलं विशिष्ट शिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं स्वाभिमत

देवतातत्वानुसन्धानात्मकं मङ्गलमाचरत्यखण्डेत्यादि श्लोकेन। आत्मानमाश्रय इत्यन्वयः। यद्यपि ग्रन्थकरणादि कार्यारम्भे गणेशसरस्वत्यादि देवता भेदं विघ्न-विघातविद्यास्फूर्तिप्रदत्वेन प्रसिद्धमनुसन्धानं कुर्वन्ति शिष्टास्तथापि "एष उह्येव सर्वे देवा" (बृह० १।४।६) इति श्रुतेरात्मन एव सर्वदेवतात्मकत्वावगमादात्मानुसन्धाने सति सर्वदेवतानुसन्धानं सम्भवतीति मन्यते ग्रन्थकारः। आत्मानं विशुद्धचिद्रूपं त्वम्पदलक्ष्यं तुरीयमाश्रये शास्त्राचार्यप्रसादाभिव्यक्तमनुसन्दधे। अस्यात्मनस्तत्पदलक्ष्य परमात्मानन्यत्वं वाक्यार्थं कथयितुं तत्पदार्थं शोधयति **अखण्ड सच्चिदानन्दं** इति। "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्रह्म सू० ३।३।११) इति न्यायेन "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० २।१।१) "विज्ञानमानन्दंब्रह्म" (बृह० ३।३।२८) इति श्रुत्योः परस्परैकवाक्यतामभिप्रेत्याखण्डेत्यादिभिरानन्दपदस्य समासः। अखण्डशब्दोऽनन्तपदपर्यायः। स चाविद्याध्यस्तदेशकालवस्तुभ्यः परमात्मनः परिच्छेदं व्यावर्तयत्येव नञ्पदयोगात्। तदुक्तम् (तैत्ति० वार्तिक)—

"तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्" इति।

इतराणि तु पदानि स्वार्थापरित्यागेनैव स्वविरोध्यर्थव्यावृत्तं ब्रह्मलक्षयन्ति। तदुक्तम्—

"स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम्" इति।

परिशिष्टौ सत्यज्ञानशब्दावित्यर्थः। अखण्डमपि तदनृतं शून्यं वा स्यादित्यत आह **सत्** इति। सदनृतशून्यव्यावृत्तं बाधाभावोपलक्षितस्वरूपसत्तात्मकमिति यावत्। ब्रह्मणोऽप्यनृतत्वे निरधिष्ठानारोपप्रसङ्गात्। शून्यस्य ससाक्षिकत्वे तु सर्वशून्यवादानुपपत्तेरसाक्षिकत्वे तदसिद्धे स्वप्रकाशत्वे च ब्रह्मण एव नामान्तरत्वापत्तेर्न ब्रह्मानृतं शून्यं वेत्यर्थः। अखण्डं सदपि तत्तमोवज्जडं किं न स्यादित्यत आह **चित्** इति। चिज्ज्ञानं ज्ञप्तिरिति पर्यायः। श्रुतौ (तैत्ति०) ज्ञानं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्याद्गुणत्वे तस्य तदनुपपत्तेः। न च शुक्लोघट इतिवत्तत्स्यादिति वाच्यं निर्धर्मकत्वप्रतिपादकास्थूलादिश्रुति विरोधात्। किञ्चज्ञानस्य नित्यत्वेऽग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्चब्रह्मस्वभावानतिरेकात्। अनागमापायिधर्मस्य धर्मिणः परमार्थतो भिन्नत्वे प्रमाणाभावात् अनित्यत्वे ज्ञानानवस्थाप्रसङ्गात्। कार्यस्य सतो ज्ञानस्यापि कार्यान्तरवत्स्वोपादानगोचरापरोक्ष ज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानोपादान-

ब्रह्मगोचरस्यापि ज्ञानस्य कार्यत्वे तस्यापि पूर्वसमानयोगक्षेमतया कथं नानवस्था। अजन्यत्वे प्रथमे कः प्रद्वेषः। तया च सिद्धा ब्रह्मणो ज्ञानस्वभावता। एतेन जीवात्मनोऽविज्ञानस्वभावता व्याख्याता वेदितव्या। स्वप्रकाशं चैतद्ब्रह्मैष्टव्यम- प्रकाशजडविलक्षणत्वनिर्देशसामर्थ्यात्। "तदेव ज्योतिषां ज्योतिः" (बृह० ४।४।१६) "तस्य भाषा भासा सर्वमिदं विभाति" (कठो० ५।१५) इत्यादिश्रुतेः। नन्वेवमखण्डसच्चिद्रूपमपि ब्रह्म न प्रेक्षावत्प्रेत्सागोचरं सुखदुःखाभावतत्साधना- नामन्यतमत्वाभावात्। न तावत्स्वसुखदुःखाभाव साधनं ब्रह्म स्वस्मिन्सुख- दुःखयोर्नित्यनिवृत्तत्वात् "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इति श्रुतेः (छान्दो०)। नाप्यन्यगतसुखादिसाधनं ब्रह्म। अन्येषां दृष्टादृष्टसुखदुःखप्राप्ति- परिहारयोर्लौकिकवैदिकसाधनेभ्य एव सिद्धेः। तस्मान्न सुखादिसाधनं ब्रह्म। नापि दुःखाभावरूपं भावात्मस्वभावताविरोधात्। नापि सुखात्मकं तथात्वे प्रमाणाभावादित्यत आह **आनन्दं** इति। आनन्दं सुखरूपम्। न च ब्रह्मण आनन्दात्मत्वे प्रमाणाभावः "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० ३।९।२८) "आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्" (तैत्ति० ३।६।१) "आनन्दरूपममृतं यद्विभाति" (मुण्ड० २।२।७) "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति० २।७।१) इत्यादिश्रुतेः प्रमाणत्वात्। न चानन्दब्रह्मणोर्धर्मधर्मिताशङ्काप्यवकाशं लभते श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात्। न च ब्रह्मण ईश्वरस्य सुखित्वंपरैरपीष्यतेऽत आनन्दो विद्यतेऽस्मिन्नित्यानन्दं ब्रह्मेति परेषां श्रुतिव्याख्यानमुपहासास्पदमेव। न च ब्रह्मण्यानन्दशब्दो दुःखाभावपरः "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ति० ३।६।१) इति भावरूपब्रह्मसामानाधिकरण्यनिर्देशविरोधात्। न च प्रियास्पर्शि- त्वश्रुतिविरोधस्तस्याः (छान्दो० ८।१२।१) श्रुतेर्वैषयिकप्रीतिनिषेधपरत्वादिति भावः। यद्यप्यात्मपदमेवेह शेषिपदं तथापि श्रुत्युपरोधात् पदार्थशोधनार्थतया च ब्रह्मपदमध्याहृत्य विशेष्यं बोद्धव्यम्। एवं सत्यखण्डं सच्चिदानन्दं ब्रह्मात्मानमाश्रय- इति ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वम्पदार्थयोरैक्यवाक्यार्थोऽब्रह्मत्वपारोक्ष्य- निवृत्त्या परिपूर्णतया निरूपितः स्यान्नान्यथा। एतेषां च पदानां ब्रह्मपदेन प्रत्येकं प्रथममन्वितानां पश्चात्सामानाधिकरण्येन परस्परमपि सम्बन्धसिद्धिः। "अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवैकहायन्या सोम क्रीणाति" (तैत्ति० संहि० ६।१,७,२) इत्यत्र क्रयवाचिपदान्वितानामरुणादिपदानामिव परस्परान्वयः। न चैकार्थत्वे सत्यादिपदानां

पर्यायतापत्तिरयौगपद्यं चेति वाच्यं प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद्व्यावर्त्यभेदाच्चोक्तदोषानवतारात्। एवमन्योऽपि वाक्यविचारोपयोगी न्याय ऊहनीयो विस्तरभयान्नेह लिख्यते। एवं विधिमुखेन परिच्छिन्नानृतजडदुःखरूपानात्मतद्धर्मविलक्षणं ब्रह्मेति निरूप्येदानीं "नेति, नेति" (बृह० २।३।६) "अस्थूलं" (बृह० ३।८।८) "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० २।४।१) इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य निषेधमुखेन सकलनिषेधावधिभूतं सत्यस्य सत्यं ब्रह्मेति दर्शयति **अवाङ्मनसगोचरं** इति। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे तयोर्गोचरो वाङ्मनसगोचरो न वाङ्मनसगोचरोऽवाङ्मनसगोचरस्तदिति विग्रहः। "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा" (कठ० ६।१२) "अस्तीत्येवोपलब्धव्य" (कठ० ६।१३) इति च काठकश्रुतेः। एवं विधिनिषेधाभ्यां ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमभिधाय लक्षितं स्वरूपं तटस्थलक्षणेन सम्भावयति **अखिलाधारम्** इति। अखिलस्याकाशादिप्रपञ्चस्याधार आश्रयस्तदिति विग्रहः। आश्रयशब्दः सृष्टिप्रलययोरप्युपलक्षणार्थः। तथा च श्रुतिः "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति" इति (तैत्ति० ३।१।१)। ततश्च जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। अत इदं फलितम्। सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यमिति। आत्मपदादेव त्वम्पदार्थशुद्धिः। "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" (बृह० १।४।७) इति श्रुतावात्मशब्दस्य निर्विशेषप्रत्यक्चैतन्यमात्रनिष्ठताया निर्धारितत्वात्। तथा च ब्रह्मात्मपदयोः सामानाधिकरण्यादैक्यवाक्यार्थसिद्धिरित्युक्तं तदेव वाक्यार्थभूतमात्मानमाश्रये। किमर्थम्। **अभीष्टसिद्धये**। अभीष्टं शास्त्रार्थप्रतिपत्त्यन्यथाप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिनिरासलक्षणं यथाशास्त्रमर्थसंग्रहसामर्थ्यलक्षणं च। तस्य सिद्धिः सम्पत्तिस्तस्यै तदर्थमित्यर्थः॥ १॥

---

२. अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति॥

अन्वय—अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपि, अद्वयानन्दान् गुरून् आराध्य यथामति वेदान्तसारं वक्ष्ये। (२)

शब्दार्थ—**अतीतद्वैतभानतः** = द्वैत भावना से दूर हो जाने से अर्थात् आत्मा का दर्शन हो जाने से। **अर्थतः** = अर्थ की दृष्टि से। **अद्वयानन्दान्** =

अद्वयानन्द नामक । **आराध्य** = आराधना करके । **यथामति** = अपनी बुद्धि के अनुसार । **वक्ष्ये** = वर्णन करूँगा ।

अनुवाद—(मैं) समस्त भेदभाव से शून्य होने के कारण यथार्थतः अभेदानन्दयुक्त अद्वयानन्द नामक गुरु की आराधना करके यथाबुद्धि वेदान्त-सार को कहूँगा ।

विद्योत्तमा—१. अद्वयानन्द—सदानन्द योगीन्द्र अपने गुरु अद्वयानन्द तथा ब्रह्म दोनों को प्रस्तुत पद्य में प्रणाम करता है । उनके गुरु यथार्थनामा अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्व में आनन्द पाने वाले थे उनका द्वैतमान निरस्त हो चुका है और वे परम सत्ता का साक्षात् करके सार्थक नाम हो गये हैं । अद्वयानन्द शब्द गुरु और ब्रह्म दोनों को संकेत करता है ।

२. अतीतद्वैतभानतः—विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने व्याख्या की है—दूर हो गया है द्वैत जिससे वह हुवा अतीत द्वैत (प्रत्यगात्मा) । उसका भान अर्थात् साक्षात्कार, अतीतं द्वैतं यस्मात् तत् अतीतद्वैतं प्रत्यात्म तत्त्वं, तस्य भानम् साक्षात्कारः तस्मात् अतीतद्वैतभानतः ।' किन्तु सुबोधिनीकार ने इस प्रकार की व्याख्या की है—'अतीतं गतं द्वैतभानं यतः तस्मात् निरस्तसमस्तभेदज्ञानत्वात् इत्यर्थः ।' अर्थात् समस्त भेद ज्ञान से परे होने से । वस्तुतः द्वैतप्रतीति से छुटकारा पा जाना ही आनन्द प्राप्त करना है । श्रुति कहती है—'तत्र कः मोहः, कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः ।'

सदानन्द के गुरु जीवन्मुक्त हो गये हैं—जीवन्मुक्त की दो दशायें होती हैं—(१) जहाँ सांसारिक द्वैतप्रतीति—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—अद्वैत में विलीन हो जाते हैं । (२) जहाँ बाह्य भेद इन्द्रियों से प्रतीत तो होते हैं, पर उनसे अद्वैत में बाधा नहीं पड़ती ।

३. यथामति—वेदोपनिषत् से प्रमाणित एवं निःसृत वेदान्तशास्त्र का जो अत्यन्त गम्भीर विषय है, उसे सीमित शक्ति रखने वाले मनुष्य के द्वारा विवेचित होना असम्भव है, अतः ग्रन्थकार कहता है कि मैं अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या में प्रवृत्त होऊँगा । जैसे—'अपि महति जलार्णवे निमग्नाः, सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ।'

[२] एवं शास्त्रप्रतिपाद्यपरदेवतातत्वानुस्मरलक्षणं मङ्गलं विधायेदानीं "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" ( ) इत्यादिशास्त्राद्देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्याङ्गत्व प्रतीतेः 'देवमिवाचार्यमुपासीत इत्यादि स्मृतेश्च (आपस्त० सू० १।६।१३) गुर्वाराधनोक्तिपूर्वकं स्वचिकीर्षितं प्रतिजानीते **अर्थत** इति श्लोकेन । वेदान्तो वक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य सारो मथितार्थस्तं वक्ष्ये । तच्च यथामति स्वमत्यनुसारेण । अनन्तशाखाप्रविततस्यातिगम्भीरार्थस्य वेदान्तस्यार्वाग्बुद्धिभिरपरिच्छेदात् । तदुक्तमभियुक्तैः—

"गुरुचरणसरोज सन्निधाना—
दपि वयमस्य गु णैकलेशभाजः ।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः
सलिलमुपाददते मितं हि मीनाः ॥" इति (संक्षेपशारीरक)

एतच्च गर्वपरिहारोक्तिवचनं न पुनर्वादिभयनिमित्तं यथाशास्त्रमर्थसङ्ग्रहादित्यर्थः । किंकृत्वा । **गुरूनाराध्य** । भक्तिश्रद्धातिशयस्तुतिनमस्कारादिना देवमिव पूजयित्वा । गुरूनित्येकस्मिन्बहुवचनं पूजार्थम् । किंनामानो गुरव इत्यपेक्षायां स्वस्य साम्प्रदायिकत्वज्ञापनाय तान्नामतो निर्दिशति अद्वयानन्दानिति । नाम्नो डित्थादिवत्संज्ञामात्रत्वं व्यावर्तयति अर्थत इति । अपिशब्दः शब्दार्थयोः समुच्चयार्थः । न केवलं शब्दतः किन्त्वर्थतोऽपीति तत्र हेतुः **अतीतद्वैतभानत** इति । अतीतं द्वैतं यस्मात्तदतीतद्वैतं प्रत्यगात्मतत्वं तस्य भानं साक्षात्कारस्तस्मादतीतद्वैतभानतः । अतीतद्वैतभावत इति पाठे तत्त्वज्ञानविध्वस्तनिखिलभेदब्रह्मात्मत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

---

३. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिकसूत्रादीनि च ॥

अनुवाद—उपनिषदों को प्रमाणस्वरूप मानकर चलने वाला शास्त्र वेदान्त है तथा तदनुसारी (उपनिषदों का अनुसरण करने वाले) शारीरक (ब्रह्म) सूत्र (भी) वेदान्त हैं ।

विद्योत्तमा—१. वेदान्त—'वेदान्त' शब्द की 'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः' इस वृत्ति के अनुसार वेदों का अन्त (अन्तिम भाग उपनिषत्) है। वेदान्त कई अर्थों में उपयुक्त है—

(क) वेदशब्दवाच्य संहिता-ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में इसकी रचना सबसे अन्त में (उपनिषदों से) हुई है ।

(ख) इस काल तक वेदशब्दवाच्य सम्पूर्ण ग्रन्थ मौखिक रूप में ही थे, उनका ज्ञान केवल गुरु से प्राप्त किया जा सकता था और गुरुजन भी वैदिक शिक्षाक्रम में इन्हें (वेदान्त) सबसे अन्त में पढ़ाते थे क्योंकि यज्ञादि के रहस्यों तथा दार्शनिक विचारों से युक्त होने के कारण ये अधिक जटिल एवं कठिन थे।

(ग) वेदों के स्वाध्याय क्रमानुसार उपनिषदों का अन्त में पाठ करना पुण्य समझा जाता था।

(घ) आचार्यों के मतानुसार वेद (ज्ञान) उपनिषद् ग्रन्थों में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया है। इनमें ज्ञान की चरम सीमा है।

२. **उपनिषत्**—'उपनिषत्' शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य को बोधित करता है जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुआ। लेकिन इस शब्द के मूल अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है। यह उप और नि उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। 'षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु' के अनुसार सद् धातु के विशरण (नष्ट होना), गति (जाना) तथा अवसादन (शिथिल करना) तीन अर्थ हैं। शङ्कराचार्य अपने कठोपनिषद् भाष्य में इन तीनों अर्थों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हैं—

'अविद्यादेः ससारबीजस्य विशरणाद् विनाशनाद्''''''परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्''''''गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौर्वः पुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा''''''ब्रह्मविद्योपनिषत्' (विशरण) इसके पढ़ने से मोक्षेच्छुकों की संसारबीजरूपी अविद्या नष्ट हो जाती है। (गति) वह ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। (अवसादन) तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं। शङ्कराचार्य के कथनानुसार तो उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्म-विद्या और अप्रधान अर्थ है ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थविशेष—

तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्या'''''।'

नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ बैठना भी होता है। 'उप' उपसर्ग समीप का सूचक है। इस भाँति उपनिषद् शब्द से समीप में बैठने का भाव ध्वनित होता है। विभिन्न विद्वानों ने 'समीप में बैठने' के कारण की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। M R. Bolas के अनुसार इसका मूल अर्थ अग्नि के

समीप बैठना है क्योंकि इनमें निहित वार्तालाप बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते थे। J. W. Haver ने समाधि में निश्चल बैठने के भाव को उपनिषद् से सम्बद्ध करते हुये 'तपस्या तथा ध्यान से प्राप्त रहस्यात्मक ज्ञान' इसका अर्थ किया है। नारायण ने अपनी मनुस्मृति की टीका में उपनिषदों को ऐसे ग्रन्थ माना है, जिन्हें शिष्य गुरु के समीप बैठकर पढ़ते थे।

वस्तुतः उपनिषत् का मूल और प्राचीनतम भाव था—किसी गुप्त ज्ञान की उपलब्धि के लिये शिष्य का गुरु के समीप बैठना। विकास की दूसरी अवस्था में इसका अर्थ हुआ—वह गोपनीय सिद्धान्त या ज्ञान जो ऐसी गुप्त स्थिति में दिया जाय। इसी से उपनिषदों के लिये 'रहस्यम्' पर्याय शब्द प्रयुक्त होता है।

३. शारीरक सूत्रादीनि—विद्वन्मनोरञ्जिनी में शारीरकसूत्रशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है'—शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादीनि।' अर्थात् कुत्सार्थक के प्रत्यय शरीरशब्द से लगकर शरीरक बनकर—'तत्र भवः' से अण् प्रत्यय जुड़कर शारीरक शब्द व्युत्पन्न होकर अर्थ होगा—कुत्सित शरीर में रहने वाला जीवात्मा। उस जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप (ब्रह्मत्व का विचार) का निरूपण जिन सूत्रों द्वारा होता है, वे शारीरिक सूत्र कहलाते हैं। शारीरिक सूत्रों के रचयिता व्यास महर्षि हैं। आदि शब्द श्रीमद्भगवद्गीता तथा इसी भाँति के अन्य ग्रन्थों का ग्राहक है। इनमें से शारीरक सूत्र ही ग्रन्थ का मूल नाम प्रतीत होता है।

[३] ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिपरेषु श्रुतिसूत्रेषु विद्वन्निर्मितनिबन्धेषु चाविशेषेण वेदान्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनात्सर्वत्र मुख्यवृत्तितः प्रतीतिं वारयन्मुख्यगौण-भेदेन वेदान्तशब्दं व्युत्पादयति **वेदान्तो नाम** इत्यादिना उपनिषच्छब्दो ब्रह्मा-त्मैक्यसाक्षात्कारविषयः। उपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य षद्लृविशरणगत्यवसादने-ष्वित्यस्य धातोरुपनिषदिति रूपम्। तत्रोपशब्दः सामीप्यमाचष्टे तच्च सङ्कोचका-भावात्सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि पर्यवस्यति। निशब्दो निश्चयवचनः। सोऽपि तत्तत्त्वमेव निश्चिनोति तन्नैकट्यवाच्युपशब्दसामानाधिकरण्यात्। तस्माद्ब्रह्मविद्या स्वसंशीलिनां संसारसारतामतिं सादयति विषादयति शिथिलयतीति वा परम-श्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा दुःखजन्मप्रवृत्त्यादिमूलाज्ञानं

सादयत्युन्मूलयतीति वोपनिषत्पदवाच्या। सैव प्रमाणम्। तस्याः प्रमारूपायाः करणभूतः सर्वशाखासूत्तरभागेषु पठ्यमानो ग्रन्थराशिरप्युपचारात्प्रमाणमित्युच्यते। तथा चोपनिषद् प्रमाणं प्रमाकरणमुपनिषत्प्रमाणं वेदान्त इत्यर्थः। **तदुपकारीणि** वेदान्तार्थविचारानुकूलानीति यावत्। तदनुकूलत्वं वेदान्तवाक्यप्रमेयासम्भावनापोहद्वारा न तु प्रमित्युत्पत्तौ तत्फले वा साक्षाद्विचारशास्त्रस्याङ्गभावस्तथा सति वेदान्तवाक्यानां सापेक्षताप्रसङ्गात्। तदुक्तमभियुक्तैः :—

"स्वाध्यायवन्न करणं घटते विचारो
नाप्यङ्गमस्य परमात्मधियः प्रसूतौ।
सापेक्षतापतति वेदगिरस्तथात्वे
ब्रह्मात्मनः प्रमितिजन्मनि तन्नयुक्तम्" ॥ इति (संक्षे० शा०)

शरीरमेव शरीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः स सूत्र्यते याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्राणि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्रह्मसूत्र १।१।१) इत्यादीनि। यद्वा शारीरकस्य सूत्राणि तद्याथात्म्यवादिवेदान्तार्थसङ्ग्रहवाक्यानि। आदिशब्दो भाष्यादिसङ्ग्रहार्थः। च शब्दो वेदान्तशब्दानुषङ्गार्थः। तथा च वेदानामन्तोऽवसानभागो वेदान्त इति व्युत्पत्तियोगान्मुख्यो वेदान्तशब्दो वेदभागभेदेषु शारीरकादौ तूपचरित इति व्युत्पादितः।

———

४. अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैः एव अनुबन्धैः तद्वतासिद्धेः न ते पृथगालोचनीयाः ॥

अनुवाद—यह वेदान्तसार वेदान्त का ही अङ्ग है। अतः उसी वेदान्त के अनुबन्धों से ही अनुबन्धवता सिद्ध होने के कारण उनका पृथक् निर्देश करने की अपेक्षा नहीं है।

विद्योत्तमा प्रकरण—पुराण आदि के वचनानुसार 'प्रकरण' शब्द की परिभाषा इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥

विद्वान् लोग एक शास्त्र के एक भाग के प्रतिपादक तथा प्रयोजनवश अन्य शास्त्रों के भी उपयुक्त अंशों को ग्रहण करने वाले (विषय प्रतिपादन की

दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले) ग्रन्थान्तर भी प्रकरण कहे जाते हैं। यथा प्रस्तुत ग्रन्थ 'वेदान्तसार' वेदान्त दर्शन का प्रकरण है।

२ **अनुबन्ध**—किसी भी ग्रन्थ का पठनारम्भ करते समय—

(क) इसे पढ़ने का अधिकारी कौन है ? (ख) इसमें कौनसा विषय निबद्ध है ? (ग) इसमें लिखित विषय तथा पुस्तक का क्या सम्बन्ध है ? तथा (घ) इसे पढ़ने का क्या प्रयोजन है ?—ये चार प्रश्नों के प्रत्येक उत्तर को अनुबन्ध तथा चारों को मिलाकर अनुबन्धचतुष्टय कहा जाता है। जब तक कोई यह नहीं जानेगा कि यह ग्रन्थ किस विषय का है, मैं इसे समझ सकता हूँ, कि नहीं, इसके पढ़ने से मुझे लाभ होगा अथवा नहीं, तब तक वह पढ़ने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसी से 'वाचस्पत्यम्' में कहा गया है—

'ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रों **श्रोता प्रवर्तते।**
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजन.' ॥

[४] ननु किं पुनरस्य ग्रन्थस्यारम्भे निमित्तम्। न खलु निर्निमित्ता प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरिति चेत्को भावः। निमित्तमात्राक्षेप इति चेन्न अशनायाद्यनेकोर्मिमालाकुलसमुद्भूतक्षोभहतविवेकविज्ञानपाथसि दृढतरकामक्रोधाद्युत्तुङ्गशैलजालविषमे सुतदुहितृकलत्रबान्धवाद्यनेकमकरनक्रचक्राकुले नरमृगपशुपक्षिदेवादिस्थानभोगफेनबुद्बुदे संसारसागरेऽनवतरतमध ऊर्ध्वं तिर्यग्वा मज्जनोन्मज्जनादिविवशानतिविततगम्भीरार्थानेकशास्त्रवेदान्तविचारमहाद्रुमावलम्बनासमर्थान्दुःखिनो लोकानालोक्य सञ्जातकरुणाया निमित्तत्वोपपत्तेः। अथ निमित्तविशेषाक्षेपश्चेत्तत्राह **अस्य** इति।

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः" ॥

(पारा० उपपुरा० १८।२१।२२)

इति हि प्रकरणलक्षणं वदन्ति। तथा च यच्छास्त्रैकदेशसम्बद्धं यत्प्रकरणं तत्तच्छास्त्रीयैरेवानुबन्धैरनुबन्धवद्युक्तम्। अन्यथा शास्त्रप्रकरणयोर्भिन्नविषयादिमत्वेन शास्त्रासम्बद्धत्वप्रसङ्गादसम्बद्धप्रलपितमिदमापद्येत्। अतोऽस्य ग्रन्थस्य वेदान्तशास्त्रीयप्रकरणत्वाद्वेदान्तशास्त्रसिद्धैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न तेऽनुबन्धाः पृथगालोचनीया इत्यर्थः ॥

५. तत्र अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥

अनुवाद—उनमें अधिकारी, वर्ण्य-विषय, प्रस्तुत पुस्तक तथा मूल ग्रन्थ का परस्पर सम्बन्ध तथा (अध्ययन का) प्रयोजन। ये अनुबन्ध कहे जाते हैं।

विद्योत्तमा–१. तत्र—इस 'तत्र' का संकेत विद्वन्मनोरञ्जिनी में वेदान्तशास्त्र अर्थ किया गया है, लेकिन सभी संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में अनुबन्धों का वर्णन (पूर्व में) होने से वेदान्तसार अर्थ अधिक उचित नहीं। यहाँ इसका 'अनुबन्धों में' यह शब्दार्थ अधिक उचित है। अत्र वेदान्तसार रचयिता सदानन्द-योगीन्द्र क्रमशः अनुबन्ध-चतुष्टय का विशद विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम वे अधिकारी को लेते हैं।

२. अनुबन्धोनाम—डॉ॰ वैलेण्टाइन ने अपने प्रबन्ध "The list of the Vedanta as a Philosophy" में अनुबन्ध की व्याख्या इस प्रकार की है—

"With reference to the commencing of any scientific work according to Hind opinion, four questions present themselves, The answer of these questions is called an Anubandh– a bond of connection or cause,"

[५] ननुमहाविषयादेरिह शास्त्रीयत्वेऽप्यवान्तरविषयादेः पृथगालोचनमुचितमितरथा शास्त्रं परित्यज्य प्रेक्षावतोऽत्र प्रवृत्त्ययोगादितिचेद्वादंप्रकरणत्वेनैसारग्रहणेच्छुखान्तराधिकारी। सगुणनिर्गुणरूपविषयभेदं परित्यज्य निर्गुणसारमात्रमिह विषयः। तन्मात्रावधारणमवान्तरप्रयोजनम्। सम्बन्धोऽपि विषयानुरूप इति भावः। ननु शास्त्रीयोऽनुबन्धः शास्त्रविद्भिरेव विज्ञायते न व्युत्पित्सुभिस्तत्कथमिह तेषां शास्त्रीयविषयाद्यनभिज्ञानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य शास्त्रीयमेवानुबन्धं संक्षेपतो व्युत्पादयितुमुपक्रमते **तत्रानुबन्धो नाम** इत्यादिना। तत्र वेदान्तशास्त्रे स्वार्थप्रतिपत्तारमनाश्रित्य शास्त्रस्य प्रवृत्त्ययोगादादावधिकार्यनुबन्धापेक्षा। तस्य च विषयबोधमन्तरेणाप्रवृत्तेर्विषयस्य तदानन्तर्यम्। विषयस्य च शक्यप्रतिपाद्यत्वसिद्धयेसम्बन्धस्य विषयानन्तर्यम्। प्रयोजनस्य चरमत्वं प्रसिद्धमित्युद्देशपाठक्रमोविवक्षितः। तथा च शारीरकसूत्रं "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति।

———

६. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिल-वेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ॥

अनुवाद—अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने इस जन्म या पूर्व जन्म में पहले विधिपूर्वक वेद वेदाङ्गों का अध्ययन करके सम्पूर्ण वेदों का अर्थज्ञान उपलब्ध करके काम्य कर्म तथा शास्त्रों के द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग किया हो, तत्पश्चात् जिसका अन्तःकरण नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासन कर्मों को करने से सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अत्यधिक स्वच्छ हो गया हो, ऐसा चार साधनों से सम्पन्न प्रमाता ही (अधिकारी है)।

विद्योतसा—१. विधिवदधीतवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थ :— नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान शास्त्रीय विधिनानुसार किया जाने के कारण इन कर्मों को करने की योग्यता उपलब्ध करने के लिये वेद तथा वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष्) का अध्ययन करके उनके अर्थ को समझना जरूरी है। इसी को यहाँ उपर्युक्त वाक्य के द्वारा बताया गया है। क्योंकि इस प्रकार भलीभाँति अध्ययन करने से स्वयं ही वेदों तथा वेदाङ्ग का अर्थज्ञान हो जाता है।

२. अस्मिम् जन्मनि जन्मान्तरे वा—'कुछ लोग वेदादि का स्वाध्याय तथा नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के बिना ही शुद्धचित्तवाले (तत्त्वदर्शी) हो जाते हैं तो स्वाध्याय और कर्मानुष्ठान का आवश्यक होना क्यों बताया गया है?' इस शंका का समाधानं करने के लिये ग्रन्थकर्त्ता ने प्रस्तुत वाक्य सम्मिलित किया है। महात्मा विदुर तो शूद्रा दासी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण वेदादि के स्वाध्याय तथा नित्यादि कर्मों के अनुष्ठान के अधिकारी न थे, तथापि महाभारतादि ग्रन्थों में तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुष रूप से उनका उल्लेख हुआ है। तब यहाँ वेदस्वाध्याय तथा नित्यादिकर्मानुष्ठान आवश्यक नहीं है, इसका निराकरण प्रस्तुत वाक्य के द्वारा ही होता है। अन्तःकरण के निर्मल होने के लिये केवल एक ही जन्म की साधना ही पर्याप्त नहीं, अपितु अनादि जन्मों की कल्मषतारूपी पत्तों के अन्तःकरण रूपी-दर्पण से दूर करने के लिये महाध्यवसाय, प्रयत्न तथा धैर्य की आवश्यकता है। गीता भी इसी का समर्थन करती है—

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।
प्रयत्नात् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥' (गीता)

अतः महात्मा विदुर के तत्त्वज्ञान की हेतुरूपा साधना पूर्वजन्मों में निष्पादित हुई होगी।

३. काम्यनिषिद्धवर्जपुनरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन—प्रस्तुत अंश के द्वारा समस्त कल्मषों को दूर करने का हेतु बताया गया है। कामवासन से किये जाने वाले (कामवासना शुद्धि की साक्षात् बाधिका है) काम्य कर्म तथा अन्तःकरण की शुद्धिबाधक अभक्ष्य भक्षण आदि निषिद्ध कर्मों का परित्याग किये बिना रागादि वासनाओं की कल्मषता का निवारण नहीं हो सकता तथा नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना कर्मों का अनुष्ठान इन कल्मषों की निवृत्त्यर्थ आवश्यक है। अतः काम्य एवं निषिद्ध कर्मों को छोड़कर नित्यादि कर्मों को करना चाहिये।

४. निर्गतनिखिलकल्मषतया—'निर्गतानि निखिलानि कल्मषानि यस्य सः निर्गत निखिलकल्मषः तस्य भावः (तल् प्रत्ययः) निर्गतनिखिलकल्मषता तया।' इस वृत्ति के अनुसार इस शब्द के द्वारा यह बताया गया है कि अन्तःकरण से समस्त रागद्वेष आदि वासनात्मक कल्मषों के निकल जाने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है।

५. साधनचतुष्टयसम्पन्नः—'साधनानां चतुष्टयं इति साधनचतुष्टये, तेन सम्पन्नः' इस वृत्त्यनुसार आगे कहे जाने वाले नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, शमादि छः सम्पत्तियाँ, तथा मुमुक्षुत्व इन चार साधनों से सम्पन्न होना ब्रह्म विद्या (वेदान्त) में अधिकार प्राप्त करने के लिये आवश्यक होने से इनके बिना (साधनचतुष्टय के बिना) वेदान्त का अधिकारी होना असम्भव है।

६. प्रमाता—प्रमाणों के द्वारा जो लौकिक तथा वैदिक दोनों ही प्रकार के व्यवहार में भ्रमरहित होकर समर्थ होता है, वही व्यक्ति पूर्वलिखित साधनचतुष्टय से युक्त होकर वेदान्त का 'प्रमाता' अधिकारी हो सकता है।

७. विधिवत्—ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित छात्र शास्त्रानुसार जो अध्ययन करता है, वह विधिवत् अध्ययन कहलाता है।

८. वेदाङ्ग—ये छः हैं—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः।
छन्दो लक्षणं चैव षडङ्गो वेदउच्यते ॥ (बृहत्संहिता)

९. आचार्य शङ्कर विशेष रूप से यह आवश्यक समझते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु अत्यन्त आवश्यक है। वे कहते हैं—'सर्वज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।' पञ्चदशी.........४/२९—४१ भी स्पष्ट रूप से गुरु की आवश्यकता प्रतिपादित करती है।

१०. प्रस्तुत सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि इसमें लेखक ने दार्शनिकों और उससे पहले विद्यमान कर्मकाण्ड और भक्तिकाण्ड के अनुयायियों के मध्य समन्वय स्थापित किया है। सभी तत्त्वपूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिये साधन बनते हैं। जैसे—यथार्थ रूप के प्रतिबिम्बित होने के लिये दर्पण को अनेक प्रकार स्वच्छ किया जाय। इससे ज्ञात होता है कि जो वेदान्ती केवल निर्गुण ब्रह्म में विश्वास करते हैं वे विष्णु, शिव आदि के देववाद तथा मूर्तिपूजा एवं पुराणादि को मिथ्या कहते हैं, वे वेदान्तसार के वेदान्त से मेल नहीं खाते। पञ्चदशी भी ६।२०६–२०९ में देवपूजा की महत्ता को स्वीकार करती है। वस्तुतः उपासना मानव के लिये स्वाभाविक है, इसलिये दार्शनिकों ने इसके साथ समझौता किया है। पञ्चदशी ने तो स्पष्ट कहा है कि जब सत्य का ज्ञान हो जाता है तब शास्त्र और उपासनायें अपने आप रह जाते हैं, जैसे—प्रकाश हो जाने पर दीपक की आवश्यकता नहीं। अन्न चाहने वाले को भुस की आवश्यकता नहीं रह जाती।

११. **जन्मजन्मान्तर**—पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त भारत, सीलोन, ब्रह्मा, तिब्बत एवं चीन में स्वीकृत रहा है। इससे हम कह सकते हैं कि मानव जाति का अधिकांश इसे स्वीकार करता रहा है। यदि हम इसकी उत्पत्ति एवं विकास को ठीक से खोज पाते तो अत्यन्त सन्तोष का विषय होता। प्रारम्भ में आर्य जाति और भारत में प्रारम्भिक बसने वाले आर्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे वे तो आत्मा के सातत्य को स्वीकार करते थे। विलसन

Essay on Sanskrit Literature में लिखते हैं कि इस सिद्धान्त की गोपनीयता पर अभी प्रकाश नहीं पड़ सका है। सर्वप्रथम इस पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त का ज्ञान छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् से होता है। डॉ० वेबर ने History of Indian Literature में लिखा है कि यह सिद्धान्त पर्याप्त पश्चात् का है और इसके उद्भावक याज्ञवल्क्य हैं। गौतम बुद्ध ने कर्म के स्थानान्तरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था किन्तु जीवात्मा का नहीं। डॉ० जैकब कहते हैं—

"As a matter of fact, the theory of transmigration of soul assuredly not his, for he totally denied the existence of soul."

गौतम बुद्ध ने एक बार कहा था कि इस जन्म में भी ब्रह्मभाव प्राप्त हो सकता है—

"इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्यबोधं बहुकल्पदुर्लभम् नैवासनात् कायमनश्चलिष्यते॥"

वस्तुतः मनुष्य को मुक्त होने के लिये समय की कोई सीमा नहीं है। राजा परीक्षित् तो केवल एक सप्ताह में ही ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये थे। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

"खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वयेत्तामिहायुषः।
मुहूर्त्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥"

श्रीमद्भगवत् गीता भी कहती है—

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।"

[६] तत्र यथोद्देशक्रममधिकारिणं निरूपयति **अधिकारी तु** इति। धर्मजिज्ञासाधिकारिणोऽस्यवैलक्षण्यसूचनार्थस्तुशब्दः। प्रमाताधिकारीत्यन्वयः लौकिकवैदिकव्यवहारेष्वभ्रान्तो जीवः प्रमातेह विवक्षितो जीवमात्रस्य पक्षे भ्रमसम्भवेन शास्त्रार्थप्रतिपत्तृत्वायोगात्। तस्य तु शब्दसूचितं विशेषमाह साधनचतुष्टयसम्पन्न इति। वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयविशिष्ट इत्यर्थः। अयं भावः। न तावद्वेदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञासाधिकारहेतुस्तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वत्तन्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। नापि धर्मविचारः। प्रागपि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य

ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतुर्विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्मचर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासादर्शनात्। श्रुतिश्च भवति विविदिषोः सन्यासविधायिनी "यदि वेतरथाब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" (जाबाल० ४) इत्यादिका ॥

ननु "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वास्ति" इति श्रुतेः (तैत्ति० संहि० ६।३।१०।५)।

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः"॥

(मनु० ६।३५)

इति स्मृतेश्चर्णत्रयापाकरणमन्तरेण मोक्षशास्त्रविचारप्रवृत्त्ययुक्तताया गम्यमानत्वात्कथं धर्ममनुष्ठाय सन्यासपूर्वकब्रह्मविचारे प्रवृत्तिरिति चेत्। उच्यते। श्रुतिस्तावत् "हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षस" (तैत्ति० सं० ६।३।१०।४) इति पञ्चवदानत्रयविधिमुपक्रम्य "तदवदानैरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वं" (तैत्ति० सं० ६।३।१०।५) इत्यवदाननिर्वचनेनोपसंहारादवदानत्रयविध्यर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा। अतः सा "ब्रह्मचर्यादेव" इति श्रुत्यानन्यपरया बाध्यते। यदि ब्रह्मचर्यादिभिरपाकरणीयमृणत्रयमपि "अवदानैरेवावदयत" इत्यवदानश्रुतौ ब्रह्मचर्यादेर्ऋणत्रयापाकरणहेतुत्वचनं स्वार्थपरमेवेति मतं तथापि जातमात्रस्यर्णत्रयसम्बन्धे प्रमाणाभावादधिकारी जायमानो गृहस्थो वा जायमान इति वा व्याख्यानमुचितम्। स्मृतिस्त्वविरक्तविषयतया व्याख्येया। एतेन "यज्ञायुधी-यजमानः" (शतपथ० १२।५।२।८) "जरयावास्मान्मुच्येरन्" "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत" (तैत्ति० सं० १।५।२।१) इत्यादिश्रुतयः "ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य" (गौत० सं० ३।३६) इत्यादि स्मृतयश्च व्याख्याता वेदितव्याः। "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" (जाबाल० ४) "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबाल०) "अथ पुनरव्रती वा व्रती वा" (जाबाल०) "किमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे" "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मेति" (बृह० ४।४।२२) "याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज" (बृह० ४।५।२५–माध्यन्दिन) "ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे। ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इत्यादिश्रुतिस्मृत्यविरोधात्। तस्मान्न धर्मानुष्ठानं ब्रह्मजिज्ञासा हेतुः।

अतो ब्रह्मजिज्ञासा जायमाना यस्मिन्सत्येव (साधने) नियमेन जायते यस्मिन्नसति नैव जायते तदेव तस्याःसाधनमेषितव्यम् । तच्च वक्ष्यमाणं साधनचतुष्टयमेवेति । कस्मात्पुनः साधनसम्पन्नस्तत्राह **नितान्तं** इति । नितान्तमत्यन्तं निर्मलं शुद्धं स्वान्तमन्तःकरणं यस्य स तथा । कुतः स्वान्तस्य नैर्मल्यं प्रतिबन्धकरागादि वासनानिवृत्त्येत्याह **निर्गतं** इति । रागादिवासनारूपकल्मषनिवृत्तिरपि कुतस्तत्राह **नित्यं** इति । काम्यकर्माभिरतस्यानुष्ठीयमानपि नित्यादि न साक्षात्कल्मषनिवृत्तिहेतुः कामवासनया शुद्धिप्रतिबन्धसम्भवात्तथा निषिद्धावर्जने पापेन प्रतिबन्धादित्यभिप्रेत्य नित्यानुष्ठानं विशिनष्टि **काम्युनिषिद्धवर्जन पुरःसरं** इति । एवं नित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धेश्चैकभविकत्वनियमं व्यावर्तयति **अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा** इति ।

"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।" (**गीता ५।४५**)

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।।" (**गीता ५।४०**)

इत्यादिस्मृतेर्जन्मन्तरानुष्ठितस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वसम्भवादिति भावः । एवं काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरमिहजन्मनि जन्मान्तरे वानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तौ कारणमाह आपातत इति । आपाततो विचारेणेदमित्थमेवेति पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतोऽखिलो वेदार्थो येन स तथा । वेदशब्दो वेदान्तविषयः । वेदार्थज्ञाने हेतुमाह **विधिवत्** इति । "ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदो निष्कारणोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इतिवचनान्नित्याध्ययनविध्युपस्थापितवेदान्तवचोभिर्निरुक्तव्याकरणाद्यङ्गोपकरणैरनवबुद्धतात्पर्यलिङ्गैरधिगताखिलवेदान्तार्थ इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति । वस्तुतश्चित्सदानन्दब्रह्मस्वभावोऽप्यात्माऽनाद्यनिर्वाच्याविद्यासम्बन्धलब्धजीवभावोऽविद्याकामकर्मवशंगतः काम्यनिषिद्धाद्यनवरतमाचरंस्तत्फलभूतस्वर्गनरकौ भुञ्जानस्तद्भोगवासनावासितदनुरूपं पुनः कर्म पुनः फलमित्येवं घटीयन्त्रवत्कुलालचक्रवद्वोर्ध्वाधस्तिर्यग्भ्रमणमविश्रममनुभवन् हृस्टः कृतार्थो मूढो दुःखी वेत्यात्मानं मृषैव मन्यते । स पुनः—

"एकः काम्योऽपरोनित्यस्तथा नैमित्तिकः परः ।
प्राधान्येन फलंशुद्धिरार्थिकी काम्यकर्मणः ।।
प्राधान्येन मनःशुद्धिर्नित्यस्य फलमार्थिकम् ।
केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरितरस्य तु" ।।

(**सूतसंहिता पृ० ३४५**)

इत्यादिपुराणवचनादतीतानेकजन्मसुकृतयादृच्छिकपुण्यपुञ्जपरिपाकोदयवशात्काम्यफलेषु जातदोषबुद्धिराध्यात्मिकादिदुःखत्रयं च निषिद्धाचरणफलमाकलयन् काम्यनिषिद्धे परित्यजन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठितनित्यादिक्षपितकल्मषतया नितान्त-निर्मलस्वान्तोऽधीतसाङ्गवेदार्थापातालोचनया लब्धविवेकादिसाधनसम्पन्नः स्वात्म-याथात्म्यजिज्ञासुर्वेदान्ताधिकारीति ॥

७. काम्य नि-स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि ॥

अनुवाद—स्वर्गप्राप्त्यादि कामनाओं से किये जाने वाले ज्योतिष्टोमयज्ञादि काम्य कर्म है।

विद्योत्तमा—१. काम्य—जो कर्म किसी फल के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे काम्य कर्म कहलाते हैं। कहा भी गया है—

'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि।'

स्वर्ग आदि की उपलब्धि इनका (काम्य कर्म का) फल है।

२. ज्योतिष्टोम-इसका शब्दार्थ है अग्निस्तुति में कथित मन्त्र। किन्तु यहाँ (प्रस्तुत अंश में) अग्निष्टोम याग से तात्पर्य है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इसी श्रुति पर जो वैदिक आदेश आधारित है, वह अग्निष्टोम यहाँ अभिप्रेत है। यद्यपि ज्योतिष्टोमादि धर्म के साधन एवं पुण्य देने वाले अच्छे कर्म होते हुए भी जन्ममरण का हेतु है, क्योंकि अच्छे कर्म करने से भी उनका फल भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ेगा, चाहे वह किसी सम्पन्न घर में हों, इस भाँति अच्छे कर्म भी जन्ममरण का हेतु होने से मोक्षप्रद नहीं होते। अतः ज्योतिष्टोमादि यज्ञ कर्म भी उनका बन्धन होने से वेदान्ताधिकारी होने में वर्ज्य हैं। सात यज्ञों के चक्र से ज्योतिष्टोम बनता है, जिनमें एक अग्निष्टोम भी है। डॉ० हॉग के अनुसार अनेक स्थानों में ज्योतिष्टोम तथा अग्निष्टोम एक ही अर्थ में आये हैं। ज्योतिष्टोम एक दिन का होता था, अग्निष्टोम पाँच दिन का होता था, पाँचवें दिन सोमपान किया जाता था। ये सभी सोमयज्ञ थे।

[७] काम्यादिपदार्थान् कथयति **काम्यानि** इत्यादिना। फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि। न च "विश्वजिता यजेत्" इत्यादावव्याप्ति-स्तत्रापि "स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्" (मीमांसा ४।३।१९ एवं

विश्वजिन्न्यायः) इति न्यायेन स्वर्गफलोद्देशेन विधेः साधितत्वात् । ज्योतिष्टोम-शब्द ऐकाहिकविषयः । आदिशब्दोऽहीनसत्रसङ्ग्रहार्थः ।

---

८. निषिद्धानिनरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि ॥

अनुवाद—नरक जैसी अनिष्ट वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले ब्रह्महत्या आदि निषिद्ध कर्म है।

विद्योत्तमा–१. निषिद्ध–मनुष्य भ्रमवश जिन अनिष्टकारक कर्मों को अपने अभीष्ट का साधन मानकर करता है तथा वेदों में 'ब्राह्मणों न हन्तव्यः' इत्यादि श्रुतियों द्वारा जिनका निषेध किया गया है, वे निषिद्ध कर्म कहे जाते हैं। विद्वन्मनोरञ्जिनी के अनुसार निषिद्ध कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—

'भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि।'

२. ब्राह्मणहनन—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' आदि श्रुतिनिषेध द्वारा ब्रह्महत्या ('ब्राह्मण की हत्या निषिद्ध की गई है। इस भाँति गोहत्या का भी शास्त्रों में निषेध किया गया है। धर्मशास्त्रों में महापातक निम्नलिखित कहे गये हैं—

"ब्रह्महत्यासुरापानं"

मनुस्मृति ४/१/१६५,१६६,७/३८०, ३८१, ११।७२ आदि में ब्रह्महत्या को महान् पाप कहा गया है।

[८] भ्रमावगतेष्टसाधनतानिषेधकनञ्पदयोगिवाक्यगम्यानि निषिद्धानि लिङाद्यनुषक्तनञ्योगिवाक्यागम्यानि वा । नरकादीत्यादिपदादैहिकदुःखग्रहः । ब्राह्मणहननादीत्यादिपदात्सुरापानादिग्रहः । प्रत्यवायशब्देनागामिदुःखमुच्यते ।

---

९. नित्यानि-अकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि ॥

अनुवाद—जिनके न करने से हानि हो, वे नित्य कर्म कहलाते हैं उदाहरणार्थ—सन्ध्यावन्दन आदि।

विद्योत्तमा १. नित्य—जिन कर्मों को करने से कोई विशेष पुण्य नहीं होता किन्तु न करने से पाप बढ़ जाता है, वे नित्य कर्म कहे जाते हैं।

२. सन्ध्यावन्दनादि—जैसे प्रतिदिन स्नान तथा दन्तमार्जन से कोई पुण्य नहीं होता लेकिन यदि इन्हें न किया जाय तो शरीर में मल इकट्ठा हो जाने

से स्वास्थ्य विकृत हो जाता है, उसी भाँति जाने अनजाने ही जो छोटे-मोटे पाप उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें एकत्रित होने से बचने के लिये सन्ध्यावन्दन आदि कार्य किये जाते हैं तथा नित्य कर्म कहे जाते हैं। कोलब्रुक कहते हैं— प्रातः, दोपहर और सायकालीन सन्ध्यास्नान की विशिष्ट प्रतिमा आज भी माघ, फागुन और कार्तिकस्नानों में प्राप्त होती हैं। प्रायः पवित्र नदियों में स्नान करते हैं। स्नान के साथ गायत्री का जप सन्ध्या की विशेषता है— 'तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' पञ्चमहायज्ञ भी नित्यकर्मों में स्वीकार किये जाते हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ। (क) वेदान्तियों के अनुसार सन्ध्यादि न करने पर कोई नया पातक नहीं होता किन्तु करने पर नये पाप का अवरोध होता है, (ख) मीमांसकों के अनुसार सन्ध्यादि का न करना नया पाप उत्पन्न करता है। अतः वेदान्ती सन्ध्या को अनिवार्य नहीं मानते हैं।

[९] येषामकरणे विज्ञायमाने तत्साध्यते ज्ञाप्यते तानि नित्यानि इत्यर्थः। अकरणे प्रत्यवायलक्षणानि नित्यानीति यावत्। निर्निमित्तमुपात्तदुरितक्षयार्थानि नित्यानीति नित्यकर्मलक्षणं न त्वकरणे प्रत्यवायोत्पादकानि नित्यानीति। ननु—

"अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति"॥
(मनु० ११।४४)

इति स्मृतौ शतृप्रत्ययादकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमवगम्यते तत्कथमकरणस्य प्रत्यवायानुत्पादकत्वमिति चेन्न "लक्षणहेत्वोः क्रियया" इति पाणिनिना (३।२।१२६) शतुर्लक्षणार्थेऽपि विधानात्। अत एव नित्याद्यनुष्ठानकाले निद्रालस्यादिपरवशं नरमालोक्य शिष्टैर्लक्ष्यते यद्यस्य यथा वन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानमभविष्यत्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽभविष्यन्न चायं विहितमकार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति। तथा च "विचिकित्सञ्छ्रोत्रिय" इविवच्छतृप्रत्ययस्यान्यथाप्युपपत्तेर्न तद्बलादभावस्य हेतुत्वाशङ्का युक्ता। तदुक्तम्—

"नित्यानामक्रिया यस्माल्लक्षयित्वैव सत्वरा।
प्रत्यवायक्रियां तस्माल्लक्षणार्थे शता भवेदिति"॥
(तैत्ति० भाष्य वा० १।२१)

ननु हेत्वर्थेऽपि शतुर्विधानस्य तुल्यत्वे कथं लक्षणार्थावगम इति चेदभावाद्भावोत्पत्तेरनुपपत्तेरिति वदामः। भावरूपस्य हि कार्यस्य भावरूपं कारणमिति प्रत्यक्षादिभिरवधारितं तेन शतृप्रत्ययादभावस्य भावहेतुताभ्युपगमो विरुध्यते। नन्वेवं सति कथं तवाप्यकरणस्य प्रत्यवायलक्षकत्वसिद्धिरिति चेन्नैष दोषः। नास्माभिरकरणस्य स्वरूपेण प्रत्यवायलक्षकत्वमिष्यते किन्तु तज्ज्ञानस्य। न च तस्यैव प्रत्यवायजनकत्वमपीति वाच्यं नित्याकरणाज्ञाने प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। ननु कथं तर्हि भाट्टैरनुपलम्भस्याभावप्रमितिहेतुत्वमिष्यते तार्किकैश्च प्रतिबन्धकाभावस्य तत्तत्प्रागभावस्य च कारणत्वमिष्यत इति चेद्भ्रान्त्येति ब्रूमः। तथाहि न तावद्योग्यानुपलब्धेः स्वरूपसत्तामात्रेणाभावप्रमितिहेतुता युक्ता। तथा सत्यज्ञानकरणत्वेनाभावज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गाज्ज्ञाताया एवानुपलब्धेरभावप्रमाहेतुत्वे तज्ज्ञानस्यैव भावरूपस्याभावज्ञानकारणता बलादायास्यतीति। प्रतिबन्धकाभावः कारणमिति पक्षे स किं दृष्टकारणकलापकुक्षौ निक्षिप्तः किंवाऽदृष्टकारणकलापकुक्षौ। आद्ये दाहादिकार्यार्थिनः काष्ठादिसमवधानाधिगम इव प्रतिबन्धकाभावसमवधानाधिगमे सत्येव वह्निप्रज्वलनादौ प्रवृत्तिः स्यान्न च तथा प्रवर्तमानो दृश्यते। अन्यथा सत्यपि प्रतिबन्धकसमवधाने तदभावनिश्चयेन प्रवर्तमानस्य कदाचित्कार्यामुदयो न भवेत्। ननु सति प्रतियोगिनि तदभावनिश्चयो भ्रम इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकस्यायोग्यत्वेन तदभावोऽप्ययोग्य एवेति न तस्य दृष्टकारणकलापकुक्षिनिक्षेपः। नापि द्वितीयः। अस्मदाद्यप्रत्यक्षाणामीश्वरतज्ज्ञानेच्छाप्रयत्नप्राण्यदृष्टानां देशकालयोश्च सूर्यादिग्रहचारक्रियायाश्च भावरूपतया प्रतिबन्धकाभावत्वायोगात्तदरिक्तस्य कस्यचित्सर्वकार्यसाधारणकारणस्य कल्पकाभावात्। किञ्च सत्यपि प्रतिबन्धकउत्तेजकसमवधाने कार्यदर्शनान्न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता। उत्तेजकाभावविशिष्टप्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वे तादृक्प्रतिबन्धकाज्ञाने तदभावाग्रहान्न तस्य कारणतासिद्धिः। न चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वमपि प्रतिबन्धकाभावस्य तदन्वयव्यतिरेकयोर्विरोधिसंसर्गाभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात्। तर्हि विरोधिसंसर्गाभावत्वेनैव कारणतेति चेन्न सत्येवोत्पत्तिहेतुकलापसमवधाने वोत्पत्तेः स्थितेर्वा विघटकभावस्य विरोधित्वप्रसिद्धेर्न तदभावस्य सामग्र्यन्तर्भावो विरोधिसंसर्गाभावस्य तत्प्रवेशे तत्प्रतियोगिनो विरोधित्वासिद्धिः। तस्मिंश्च सति तत्संसर्गाभावस्य सामग्रीप्रवेश इत्यन्योन्याश्रयस्य दुरुद्धारत्वादित्यलमतिकर्दमेन। प्रागभावस्यापि नियतप्राक्कालवर्तित्वेन कारणत्वेऽभावविशेषणस्य कालस्यात्मा-

श्रयताप्रसङ्गो न च प्रागभावत्वेनैव कारणत्वं तावन्मात्रे कारणलक्षणाभावात्। किञ्च कारणत्वं नाम धर्मो भावात्मक उताभावात्मकः। उभयथापि नाभावनिष्ठत्वं तस्य सम्भवति विरोधिनोर्भावाभावयोराधाराधेयभावानुपपत्तेः। अभावस्य निर्विशेषत्वान्निरतिशयत्वाद्वा। तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तौ दृष्टान्तः। तन्तुनाशात्पटनाश इत्यपि स्वप्रक्रियामात्रमित्यास्तां विस्तरः। अस्तु वा क्वचिदभावस्यापि कारणत्वं तथापि न प्रत्यवायस्याकरणहेतुत्वं प्रत्यवायशब्दवाच्यस्य पापादृष्टस्य तज्जन्यागामिदुःखस्य वा निषिद्धक्रियाजन्यत्वात् "पापकारी पापो भवति" (बृह० ४।४।५) "अथ य इह कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" इति च श्रुतेः (छा० ५।१०।७)। तस्मादकरणे प्रत्यवायसाधनानि प्रत्यवायज्ञापकानि नित्यानीति व्याख्यानं सुव्याख्यानमिति। **सन्ध्यावन्दनादीनि** इत्यादिपदात्पञ्चमहायज्ञादिविग्रहः।

१०. नैमित्तिकानि-पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि॥

अनुवाद—पुत्रोत्पत्ति आदि के अवसर पर (शास्त्रों में निर्दिष्ट) जातेष्टि यज्ञ आदि नैमित्तिक कर्म कहे जाते हैं।

विद्योत्तमा १. नैमित्तिक—किसी निमित्त को उपलब्ध कर अवश्य कर्त्तव्यता होने के कारण से जो श्रुतियों द्वारा अभिहित किये गये हैं, वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। विद्वन्मनोरञ्जिनी भी कहती है—

'निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्त्तव्यतया विहितानि नैमित्तिकानि।'

जातेष्टि—पुत्र उत्पन्न होते ही शास्त्रों द्वारा विहित विधि के अनुसार पिता जो यज्ञादि के द्वारा जातकर्म संस्कार करता है उसे ही 'जातेष्टि' कहा जाता है। श्रुति वाक्य इस प्रकार है—

'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते।'

(तैत्तिरीय संहिता २/२/५/३)

[१०] निमित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यतया विहितानि **नैमित्तिकानि**। एतदाह पुत्रेति। जातेष्टिर्नाम "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते" इति विहिता (तैत्ति० सं० २।२।५।३)। आदिपदात् "यस्याहिताग्नेर्गृहान्दहत्यग्निरग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्" (तैत्ति० २।२।२।५) इत्यादिनोक्तानां

क्षामवत्यादीनां ग्रहः। उपरागस्नानादि च स्मार्त्तमुदाहरणीयम्। यद्यपि जातेष्टि-वाक्यशेषे "यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान्भवति" (तैत्ति० २।२।५।४) इति पुत्रगाम्यवान्तरफलश्रवणान्न वक्ष्यमाण-कर्तृगामिद्विविधफलानुकूलं जातेष्ट्युदाहरणं तथापि नैमित्तिकस्वरूपमात्रव्युत्पादना-योदाहरणं न दुष्यतीति द्रष्टव्यम्।

---

११. प्रायश्चित्तानि–पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि ॥

अनुवाद--पापक्षालनार्थ किये जाने वाले चान्द्रायण आदि व्रत प्रायश्चित कर्म कहे जाते हैं।

विद्योत्तमा--१. **प्रायश्चित**—शास्त्रों में विहित कर्म को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों को करने से जो पाप उत्पन्न होता है उसके निवारणार्थ जो कर्म किये जाते हैं, उन्हे प्रायश्चित कर्म कहते हैं।

'विहिताकरणप्रतिनिषिद्धसेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि।'

२. **चान्द्रायण**—मनुस्मृति में चान्द्रायण चार प्रकार का कहा गया है—पिपीलिकामध्य, यवमध्य, यति और शिशु एक प्रकार का लोकविख्यात प्रायश्चित व्रत है। इसमें चन्द्रमा के बढ़ने और घटने के अनुसार ही आहार (ग्रास) बढ़ाया और घटाया जाता है। मनुस्मृति इसके अनुष्ठान की विधि निम्न प्रकार से कहती है--

'एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥' (मनुस्मृति)

अर्थात् पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास खाकर कृष्णपक्ष में क्रमशः एक-एक ग्रास घटाते-घटाते चतुर्दशी को एक ग्रास खाकर अमावस्या को पूर्ण व्रत करके क्रमशः एक-२ ग्रास बढ़ाकर पौर्णमासी को पुनः पन्द्रह ग्रास खाना चाहिये तथा व्रत समय में प्रतिदिन तीन बार प्रातः, मध्याह्न तथा सायं सवन (स्नान) करना चाहिये।

Monier Williams अपनी डिक्शनरी में लिखते हैं, (चान्द्रायण) "A religious observance expiatory penance regulated by the moon's age."

[११]—विहिताकरण प्रतिषिद्ध सेवारूपनिमित्तविशेषानुबन्धीनि प्रायश्चित्तानि। पापक्षयमात्रोद्देशेन विहितानि इति वा। आदि पदात् कृच्छादिग्रहः।

---

१२. उपासनानि-सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि ॥

अनुवाद——सगुण ब्रह्मविषयक मनोवृत्ति के स्थिरीकरण के लिये किये जाने वाले कर्म उपासन कहे जाते हैं। जैसे—शाण्डिल्यविद्या आदि।

विद्योत्तमा—१. उपासनादि—चराचर जगत् को ब्रह्म का रूप जानकर उसमें आदरपूर्वक चिरकाल पर्यन्त अपनी मनोवृत्ति को स्थिर करने के लिए जिन कर्मों को किया जाता है, उन्हें उपासनाकर्म कहते हैं। उपासना और ज्ञान दो पृथक् वस्तुयें हैं। ज्ञान में ज्ञाता तथा ज्ञेय एक-एक हो जाते हैं तथा आराध्य और आराधक पृथक् हो जाते हैं।

२. शाण्डिल्यविद्यादि—शाण्डिल्य ऋषि ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' से लेकर 'स क्रतु' कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरे भारूपः' यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि संसार और आत्मा की ब्रह्मरूप में उपासना करनी चाहिये इसीलिये इसे शाण्डिल्य विद्या कहा गया है; 'आदि' शब्द से शतपथ ब्राह्मण में कथित 'स आत्मनमुपासीत, मनोमयम्' आदि विद्यायें अभिप्रेत हैं। Covell का कथन है कि 'What this was, is not known. It was clearly not the doctrin of the faith which is set forth in the Shandilya aphorism.'

३. सगुण ब्रह्म—ब्रह्म, जो कि उत्पत्ति, पालन एवं विनाशादि से युक्त है, सगुण कहलाता है। उपासना पद्धति में परम सत्ता की जिस रूप में साधना की जाती है वह सगुण रूप में ही होती है। Dr. Thibaut ने शाङ्करभाष्य के अनुवाद में शाण्डिल्य विद्या के विषय में लिखा है—

"This is decidedly one of the first and most characteistic texts, it would be difficult to point out another passage setting forth with greater force and eloquence and in an equaly short compass the central doctrine of the Upnisads.'

[१२] शास्त्रबोधिते सगुणे ब्रह्मणि दीर्घकालादरनैरन्तर्योपेतमनोवृत्तिस्थिरीकरणलक्षणानि **उपासनानि**। उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति मानसव्यापाररूपाणीति। निदिध्यासनाद्भेदमाह सगुणेति। **शाण्डिल्यविद्या** नाम 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्युपक्रम्य ''स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप'' इत्यादिना छान्दोग्ये (३।१४।१।२) विहिता। वाजिनामग्निरहस्याख्येऽपि (शत० १०।६।३।२) काण्डे ''स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं'' इत्यादावुक्ता। बृहदारण्यके च मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्य'' (५।६।१) इत्यादौ प्रत्यभिज्ञाता विद्या। आदिशब्दाद्दहरवैश्वानरादिविद्यान्तरग्रहः।

---

१३. एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परं प्रयोजनमुपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम् ''तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'', इत्यादिश्रुतेः ''तपसा कल्मषं हन्ति'' इत्यादिस्मृतेश्च।

अनुवाद—इनमें (इन कर्मों में) से नित्य कर्मों के अनुष्ठान का परम प्रयोजन बुद्धि की शुद्धि तथा उपासन कर्मों का चित्त को एकाग्र करना है।

विद्योत्तमा—१. परं प्रयोजनम्—इसे यहाँ परम कहना अन्य सांसारिक प्रयोजनों की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व देना ही है। वस्तुतः बन्धन से मोक्ष ही परम प्रयोजन है। मुक्ति का विचार वेदों और ब्राह्मणों में नहीं पाया जाता है, सर्वप्रथम यह श्वेताश्वतरोपनिषद् में पूर्ण विकसित रूप से उपलब्ध होता है। Paul Deysseen लिखते हैं—''The Brahmanas had certainly been pondering it for sometime before the rise of Buddhism. In Post Buddistics writtings, notion of emancipation which pervades the philosophy of the Nyaya, the Sankhya, and the Vedanta, appears in a consistent form as distinct from that of heavenly enjoyment.

२. उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्—पितृलोकप्राप्ति तथा सत्यलोकोपलब्धि चित्त को एकाग्र करने के साधनों का अवान्तर फल है। मुख्य फल चित्त को एकाग्र करना ही है।

३. विविदिषन्ति—शङ्कराचार्य के कथनानुसार कर्मकाण्ड मुक्ति का साधन साक्षात् रूप से नहीं है, वह जिज्ञासा प्राप्त कराने मात्र में सहायक है।

ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं । वेदान्त के पाठकों के लिये 'ऋते ज्ञातान्न मुक्ति' यह सदाचार प्रक्रिया मोक्ष न होकर (मोक्ष के) साधन ज्ञान तक पहुँचाने वाली है । इसलिए ज्ञानकर्म का एकत्रीकरण का सिद्धान्त यहाँ माना नहीं है ।

४. नित्यादीनाम्—नैमित्तिक और प्रायश्चित्तादि कर्म इसमें सम्मिलित हैं । स्मृति कहती है—"**नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितच्छयम् ।**"

गीता भी कहती है—

"**स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. संसिद्धिं लभते नरः ।** (१८/४५)

नैष्कर्म्य सिद्धि में भी नित्य कर्म को सर्वोच्च ज्ञान के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है । वस्तुतः निर्मल मन ही ब्रह्म का अनुभव कर सकता है । नित्यादि कर्मों में बुद्धि में निर्मलता आती है ।

५ **यज्ञेन**—यज्ञ के साथ यहाँ पर स्वामी निखिलानन्द के अनुसार ये और भी हैं—'By gifts, by penance and by fasting.'

[१३] इदानीमुक्तलक्षणानां नित्यादीनामीश्वरार्पणतयानुष्ठीयमानानां परमफलं दर्शयति **एतेषां** इति । आदिपदान्नैमित्तिक प्रायश्चित्तयोर्ग्रहः । नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा बुद्धिशुद्धिहेतुत्वमिति द्रष्टव्यं निर्गतनिखिलकल्मषतयेत्युक्तत्वात् ।

"**नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्**" ।

इत्यादिस्मृतेः 'धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेश्च—चित्तशुद्धेः परमप्रयोजनत्वं परम्परया मोक्षसाधनत्वात् । तथा च स्मृतिः—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु" ॥

(गीता १८/४५, ४९)

इत्युपक्रम्य

असक्तबुद्धिः सर्वत्रजितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्य सिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥

इति तदुक्तम् । नैष्कर्म्यसिद्धावपि । "नित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मोत्पत्तिर्धर्मोत्पत्तेः पापहानिस्ततश्चित्तशुद्धिस्ततः संसारयाथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षत्वं

ततस्तदुपायपर्येषणं ततः सर्वकर्मसन्न्यासस्ततो योगाभ्यासस्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता ततस्तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थानं" इति । **उपासनानां तु** इति । तु शब्दः कर्मभ्य उपासनाया वैशिष्ट्यद्योतनार्थः । तस्यनित्याद्यनुष्ठानक्षपितकल्मषतया विशुद्धस्य चित्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येये ज्ञेये वा विषय ऐकाग्र्यं निश्चलत्वमित्यर्थः । सूक्ष्मार्थावधारण समर्थत्वमिति यावत् । पूर्वोक्त प्रकारेणानुष्ठीयमानानां नित्यादीनामुपात्तदुरितक्षयद्वारा शुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानहेतुत्वे प्रमाणमाह **विविदिषन्ति** इति । आदिपदात् "तपसानाशकेन" (बृह० ४।४।२२) इति वाक्यशेषग्रहः । विविदिषन्तीति विविदिषा सम्बन्धे विधिप्रत्यययोऽनुसन्धेयोऽपूर्वत्वात् । नहि यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानुवादत्वं वाक्यस्य कल्पेत् । ननु यज्ञादीनां "यावज्जीववाक्येनावश्यकर्तव्यतया प्राप्तानां विविदिषार्थत्वे नित्यानित्यसंयोगः प्रसज्येत् यदि च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमपरामृश्येत् ततः संसारव्यावृत्सूनां द्विरनुष्ठानं स्यादिति चेन्न खादिरादिवत्संयोगपृथक्त्वोपपत्तेः । न च तर्हि तेनैव न्यायेन कर्मणां मोक्षार्थत्वमपीति शङ्कनीयं ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणात् । तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र-३।४।२५) "अत एवाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा" इति । कर्मणां ज्ञानं प्रत्यारादुपकारकत्वं तु स्यात् "सर्वापेक्षा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" इति न्यायात् (ब्रह्मसूत्र-२६) । उक्तं च भाष्यकृद्भिः (शारी० भा०) "विविदिषासंयोगात्तु बाह्येतराणि यज्ञादीनि" इति । तत्रैव स्मृतिं संवादयति **तपसा** इति । आदिपदात् "कषायपक्तिः कर्माणि" इत्यादि स्मृत्यन्तरग्रहः ॥

---

१४. नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकं इत्यादिश्रुतेः ॥

अनुवाद—नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित एवं उपासना कर्मों का गौण फल तो उनसे पितृलोक तथा सत्यलोक की उपलब्धि है । 'कर्म के द्वारा पितृलोक तथा विद्या के द्वारा सत्यलोक (देवलोक) की प्राप्ति होती है । श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है ।

विद्योत्तमा—१. अवान्तरफलम्—जिस भाँति वृक्षारोपण का प्रधान फल फलों को प्राप्त करना है तथा आनुषङ्गिक फल छाया तथा गन्धादि प्राप्त करना

है, उसी भाँति नित्य-नैमित्तिक कर्मों का प्रधान फल चित्त की शुद्धि तथा अवान्तरफल पितृलोक की प्राप्ति है। उसी प्रकार उपासना कर्मों का मुख्य फल चित्तसमाधि तथा अवान्तर फल सत्यलोक की उपलब्धि है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र आम्रवृक्ष का रूपक प्रस्तुत करता है—

'आम्रे फलार्थे निमित्ते छायागन्धावनूत्पद्येते।'

२. सत्यलोक—ऊपर के सात लोकों में सबसे ऊपर स्थित समझा जाने वाला ब्रह्मलोक ही सत्यलोक है। सत्यलोक से यहाँ मोक्ष अभिप्रेत नहीं है।

३. विद्यया—विद्या शब्द का तात्पर्य यहाँ उपासना से है न कि मोक्ष के साधनरूप यथार्थ ज्ञान से। ज्ञान का फल मोक्ष है किसी भी लोक की प्राप्ति नहीं। यहाँ तो विद्या से देवलोक की प्राप्ति बताई गयी है अतः यहाँ विद्या से तात्पर्य उपासना है।

४. नित्यनैमित्तिक—इसमें प्रायश्चित कर्मों को छोड़ दिया गया है क्योंकि वे मृत्यु के बाद कोई परिणाम उत्पन्न नहीं करते हैं।

५. पितृलोक—यह भुवः लोक से सम्बन्ध रखता है।

६. ब्रह्मसूत्रभाष्य में शङ्कराचार्य ने लिखा है—"तत्र कानिचित् ब्रह्मणः उपासनानि अभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रममुक्त्यर्थानि, कानिचित् कर्मसमृद्ध्यर्थानि।"

छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य में उनका मत है "उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्ति सन्तानकरणं तद् विलक्षणप्रत्यानन्तरितमिति।"

आचार्य शङ्कर तथा सदानन्द योगीन्द्र के उपासना सम्बन्धी विचारों में कुछ थोड़ा अन्तर है। नैष्कर्म्यसिद्धि १।९२ में जिस प्रकार विशद विवेचन किया गया है। उससे सभी विचारों का समन्वय हो जाता है।

[१४] ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धितदैकाग्र्यफलकत्वे "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" (बृह० १।५।१६) "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा० २।२३।२) इति श्रुतिर्नित्यादीनां पितृलोकादिफलपरा पीड्यतेत्यत आह **नित्यनैमित्तकयोः** इति। अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात्। न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित्फलं श्रुतमस्ति। अन्ययोस्तु तच्छ्रूयत इति विशेषः। नित्यनैमित्तिकयोः

पितृलोकप्राप्तिरवान्तरफलमुपासनानां सत्यलोक प्राप्तिरिति विवेकः। "तद्यथा आम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावित्यनूत्पद्येते" (आप० १।७।२०।३) इति स्मृत्युक्त-छायागन्धवत्पितृलोकादिफलस्यावान्तरत्वमानुषङ्गिकत्वम्। तदुद्देशेन नित्यादेर-विधानाद्विविदिषासंयोगस्य च विधानाच्छुद्धेरेव महाफलत्वमिति भावः। ननु पितृलोकस्य कथं नित्यादिसाध्यत्वं श्राद्धादिकर्मसाध्यसाध्यत्वात्। देवलोकस्य च—

"अष्टाशीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
उत्तरेणार्यम्णः पन्था··· ··· ··· ···"॥

(विष्णुपुराण २।८।९३)

इत्यादिस्मृतेर्नैष्ठिकाद्यूर्ध्वरेतआश्रमधर्ममात्रसाध्यत्वावगमात्कुतो विद्याफलत्व-मिति चेदत्रपृच्छामः। किं श्राद्धादि नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म काम्यंवेति। आद्ये कथं न नित्यादेः पितृलोकः फलम्। द्वितीये त्वस्य विध्युद्देशफलेनैव निराकाङ्क्षत्वा-त्पितृलोकफलसम्बन्धाभावान्नापि विना विद्यामूर्ध्वरेतआश्रमधर्ममात्रेणोत्तरमार्गगमनं सम्भवति।

"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः"॥

इति श्रुतौ (शत० १०।५।४।१६) विद्याविरहिणामुत्तरमार्गनिषेधात्। निर्णीतं चैतदाचार्यैर्गुणोपसंहारपादे "अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्यां" (ब्रह्मसूत्र ३।३।३१) इत्यत्राधिकरणे स्मृतिर्नपुनरावृत्तिमूर्ध्वरेतसामाचष्टे किन्तु गमनमात्रम्। श्रुतौ तु देवलोकशब्दितब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्त्यभावोऽवगम्यते। "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तंनावर्तन्त" (छा० ४।१५।६) इति "तेषा-मिह न पुनरावृत्तिः" इति च (बृह० ६।१।१८, माध्य०)। यत्पुनरत्रेममिहेति च विशेषणात्कल्पान्तर आवृत्तिरवगम्यते तद्विद्यारहितानामनावृत्तिस्तु विद्यावतां समुक्त्यान्मानादिति रहस्यम्। नन्वेवं सति छान्दोग्यभाष्यविरोधस्तत्रहि महता संरम्भेण "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासत (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्नि-विद्यागतवाक्य व्याख्यानावसरे गृहस्थानां विद्यारहितानामनृतपैशुन्यमायादम्भा-ब्रह्मचर्यादिभिरसूतत्वान्नस्वधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिरस्ति। इतरेषां नैष्ठिकवानस्थ-तुल्य सन्न्यासिनां तु तद्विपरीतत्वात्पूततया स्वाश्रमधर्मनिष्ठामात्रेणोत्तरमार्गगतिर-पुनरावृत्तिलक्षणा भवेदित्याचार्यैरेव निरूपितम। "न तत्रदक्षिणा" इत्यादि श्रुतिः

परममुक्त्यपेक्षेति च व्याख्यातम्। तत्कुत एवं विभागवचनमिति चेत्सत्यम्। ऊर्ध्वरेतसामुत्तरमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं विद्यां विनापीत्येतावन्मात्रं तत्रोक्तं न पुनरात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिस्तत्र विवक्षिता।

"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते"।

(विष्णु पु० २।८।९६)

इत्यापेक्षिकामृतत्ववचनोदाहरणात्। गुणोपसंहारे च (शारी० ३।३।३१) "तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणं वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते (बृह० ६।२।१५) 'ते य एवमेतद्विदुर्येचामी अरण्ये श्रद्धासत्यमुपासत' इत्युदाहृत्य तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयं सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्" इति तैरेव व्याख्यातत्वात्। याज्ञवल्क्यश्चाह—

"सप्तर्षिनामवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः।
तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः॥
तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया।
तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूतसम्प्लवम्"॥

इति (याज्ञ० स्मृ० ३।१८७ (

तस्मादात्यन्तिक्यपुनरावृत्तिर्विद्यावतामेवेति युक्तं क्रममुक्तिहेतुत्वाद्विद्यायाः। न च तर्हि मुक्तेरेव विद्यायाः परमप्रयोजनत्वाच्चित्तैकाग्र्यस्य तदयुक्तमिति वाच्य सगुणब्रह्मविदस्तथात्वेऽपि निर्गुणब्रह्मविद्याधिकारिणः चित्तैकाग्रताया एव परमप्रयोजनत्वात्। तस्यापि साक्षात्कारोदयात्प्रागेव प्रमीतस्य ब्रह्मलोकगमनोपपत्तेः।

"प्राप्य पुण्यकृताल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः"।

(गीता ६।४१)

इत्यादि स्मृतेश्च। सगुणब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मलोकगतस्य तत्रत्यं भोगं विद्यान्तरफलं भुक्तवन्तस्तत्रोत्पन्नचित्तैकाग्र्यद्वारा स्वयम्भातवेदान्तवाक्यार्थज्ञानादेव मुक्तिरिति नियमात्। भवत्येव चित्तैकाग्रतोपासनायाः परमप्रयोजनमिति न किञ्चिद्दुष्यति। तस्मात् "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" (छा० २।२३।२) इति श्रुतेर्नित्यनैमित्तिकयोः फलवत्त्वस्य वाचनिकत्वात्तथात्वेऽप्युक्तलक्षणभेदेन काम्यवैषम्यात्फलविशेषस्य चाश्रुतत्वात्पितृलोकस्य च फलात्मनः कर्मविशेषाकाङ्क्षितत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन "कर्मणा पितृलोक" (बृह० १।५।१६) इति श्रुतिरुपपद्यते। काम्यप्रायश्चित्तयोः फलविशेषोद्देशेन पापक्षयमात्रार्थत्वेन च विधानात्फलान्त-

राकाङ्क्षाभावात्तथाङ्गावबद्धानामुपासनानां कर्मसमृद्ध्यर्थत्वादनङ्गावबद्धानामपि प्रतीकोपासनानामब्रह्मोपासनां चाभ्युदयफलत्वात्कार्यकारणब्रह्मोपासनानामवान्तर-फलं देवलोक-शब्द वाच्य-ब्रह्मलोक इति परिशेषात्सिद्धेर्युक्तं 'विद्यया देवलोक' (बृह० ६) इति वचनमित्यलं प्रपञ्चेन ॥

---

१५. साधनानि—नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागश-मादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षत्वानि ।

अनुवाद–नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से अनासक्ति, शमादि छः सम्पत्तियाँ तथा मोक्षप्राप्ति की कामना—ये (चार) साधन हैं ।

विद्योत्तमा—१. **साधनानि**—प्रतिपादित साधनों में से क्रमशः पूर्व–२ उत्तरोत्तर की उप्रलब्धि का साधन है । प्रथम नित्यानित्यवस्तु के विवेक के बिना फलभोगों से विराग नहीं उत्पन्न हो सकता तथा वैराग्य के बिना शम, दम उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा समाधानादि छः सम्पत्तियाँ नहीं प्राप्त हो सकती और इन छः सम्पत्तियों को उपलब्ध किये बिना मोक्ष की इच्छा नहीं होती, अतः क्रमशः पूर्व पूर्व साधन उत्तरोतर को प्राप्त कराने में साधनभूत हैं ।

[१५] साधनसन्पन्नः प्रमाताधिकारीत्युक्तं तत्र कानि साधनानि कियन्तीत्यपेक्षयां तानि विभजते **साधनानि** इति । विवेकमन्तरेण वैराग्यायोगाद्विवेकस्य प्राथम्यं न हीदं हेयमिदमुपादेयमिति विवेचनमन्तरेण हेयाद्राग निवृत्तिः सम्भवति । अतिनिवृत्तरागस्य शमाद्यभावाच्छमाद्यपेक्षया विरागस्य पूर्वमुद्देशः । शान्त्यादि-हीनस्य मुमुक्षायोगात्ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः । एतैस्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यम्भावात्तस्यां च सत्यां ब्रह्मजिज्ञासायां नियमेन प्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधनानीत्यभिप्रायः ॥

---

१६. नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद्ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिल-मनित्यमिति विवेचनम् ॥

अनुवाद—केवल ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अनित्य है ऐसा विवेचन नित्यवस्तुविवेक है ।

विद्योत्तमा—१. नित्यानित्यवस्तुविवेक—काल, स्थान आदि की सीमा जिन वस्तु को बद्ध नहीं कर सकती वह वस्तु नित्य है, इसके विपरीत काल की सीमा से बँधने वाली वस्तु अनित्य है। संसार की सभी वस्तुयें कालसीमा से बद्ध हैं अतः अनित्य हैं और ब्रह्म तीनों से बाधित न होने के कारण नित्य है। ब्रह्म का नित्य होना श्रुतियों के वचनों द्वारा निम्न रूपों से सिद्ध है—

(क) नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्।
(ख) अजो नित्यः शाश्वतः।
(ग) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।
(घ) आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः।

ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य हैं, इसमें निम्न श्रुति वाक्य प्रमाण हैं—

(अ) यो वै भूमा तदमृतम्, यदल्पं तन्मर्त्यम्।
(आ) नेह नानास्ति किञ्चन।
(इ) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत्।

२. नित्यानित्यवस्तुविवेक—यह प्रथम साधना है।

[१६] विवेकादीन्युद्देशक्रमेण लक्षयति **नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत्** इत्यादिना। नित्यत्वं नाम कालानवच्छिन्नत्वमनित्यत्वं नाम तद्विपरीतत्वम्। न स्थास्यतीति लोकान्तरगभयोर्व्यवहारायोग्यं नित्यंतद्विपरीतमनित्यमिति वा। तथा च नित्यानित्ये च ते वस्तुनी च नित्यानित्यवस्तुनी तयोर्विवेक इति विग्रहः। केचित्तु नित्यानित्ययोर्वसितुं शीलं ययोस्ते नित्यानित्य वस्तुनी नित्यत्वमनित्यत्वं च तयोः साश्रययोर्विवेको नित्यानित्य वस्तु विवेक इत्याहुः। स चापाततोऽधिगतवेदार्थस्यानुमानकुशलस्यब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमचेतनमनित्यमिति विवेको भवति। तथाहि। "यस्मादर्वाक् संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते तदेव ज्योतिषां ज्योतिः" (बृह० ४।४।१६) "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं" (मुण्ड० १।१।६) "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः", "अजोनित्यः शाश्वतः" (कठ० २।१८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० २।१।६) "ब्रह्म रातेर्दातुः परायणं" (बृह० ३।९।२८) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छा० ७।२४।१) "यो वै भूमा तदमृतं" (छा०, ९) इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मणि नित्यत्वं

विशुद्धसत्त्वस्य पुंसः प्रतिभाति । तथा "नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" (बृह० १।२।१) "आत्मा वा इदमेव एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत्" (ऐत० १।१) "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" (छा० ६।२।१) "नेति नेति" "नेहनानास्ति किञ्चन (बृह० २।३।६ तथा ४।४।१९ क्रमशः) "यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं (छा० ७।२४।१) "अथ यदल्पं तत्मर्त्यं" इत्यादि श्रुतिवचनेभ्यो ब्राह्मणोऽन्यत्र भेदप्रपञ्चेऽनित्यत्वं च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति । तथानुमानमपि "विमतोऽचेतनवर्गोऽनित्योविभक्तत्वाद्घटपटस्तम्भादिवत्" इति । अनेन हि विभक्तस्यनित्यत्वेऽवगते तस्मिन्ननुगतप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणोऽविभक्तस्य नित्यत्वमप्यर्थादवगच्छति आकाशादेश्चोत्पत्तिमत्त्वसाधनेनानित्यत्वमुत्तरत्र वर्णयिष्यामः । न चैवं श्रुत्यनुमानाभ्यां विवेके सति ब्रह्मणो विज्ञातत्वादलं विचारेणेति वाच्यमापाततो नित्यं वस्तु ब्रह्मेत्यवगमेऽपि तस्याद्वितीयत्वत्यगभिन्नत्वादेरनिर्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेः । इत्यास्तां विस्तरः ॥

---

१७. ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयानित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः—इहामुत्रार्थफलभोगविरागः ॥

अनुवाद—इस लोक के माला, चन्दन, स्त्री आदि विषयों के भोग तो कर्मजन्य होने के कारण अनित्य हैं, उसी प्रकार उस लोक (परलोक) के अमृतादि विषयों के भोग भी (कर्मजन्य होने के कारण) अनित्य होंगे ऐसा निश्चय करके ऐहलौकिक और पारलौकिक उन वस्तुओं से उदासीन होने को इहामुत्रार्थफलभोगविराग कहते हैं ।

विद्योत्तमा—१. कर्मजन्यतया—'यत्-यत् कर्मजन्यम् तत् तत् कार्यम्' और 'यत् यत् कार्यं तत्-तत् अनित्यम्' अर्थात् जो कर्म से उत्पन्न होता है वह कार्य है और जो कार्य है वह अनित्य होता है ।

२. इहामुत्रार्थफलभोगविरागः—'इह अमुत्र अर्था एव फलं तस्य भोगः तस्मात् विरागः' इस वृत्ति के अनुसार इस लोक में तथा परलोक में प्राप्त होने वाले सुन्दर पदार्थ ही कर्म से उत्पन्न होने के कारण फल हैं, उन फलों का भोग करने के प्रति विरक्तियुक्त बुद्धि का न होना ही इहामुत्रार्थफलभोगविराग है। विरागोत्पत्ति के लिये यहाँ पर जो युक्ति बताई गई है, वह निम्न श्रुतिवचन का अनुवादस्वरूप है—

'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।'

३. **अमृतादि**—अमृतादि विषय स्वर्ग से प्राप्त होते हैं जिनका उपभोग जब तक पुण्य रहते हैं होता है तथा पुण्यक्षीण होने पर जीवात्मा को पुनः मर्त्यलोक में आना पड़ता है और नया जन्म ग्रहण करना होता है।

४. **अनित्यतया**—छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट कहता है "यत् तथा इह कर्मजितः लोक क्षीयते एवमेव अमुत्रपुण्यजितः लोकः क्षीयते।"

५. **विराग**—यह साधना का द्वितीय पग है।

६. **ऐहिकानां**—पञ्चभौतिक शरीर से सम्बन्धित।

[१७] **ऐहिकानां** इति। इहलोकभवा ऐहिकाः प्रतिपन्न शरीरसम्बन्धिनः स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रभृत्यादिविषयजन्य सुखरूपा भोगाः कृषिसेवा प्रतिग्रहादिकर्मजन्या अनित्या यथा दृष्टा एवमामुष्मिका अप्यमृतादिविषय सेवाजन्यानन्दा यागादिकर्मजन्यत्वादनित्या भवितुमर्हन्तीति निश्चित्य तेभ्यो नितरां छर्दि वाचकज्जुप्सेहामुत्रार्थ फलभोग विराग इत्यर्थः। अयं भावः। सुखं मे निरतिशयं भूयाद्दुःखं मे माभूदणुमात्रमपीत्यखिलप्राणिनामस्त्यभिनिवेशः। ते चैवमभिनिविष्टाः पुरुषकारावलम्बनेन सर्वोत्साहं यतन्तोऽपि न लभन्ते सुखमात्यन्तिकं दुःखाभावं च। कथम्। केचित्समुद्रयानराजप्रीणनाद्यतिकष्टमनुभूय फलकाले स्वयं नश्यन्ति। केचित्प्राप्तफला अपि व्याध्याद्यपद्रुताः सन्तो भोगं न लभन्ते। केचित्तु प्राप्तेद्धोगा अपि भोग्यभार्यापुत्रादिविनाशाद्वा तद्विसम्वाद्वान्यैर्वा सह स्पर्धा सूयादिभिः सञ्चितभोग्यजातस्य क्षय भयेनानावृष्ट्यादिचिन्तासन्तापादिभिश्च क्षणमपि सुखमलभमानाः कष्टा दरिद्राः काणकुब्जक्लीबबधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिता बहुलमुपलभ्यन्ते। एवं दुःखबहुले संसारे सुखलवमात्रमनुभवन्नपि कृपणवद्विशुद्धचित्तो न सज्जते किन्तु विरज्यत एवेति। नन्वस्त्वेवमैहिकं सुखमनित्यत्वादिदोषदुष्टत्वाद्विरागास्पदं तथापि न पारलौकिकादपि विरक्तिरुपपद्यते क्षयिष्णुत्वानुमानस्य "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" (शत० २।६।३।१) इति श्रुतिबाधितविषयस्यानुत्थानादिति चेन्नैवम्। "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयत" इति (छा० ८।१।६) श्रुत्या वस्तुबलावलम्बनेनप्रवृत्तयानन्यपरया सापेक्षाक्षय्यफलविषयकायाः प्रशस्तलक्षणायाः विध्येकवाक्यत्वेनान्यपरायास्तस्या एव बाधितत्वात्। न हि जन्यं नित्यं भावरूपं

इष्टमत ऐहिकभोगवदेवाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैराग्यमुपपद्यत इति । तदुक्तं भगवता व्यासेन—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥" इति (महाभा०)

---

१८. शमादयस्तु—शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः ॥

विद्योत्तमा—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा आदि शमादि षट्क सम्पत्ति हैं ।

विद्योत्तमा—१. शमादि—जिस प्रकार भूख-प्यास शान्त करने के लिये जल-अन्न हैं और भूखे तथा प्यासे प्राणी का चित्त बार-बार पानी की ओर दौड़ा करता है, उसी भाँति तत्त्वज्ञान के साधन श्रवण, मनन इत्यादि हैं। यहाँ 'आदि' शब्द से 'शम' की भाँति दम, उपरति आदि अभिप्रेत हैं ।

इन गुणों के अभाव में मुमुक्षु मोक्ष की अत्यन्त अपेक्षा की अनुभूति नहीं करता है । बिना तीव्रमुमुक्षा के मोक्ष की प्राप्ति दुस्तर ही रहती है ।

---

१९. शमस्तावत्—श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः ॥

अनुवाद—उनमें से श्रवण आदि के अतिरिक्त सांसारिक विषयों से (उस ओर प्रवृत्त होने वाले) मन को रोकने वाली वृत्ति शम कहलाती है ।

विद्योत्तमा १ शम—श्रवण-मनन आदि को छोड़कर अन्य सांसारिक विषयों में बार-बार दौड़कर जाते हुए मन को एक विशिष्ट प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है । इसी मनोनियन्त्रणकर्त्री वृत्ति को शम कहते हैं ।

२. निग्रह—शम मन का वह विशिष्ट वृत्ति अथवा व्यापार है, जो मन को भौतिक विषयसुखों के पीछे भागने से रोकता है ।

३. श्रवणादि—वेदशास्त्रों का अध्ययन, श्रवण, चिन्तन और आचरण ।

४. भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'शम' को ब्रह्मज्ञान के लिए अत्यावश्यक कहा है । यथा—"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।" (गीता ६।३)

---

२०. दमः—बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम् ।

अनुवाद—उन (वेदाध्ययनादि विषयों) से अतिरिक्त विषयों बहिरिन्द्रियों को रोकने को दम कहते हैं ।

विद्योत्तमा—१. दम—ब्रह्म के साक्षात्कार के साधन रूप श्रवण-मनन आदि से अतिरिक्त विषयों से नेत्र, कर्ण आदि बहिरिन्द्रियों को हटा लेना ही दम कहा जाता है। दम को श्रीकृष्ण ने गीता में ब्रह्मज्ञान का हेतु कहा है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

२. बाह्येन्द्रिय—ये दो प्रकार की होती हैं—कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय।
पाँच कर्मेन्द्रिय—पाणि, पाद, पायु, उपस्थ तथा मुख एवं—
पाँच ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण एवं रसना अन्तरिन्द्रिय **हैं**, दम का अर्थ है मन का वह कार्य जो बाह्येन्द्रियों को उनके विषयों से लौटाता है।

[१८–२०] शमादीन्विभजते **शमादय** इति। मनसो बहिः प्रवृत्तौ बाह्येन्द्रियाणां द्वारत्वा तन्निरोधमन्तरेण मनोनिग्रहाशक्तेर्मदमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादग्निहोत्रयवागूपाकवत्। मनसोऽन्तःकरणस्य निग्रहो विषयेभ्यो बलादाकर्षण शम इत्येतावत्युक्ते श्रवणादि विषयेभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो निग्रहस्य ज्ञानानुकूलत्वाभावादानर्थक्यमित्याशङ्क्य निग्रहं विशिनष्टि श्रवणादीति। मननादिसङ्ग्रहार्थमादिपदम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्।

---

२१. निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणमुपरतिरथवाविहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः॥

अनुवाद—इन (बाह्य विषयों) से नियन्त्रित की गई इन्द्रियों को (ब्रह्मातिरिक्त) विषयों से निरोध उपरति है अथवा शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार त्याग उपरति कहलाता है।

विद्योत्तमा—१. विहितानः कर्मणां विधिना परित्यागः—वेदविहित कर्मों को संन्यास लेते समय अश्रद्धा के कारण मनमाने ढंग से त्याग नहीं किया जाता, अपितु शास्त्रोक्त विधि से परित्याग किया जाता है। इसका कारण है कि कर्मों के परित्याग की विधि श्रुतियों तथा स्मृतियों में कही गई है। मनुस्मृति कहती है—

'प्रजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणो प्रव्रजेद् गृहात्॥'

२. उपरतिः—शमादिकों की भाँति संन्यास भी आत्मज्ञान का अन्तरङ्ग साधन होने से मुमुक्षु के लिये यह भी आवश्यक है। इस विषय में 'नैष्कर्म्य-

सिद्धि परमां संन्यासेनाधिगच्छति' गीता वाक्य तथा 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है। यज्ञादि कर्मों में विक्षिप्त मन रहने से तथा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व इत्यादि विपरीत भावनाओं के बने रहने तक भली प्रकार वेदान्त के अर्थ का विचार न हो पाने से श्रुतिस्मृति के वचनानुसार कर्त्तव्यरूप आत्मज्ञान के अङ्गभूत संन्यास को उपरति कहते हैं।

वस्तुतः उपरति मन का वह कार्य है, जो दमित इन्द्रियों को उनके विषयों में पुनः जाने से रोकता है। वस्तुतः उपरति शम तथा दम से 'अत्यल्प अन्तर रखती है।

३. **परित्याग**—श्रुतियों तथा स्मृतियों में संन्यास का समर्थन है—

(१) **संन्यासंयोगात् यत् यः शुद्धसत्त्वः।** (मुण्डकोपनिषद्)।

(२) **त्वम्पदार्थ विचाराय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।** (उपदेशसाहस्री)

(३) **प्रवृत्तिलक्षणः योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।**
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥

(४) **यत् अहरेव विजरेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।** (जाबाल०)

[२१] तद्व्यतिरिक्तेत्यत्रश्रवणादिस्तच्छब्दार्थः। निवर्तितानां तेषां बाह्यान्तरिन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरमणं पुनर्विषयप्रवृत्त्यनुत्साहकरणेन स्थिरीकरणमुपरतिरित्यर्थः। ननु शमदमयोर्लक्षणाभ्यामिदमुपरतिलक्षणं सङ्कीर्णं प्रतिभाति बहिः प्रवृत्तेन्द्रियव्यापारनिरोधात्मकस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात्प्रकारान्तरेणोपरतिं लक्षयति अथवेति। विहितानामवश्यकर्तव्यतया चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधिना "तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति"—(जाबाल० ४)

"प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्त्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्"॥

(मनु० ६।३८)

इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण परित्यागः परिव्रजनं संन्यास उपरतिरित्यर्थः। शमादिवत्संन्यासोऽप्यात्मज्ञानान्तरङ्गत्वादवश्यं मुमुक्षुणानुष्ठेयः। तथा च श्रुतयः—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (महाना० १०।५)

"वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थःसंन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः॥"

(मुण्ड० ३।२।६)

"एतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" (बृह० ४।४।२५ माध्य०) "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृह०, २६) "तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" (महाना० २१।२) इत्याद्याः ।

स्मृतयश्च—

"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति" ॥ (गीता १८।४९)

"त्वम्पदार्थविचाराय संन्यासः सर्वकर्मणाम्" ॥

(उपदेशसहस्री १८, २२२)

"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वपुर्वयश्च ।
धर्मस्य यागादि दया दमश्चमोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः" ॥

(संक्षेपसारी० ३—३६६)

"प्रवृत्ति लक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् ।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्न्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥ (महाभारत १९)

इत्यादयः न्यायश्च पुरुषस्योद्देश्यसिद्धये यदुपयुक्तमविरोधि च तदुपादेयं विपरीतं तु हेयमिति । तदिहब्रह्मात्मजिज्ञासूनां वेदान्तविचारे क्रियमाणे न कर्मणामुपयोगो विनापि कर्म तदनुष्ठानसिद्धेः । नाप्यविरोधः । कर्मविक्षिप्तचित्तस्य वेदान्तार्थ निर्णयासक्तेः कर्मणां विचारविरोधित्वात् । न ह्यपेतब्रह्मक्षत्राद्य कर्तृभोक्तृब्रह्माहमस्मीत्यात्मनि विचार्यमाणे ब्राह्मणाद्यध्यासविशिष्टात्मप्रतिपत्त्यधीनेषु कर्मस्वधिकारो न विरुध्यते येनात्मजिज्ञासुना कर्माणि न त्यक्तव्यानि स्युः । तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मज्ञानाङ्गतया यः सन्न्यासः कर्तव्यतया प्राप्तः सोपरतिरिति भावः ॥

---

२२. तितिक्षा—शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता ॥

अनुवाद—सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को (शरीरधर्म समझकर) सहना तितिक्षा है ।

विद्योत्तमा—१. तितिक्षा—सर्दी-गर्मी, मान-अपमान तथा सुख-दुःख आदि और इसी भाँति अन्य द्वन्द्व सबको यह समझ कर कि यह तो शरीर धर्म है, आत्मा को यह सर्दी-गर्मी कुछ नहीं । इस प्रकार के ज्ञान से सबको सहन कर लेना तितिक्षा कहलाती है ।

क्योंकि शीतोष्णादि शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा से नहीं, आत्मा इन सबसे स्वतन्त्र है। विवेकचूड़ामणि कहती है—

"सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकं चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।" गीता २।१४ कहती है—

"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय: शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तान् तितिक्षस्व भारत॥"

वस्तुतः विवेकरूपी दीपक से मिथ्या होने पर भी भासित होने वाले द्वन्द्वों का मर्षण ही तितिक्षा है।

[२२] शीतोष्णादीत्यादिपदान्मानापमानलाभालाभशोकहर्षादिग्रहः।

---

२३. निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः—समाधानम्॥

अनुवाद—वशीभूत मन को श्रवणादि एवं उसके अनुरूप विषयों मे लगाने को समाधि कहते हैं।

विद्योत्तमा—१. तदनुगुणविषये—उसके अनुरूप बताये गये विषय में अर्थात् गुरु-भक्ति अथवा विनय के आचरण में सदा चिन्तन करना समाधान है।

२. **समाधानम्**—मन के वश में हो जाने पर उसे श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन में एकाग्र कर देना अर्थात् अनवरत रूप से नित्य इन्हीं का चिन्तन करना समाधान है। गीता में श्रीकृष्ण कहते भी हैं—

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।'

२. **श्रवणादौ**—गुरु-सेवा, वेदान्तग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका रक्षण। नृसिंहसरस्वती ने अभिमान का अभाव आदि को भी ग्रहण किया है। गीता में सात्त्विक सम्पत्ति का ग्यारहवें अध्याय में बड़ा सुन्दर वर्णन है। समाधान के लिये अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है। श्रुति कहती है—

"दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिग्रहेत् शेषं विसृजेत्।"

[२३] श्रवणादावित्यत्रादिशब्दो मननादिसङ्ग्रहार्थः। तदनुगुणेत्यत्र गुरुशुश्रूषा पुस्तक सम्पादन तद्रक्षणादिः श्रवणाद्यनुगुणो विषयो निर्दिश्यते। न पुनः सुखवासद्रव्यान्नादिसङ्ग्रहादेरपि श्रवणाद्यनुकूलत्वात्तदर्थं महारम्भप्रतिग्रहादावपि चित्तसमाधिः कर्त्तव्य इहोपदिश्यते "दण्डमाच्छादनं कौपीन परिगृहेच्छेषं विसृ-

जेत्" (आरुणेय उप० १।२) इतिसंन्यासकाले त्याजितस्य दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य प्रतिप्रसवशास्त्रं सङ्ग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः। समाधिरैकाग्र्यं तत्परत्वमिति यावत् ॥

२४. गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः—श्रद्धा ॥

अनुवाद—आचार्य के द्वारा उपदेश में दिये गये वेदान्त के वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा है।

विद्योत्तमा—श्रद्धा—गुरु द्वारा कहे हुए वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है। इसके बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। गीता भी कहती है—

'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'

श्रद्धा सारे पापों से छुड़ाने वाली है—

'अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी।' (महाभारत)

वस्तुतः श्रद्धा के विषय में महाभारत तथा गीता में अनेक स्थलों पर कहा गया है बिना श्रद्धा के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यन्त कठिनाई है—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः योयत् श्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)

श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि भी असत् कहलाते हैं यथा—

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ०।" (गीता १७।२८)

जैकब तथा प्रोफेसर कार्वल ने श्रद्धा को ईसाई मत की देन कहा है किन्तु विचारणीय तो यह है कि गीता पहले लिखी गई है कि ईसा पहले पैदा हुआ है।

[२४] गुरुवेदान्तादीत्यादिपदात्स्मृतीतिहासपुराणानां ग्रहः विश्वास इदमित्थमेव नान्यथेति गुर्वादिवाक्येषु नियता बुद्धिः सा श्रद्धेत्यर्थः।

---

२५. मुमुक्षुत्वं—मोक्षेच्छा ॥

अनुवाद—मोक्ष की कामना ही मुमुक्षुत्व है।

विद्योत्तमा—मुमुक्षुत्वम्—ग्रन्थकार की मोक्षेच्छा को मुमुक्षुत्व कहने पर आक्षेप करते हुए जैकब कहते हैं—"This is an inexact definition."

क्योंकि मुमुक्षु का अर्थ होता है मोक्ष की इच्छा वाला, अतएव मुमुक्षुत्व का अर्थ होगा मोक्ष की इच्छा वाला होना।

जब मुमुक्षु उपरिलिखित तीन साधनाओं से युक्त हो जाता है तब वह मोक्ष की अत्यन्त प्रबल इच्छा रखता है तथा वह अपने आध्यात्मिक गुरु से निरपेक्ष सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥'

आगे बृहदारण्यक पुनः कहता है—

"अथा कामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामाः।"

वस्तुतः आत्मकाम पूर्ण निष्काम होने से सभी कामनाओं से विमुक्त ही माना जायेगा।

[२५] चरमं साधनं लक्षयति मुमुक्षुत्वमिति। मोक्षोनाम विद्यानिरस्ताविद्यातत्कार्यब्रह्मात्मनावस्थानम्। तद् विषयेच्छा मोक्षेच्छा तद्वत्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः।

---

२६. एवम्भूतः प्रमाताधिकारी "शान्तो दान्त" इत्यादि श्रुतेः। उक्तञ्च–

"प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायोनुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षुव॥" इति।

अन्वय—प्रशान्तचित्ताय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्तकारिणे, गुणान्विताय, अनुगताय, च मुमुक्षवे एतत्सकलं सर्वदा प्रदेयम्।

शब्दार्थ—प्रशान्तचित्ताय = शान्त चित्त वाले के लिये। **जितेन्द्रियाय** = ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों को अपने वश में करने वाले के लिए अर्थात् इन्द्रियों को वशीभूत (जीतने) करने वाले के लिए। **प्रहीणदोषाय** = जन्म-जन्मान्तरों में किए हुए पापों से रहित व्यक्ति के लिए, अर्थात् जिसके पाप-समूह नष्ट हो गये हों, उसके लिये अतः निर्मल अन्तःकरण वाले के लिए। **यथोक्तकारिणे** = वेद तथा शास्त्रों में कथित नियमों के अनुसार आचरण करने वाले के लिए। **गुणान्विताय** = दया-दाक्षिण्य, विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा आदि गुणों से युक्त व्यक्ति के लिए। **अनुगताय** = श्रद्धायुक्त के लिए। **मुमुक्षवे** =

मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले के लिए। **एतत्सकलम्** = यह समस्त आत्म सम्बन्धी ज्ञान। **प्रदेयम्** = देना चाहिये अथवा देने योग्य है।

अनुवाद—इस प्रकार का प्रमाता ही अधिकारी है। श्रुति के अनुसार—'शान्त दान्त हो'। जैसा कि कहा गया है—

प्रशान्त चित्त वाले, वशी, निर्दोष, (काम्यादि निर्दिष्ट कर्मों को करने वाले, विवेकादिगुणसम्पन्न, आचार्यानुगामी, मोक्षप्राप्ति की कामना वाले व्यक्ति को यह (आत्मज्ञान) सदा ही देना चाहिये।

विद्योत्तमा १. एवम्भूतः—इस प्रकार का शम-दम आदि गुणों और नित्यानित्यविवेक, इहामुत्रार्थफलभोगविराग, षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षत्व आदि चार साधनों से सम्पन्न व्यक्ति (इस वेदान्तसार को पढ़ने का अधिकारी है)।

२. शान्तो दान्त—ये श्रुति शमादि षट्क सम्पत्ति को शास्त्रसम्मत प्रमाणित करने के लिए उद्धृत की गई है तथा काण्व, माध्यन्दिन शाखाओं में प्राप्त होती है। काण्व शाखा के बृह० उप० में इस प्रकार का पाठ है—

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।'

प्रस्तुत पाठ के 'समाहितो भूत्वा' के स्थान पर माध्यन्दिन शाखा में 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' यह पाठ प्राप्त होता है। वेदान्तसार कर्त्ता ने दोनों का समन्वय कर दिया है और शमादिषट्कसम्पत्ति कहा है।

३. प्रशान्तचित्ताय—जिसका चित्त लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में सर्वथा भ्रमरहित होकर शान्त हो गया हो, वह प्रशान्तचित्त जीव (वेदान्तसार का अधिकारी है)।

४. यथोक्तकारिणे—शास्त्रों द्वारा विहित कर्मों को शास्त्रों के कथनानुसार ही करने वाला तथा शास्त्रों में वर्ज्य कहे गये (काम्य एवं निषिद्ध) कर्मों को शास्त्र-निषेध होने से उन्हें न करने वाला जीव यथोक्तकारी है (उसे ही यह आत्मज्ञान देना चाहिये।

५. अधिकारी—वेदान्तसार के एक व्याख्याकार के अनुसार केवल संन्यासी ही वेदान्त ज्ञान के अधिकारी हो सकते हैं क्योंकि गृहस्थ का जीवन विविध कर्त्तव्य कर्मों में व्याप्त रहने से उसके पास वेदान्त ज्ञान के लिये आवश्यक पर्याप्त समय नहीं रहता है, क्योंकि मुमुक्षु के लिये एक दीर्घ साधना का

विस्तृत वर्णन सर्वत्र किया गया है। प्राचीन काल में पश्चिम में पाइथागोरस के लिये इसी प्रकार की साधना आपेक्षित कही गई थी—

"History of Philosophy" में Lewes ने बड़ा विशद् वर्णन किया है।

६. गुणान्वितय—सद्सद् विवेक, त्याग और क्षमा आदि।

७. प्रशान्तचित्ताय—यह पद्य उपदेशसाहस्री से उद्धृत है जो आचार्य शङ्कर लिखित कही जाती है।

[२६] ननु—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति................" ॥ (बृह० ४।४।७)

इति श्रुतेः सर्वकामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात्कथमिच्छाधिकारिविशेषणमिति नेन्नायं दोषोऽनात्मविषयेच्छाया एव कामत्वात्तभिप्रायाश्रुतिः। मोक्षेच्छायास्तु आत्मविषयतयाकामत्वात् "अथाकामयमानो योऽकामोनिष्काम आत्मकाम" (बृह० ४।४।६) इति श्रुतेरात्मकामस्याप्तकामत्वेनाकामत्वावगमादिति। विद्याधिकारिणः। शमादिसाधनत्वे श्रुतिं प्रमाणयति **शान्तो दान्त** इति। "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति" इति काण्वाः पठन्ति (बृह० ४।४।२३) समाहित इत्यस्य स्थाने "श्रद्धावित्तो भूत्वे"ति माध्यन्दिनाः। तदुभयपाठानुरोधेन गुणोपसंहारन्यायमाश्रित्येह शमादयः षण्निर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम्। शमादेर्विद्या हेतुत्वं, श्रीभगवानप्याह—

"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" ॥ (गीता—६।३)
".........अशान्तस्य कुतः सुखं"। (गीता—२।६६) तथा।
"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥ इति (गीता२।५८)
"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" ॥ इति (गीता १८।६६)
"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत" ॥ इति (गीता २।१४)
"समाधावचला बुद्धिः..............." ॥ (गीता २।५३)
"मय्येव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय" ॥ इति गीता ८।८)
"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः" ॥ (गीता ५।३९)

"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति" इति च (गीता ४।४०) मुमुक्षुत्वेऽपि—

"मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" ॥ (श्वेता० ६।१८)

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी" (गीता १५।४)

इति श्रुतिस्मृती द्रष्टव्ये । एवं विशेषणविशिष्टो वेदान्ताधिकारीतिनिरूपितेऽर्थेऽभियुक्तवचनमुदाहरति उक्तं च । प्रशान्तं इति । प्रशान्त चित्ताय शान्ताय । जितेन्द्रियाय दान्ताय । प्रहीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय । यथोक्तकारिणे काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्याद्यनुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये । गुणान्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय । सर्वदागुरुमनुगताय श्रद्धालवे । एवं भूताय मुमुक्षव एतदात्मज्ञानं सततम् । गुरूणा देयमिति श्लोकार्थः ॥

---

२७. **विषयः—जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्र एव वेदान्तानां तात्पर्यात् ॥**

अनुवाद—(इस वेदान्तसार का) विषय—जीव और ब्रह्म का एक होना (सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्वादि) विरुद्ध धर्मों से विमुक्त शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है । वही वेदान्तवाक्यों का लक्ष्य है ।

विद्योत्तमा—१. जीवब्रह्मैक्यम्—जीव और ब्रह्म का आत्यन्तिक भेद ही अद्वैतवाद का सार है । विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जीवों की ब्रह्म से भिन्न अपनी अलग सत्ता है । सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व माया द्वारा आरोपित हैं, वास्तविक नहीं हैं । उपाधियों के कारण प्रतिभासित होनेवाले मिथ्या भिन्नत्व को हटा देने पर केवल चैतन्यांश शेष रहता है, वही पारमार्थिक है तथा ईश्वर और जीव में अभिन्नत्व (ऐक्य) है, इसलिये दोनों में पूर्ण अभेद है ।

२. शुद्ध चैतन्यम्—जीव और ब्रह्म का स्वरूप शुद्ध चैतन्य है । चैतन्य की शुद्धता सब धर्मों से अतीत होना और एक रूप होना है । प्रतीत होने वाले धर्म आरोपित होने से मिथ्या हैं । दूध और पानी मिल जाने पर भी यान्त्रिक

उपायों से दोनों को अलग-अलग किया जा सकता है, लेकिन ब्रह्म तथा जीव में शुद्ध चैतन्यरूप होने के कारण तत्त्वतः ऐक्य है। उनमें प्रतीयमान भेद औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। अज्ञान की उपाधि नष्ट हो जाने पर जीव का जीवत्व नष्ट हो जाता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

३. **प्रमेय**—प्रमा का आधार प्रमाणों से जाना जाने वाला विषय प्रमेय है; किन्तु प्रमाण केवल भौतिक विषयों के ही साधन हैं। ब्रह्म अभौतिक होने से प्रमाणसाध्य नहीं हो सकता तथा प्रमाणसाध्य न होने से वह प्रमेय भी नहीं हो सकता। अतः स्वामी रामतीर्थ ब्रह्म को ज्ञातव्य कहकर ज्ञान का विषय मानते हैं जो वेदान्त परिभाषा के अनुसार उचित है। 'अज्ञातं ब्रह्मविषयः ज्ञातं ब्रह्मप्रयोजनम्'। प्रस्तुत वाक्य वेदान्त परिभाषा में कहा गया है।

४. **विषय**—ये दूसरा अनुबन्ध है।

५. **वेदान्ततात्पर्य**—कपिल और कणाद आदि दार्शनिकों ने वेदान्त का तात्पर्य प्रधान के अस्तित्व को सिद्ध करना स्वीकार किया है, किन्तु वेदान्त स्पष्ट रूप से सर्वाङ्गीण विचार करने पर प्रतीत होता है कि वह ब्रह्म को पारमार्थिक सत् सिद्ध करता है। कठोपनिषद् कहता है—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।"

६. वस्तुतः समस्त वेदान्त वाक्यों में 'ग्रीवास्थग्रैवेयक' न्याय से जीव और ब्रह्म की आत्यन्तिक एकता ही प्रतिपाद्य है। गीता भी कहती है—

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।"

७. बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः।"

[२७] तदेवमधिकार्यानुबन्धो निरूपितः। इदानीं विषयानुबन्धं व्यपदिशति **विषय** इति। क्षीरनीरवत्परस्परविभिन्नयोः समानाभिहारस्यैक्यशब्दार्थत्वाज्जीवब्रह्मणोरपि स्वरूपतो भिन्नयोरैक्यं मिश्रीभाव इति शङ्का स्यात्साभूदिति व्याचष्टे शुद्धचैतन्यमिति। चैतन्यस्य शुद्धत्वं सर्वधर्मातीतत्वमेकरसत्वम्। ननु कथं शुद्धचैतन्यस्य विचारविषयत्वं यावता प्रागपि विचारात्तत्स्वप्रकाशं स्वयमेवावभासत इत्याशङ्क्य स्वरूपेणावभासमानत्वेऽपि परिपूर्णसच्चिदानन्दप्रत्यक्स्वरूपतयाज्ञायमानत्वाद्विषयत्वोपपत्तिरित्यभिप्रेत्याह प्रमेयमिति। प्रमेयत्वमज्ञातत्वम्। अयं भावः। ब्रह्मात्मवस्तुनो विषयस्यात्यन्ताप्रसिद्धौ न विचारप्रवृत्तिः सम्भवत्युद्देश्यविषया-

प्रसिद्धेः । तथा यथावत्प्रसिद्धौ च न विचारप्रवृत्तिरनुपयोगात् । तथा च केचिद्रूपेण प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्यविचारेण तद्याथात्म्यं निर्णेयम् । तदिह ब्रह्मपदस्य निरतिशयमहत्त्ववति सामान्येन प्रसिद्धत्वात्मपदस्य च प्रतीचि सामान्येन प्रसिद्धेः "अयमात्मा ब्रह्म" (बृह० २।५।१९) इत्यादौ समभिव्याहारादैक्यस्याप्यापाततः प्रसिद्धेस्तद्विशेषस्य च पारोक्ष्यसद्वयत्वाद्यनधिकरत्वस्य देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहंकृतिविलक्षणतत्साक्षिप्रत्यगभिन्नसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मरूपत्वस्य चाप्रसिद्धेः सामान्यतः प्रसिद्धवस्तूद्देशेन तद्विशेषनिर्धारणाय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति । यद्वा । परोक्षतः प्रसिद्धं ब्रह्मात्मवस्तूद्दिश्य तत्स्वरूपसाक्षात्काराय विचारप्रवृत्त्युपपत्तिरिति । तथा च श्रुतिः । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" (बृह० २।२।५) इत्यात्मसाक्षात्कारमनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणमनुष्ठेयं विधत्ते । स्मृतिरपि—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः" ॥ इति ।

ननु प्रधानादीनामपि कपिलकणादादिस्मृतिसिद्धानां वेदान्तवाक्यविषयत्वात्कथं जीवब्रह्मैक्यस्य विषयत्वसङ्कीर्तनमिति तत्राह तत्रैवेति । उपक्रमोपसंहारादिभिर्लिङ्गैर्वेदान्ततात्पर्ये निरूप्यमाणे प्रत्यक्स्वरूपे ब्रह्मण्येव पर्यवसानदर्शनात्प्रधानादिषु चादर्शनाद्ब्रह्मैव वेदान्तविषयो न प्रधानादिरित्यर्थः । तथा श्रुतिस्मृती भवतः । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" (कठ० २।१५) "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" (गीता १५।१५) इति च ॥

२८. सम्बन्धस्तु—तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावः ॥

अनुवाद—इन दोनों (जीव और ब्रह्म) का ऐक्य और इनके प्रतिपादक उपनिषत् वाक्यों का बोध्यबोधकभाव है ।

विद्योत्तमा—१. सम्बन्ध—जीव तथा ब्रह्म का अभेद (ऐक्य) ही यहाँ विषय है तथा उन दोनों के प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों का जो बोध्यबोधकभाव है, वह सम्बन्ध है । जीवब्रह्म का अभेद यहाँ बोध्य है तथा 'तत्त्वमसि' आदि बोधक वाक्य है ।

२. तदैक्यप्रमेयस्य—यद्यपि शुद्ध चैतन्य के अस्तित्त्व को प्रत्यक्ष प्रमाणित नहीं किया जा सकता और न उसकी व्याख्या ही की जा सकती है, केवल अप्रत्यक्ष रीति से उसे प्रमाणित किया जा सकता है और उसकी व्याख्या भी की जा सकती है अर्थात् अनुमान प्रमाण का आधार लेना होता है।

[२८] तृतीयमनुबन्धमाह **सम्बन्धस्तु** इति । तदैक्यं प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यं तच्च तत्प्रमेयम् चेति तथा तस्येति विग्रहः । ननु कथं यथोक्तप्रमेयस्योपनिषत्प्रमाणबोध्यत्वं निर्धर्मके तस्मिच्छब्दशक्तिगोचरत्वायोगादिति चेत्को भावः । शब्दादिहीनस्य वाच्यत्वानुपपत्तिरिति चेन्न । अनुक्तोपालम्भात् । अज्ञस्य लक्ष्यत्वानुपपत्तिरिति चेद्यथा लक्षणावृत्त्याश्रयणेन ब्रह्मात्मैक्यप्रतिबोधस्तथोत्तरत्र वक्ष्यामः ॥

२९. प्रयोजनं तु-तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकम् आत्मवित्" इत्यादि श्रुतेः "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतेश्च ॥

अनुवाद—प्रयोजन तो उस (जीव ब्रह्म) के ऐक्य के ज्ञान के मध्य अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति है। "आत्मज्ञाता शोक से तर जाता है" इत्यादि तथा 'ब्रह्मज्ञाता ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं।

विद्योत्तमा—१. प्रयोजन—आत्मगत अज्ञान तथा उस अज्ञान जन्य सम्पूर्णप्रपञ्च का निवृत्तिपूर्वक स्वरूप ज्ञान हो जाने पर जो अखण्डानन्द ब्रह्म की उपलब्धि होती है उसे प्राप्त करना ही इस वेदान्तसार (आत्मज्ञान) को पढ़ने का प्रयोजन है।

२. स्वरूपानन्दावाप्ति—वेदान्तशास्त्र का मुख्य प्रयोजन अज्ञान का निवारण ही नहीं है, अपितु अपने स्वरूपानन्द की उपलब्धि भी इसका मुख्य प्रयोजन है। यदि सौभाग्य से कोई तत्त्ववेत्ता अच्छा गुरु प्राप्त हो जाता है तथा कृपापूर्वक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा उपदेश देते हैं तो अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तथा आनन्द का असीम सागर लहराता हुआ दृष्टिगोचर होता है, इसलिये नित्य प्राप्त होने पर भी उसी अखण्डानन्द के स्वरूप की उपलब्धि करना वेदान्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

३. वस्तुतः जीव और ब्रह्म की एकता एक प्रतिष्ठापित सत्य है जिसे नई रीति से मानव के प्रयासों का परिणाम नहीं कहा जा सकता। स्वामी निखिलानन्द कहते हैं—

"But thought such dentity is always present, it remains unrealized in the state of ignance.'

एक लौकिक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है, जैसे एक मनुष्य अपने गले में पहने हुए आभरण को विस्मृत कर बैठता है, और दुःखित एवं व्यथित होता है कि आभूषण खो गया है, किन्तु जब वह किसी के द्वारा निर्देशित यह ज्ञात करता है कि वह तो उसके कण्ठ में है, इसी प्रकार का मानव अज्ञान होता है।

[२९] चरममनुबन्धमाह **प्रयोजनं तु** इति। तदैक्यप्रमेयशब्दः पूर्ववत्। अज्ञान वक्ष्यमाणलक्षणम्। तस्य निवृत्तिः प्रयोजनमित्येतावत्युक्ते समूलदुःखोन्मूलनलक्षणं वैशेषिकाभिमतं प्रयोजनमभ्युपगतं प्रतिभायात्। तन्माभूदिति विशेषणान्तरोपादानम्। अज्ञाननिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च प्रयोजनमित्युक्ते नित्यनिरतिशयसुखाभिव्यक्तिर्निःशेषदुःखोच्छित्तिश्च प्रयोजनमिति भाट्टाभिमतं प्रयोजनं प्रतिभायात्। तन्माभूदिति तत्स्वरूपेत्युक्तम्। ब्रह्मात्मचैतन्यस्य चानन्दरूपत्वं प्रतिपादितमधस्तात्। विचारजन्यज्ञानस्योक्तोभयविधं प्रयोजनमित्यत्र क्रमेण श्रुती प्रमाणयति तरतीत्यादिना। आत्मविद्भूमाख्यब्रह्मात्मसाक्षात्कारवांछोकोपलक्षितसंसारमूलाज्ञानं तरत्यतिक्रामति। यः कश्चिद्ब्रह्म परमात्मानं प्रत्यग्रूपं वेद साक्षात्करोति स ब्रह्मैव भवति तद्रूप एव भवतीत्यर्थः॥

नन्वविद्यानिवृत्तेर्विद्यासाध्यत्वेन प्रयोजनत्वेऽपि कथं स्वरूपानन्दस्य तथात्वं तस्य नित्यप्राप्तत्वेन विद्यासाध्यत्वाभावादिति चेत्सत्यं नित्यप्राप्तमप्यानन्दात्मब्रह्मस्वरूपमविद्यावस्थायां विस्मृतकण्ठगतचामीकरवदनवाप्तमिव भवति। विद्यया त्वविद्यानिवृत्तौ विज्ञातचामीकरवदव्यक्तिमापद्यमानवाप्तमिव व्यपदिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः॥

---

३०. अयमधिकारी जन्ममरणादिसंसारानलतप्तोदीप्तशिराजलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्यतमनुसरति 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि श्रतेः।

अनुवाद—भीषण गर्मी से अत्यन्त सन्तप्त मनुष्य जिस प्रकार अपनी (तपनरूप) व्याकुलता को दूर करने के लिये सरोवर के समीप जाता है उसी प्रकार यह (वेदाङ्ग-ब्रह्मज्ञान का) अधिकारी जन्म, अवसान, वृद्धावस्था तथा रोगादि सांसारिक कष्टों से पीड़ित होकर, हाथ में भेंट लेकर ब्रह्म में निष्ठावान् वेद अध्येता आचार्य के सामीप्य को प्राप्त कर उनका अनुयायी बनता है, जैसा कि 'समिधा हाथ में लेकर ब्रह्म में निष्ठायुक्त वेदाध्यायी (के समीप जाता है)' इत्यादि श्रुतिवचन से स्पष्ट है।

विद्योत्तमा—**१. श्रोत्रियम्**—वेदों तथा वेदाङ्गों में पारङ्गत व्यक्ति को श्रोत्रिय कहते हैं। 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' (अष्टाध्यायी) सूत्र से 'छन्दस्' शब्द से 'अध्येता' अर्थ में घन् (घ = इय) प्रत्यय होकर तथा 'छन्दस्' को 'श्रोत्र' आदेश निपातन से होकर श्रोत्रिय शब्द निष्पन्न होता है। बृहदारण्यक के निम्न वचनानुसार श्रोत्रिय पापहीन तथा निष्काम होना भी ईप्सित है—'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः'। छान्दोग्य उप० भी कहता है:—'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' श्रोत्रिय के विषय में स्मृति कहती है—

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥"

२. उपहारपाणि—राजा, देवता और गुरु के पास कभी रिक्त हाथ नहीं जाना चाहिये, जैसा कि कहा भी है—

'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम्।'

गुरु के समक्ष यथाशक्ति फल फूल आदि कोई न कोई भेंट लेकर ही जाना चाहिये। महाभारत में भी उपहार सहित गुरु के पास जाने का निर्देश है—'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं ब्राह्मणं गुरुम्।

३. समित्पाणिः—समित् पाणौ यस्य सः अर्थात् पाणि में समिधा लेकर जाना चाहिये। यहाँ समिधा शब्द भेंट के लिये उपलक्षणमात्र है। अत्यधिक अर्थाभाव होने पर कुछ देने की सामर्थ्य न होने से केवल समिधायें ही ले जा सकते हैं।

४. ब्रह्मनिष्ठम्—ब्रह्मणि निष्ठा यस्य तम् = ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले (गुरु के पास अधिकारी को जाना चाहिए। उपनिषद् ग्रन्थों में जिसका वर्णन किया

गया है उस ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान से जो अन्तः बाह्य सर्वत्र संयुक्त है, वह ब्रह्मनिष्ठ है—जैसे कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका भी कहती है—'औपनिषद्ब्रह्मात्मविज्ञान-पूर्णम् ।' आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मनिष्ठ को जपनिष्ठ और तपोनिष्ठ की भाँति व्याख्यात किया है। उनका कथन है कि ब्रह्मनिष्ठ वह है जिसने सभी प्रकार के कर्म का परित्याग कर दिया है और सभी समय ब्रह्म में स्थित रहता है। मुण्डक० में भाष्य में वे लिखते हैं 'शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येसा ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात् ।' छान्दोग्य० में आया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद ।'

५. **अनुसरति**—यहाँ अनुसरण से तात्पर्य केवल पश्चात् गमन ही नहीं है अपितु मन से, वाणी से तथा कर्म से गुरु की सेवा करना और प्रगाढ़ श्रद्धाभक्ति से गुरु के उपदिष्ट साधन का यथोचित रीति से कार्यान्वित करना है।

६. **अयमधिकारी**—पूर्वकथित चार प्रकार की साधन चतुष्टय सम्पत्ति से सम्पन्न।

७. **जन्मरणादि**—रोग तथा अन्य भौतिक कष्ट आदि भी गणित हैं।

[३०] एवं साधनचतुष्टयसम्पन्नस्याधिकारिणो विज्ञातविषयादिमत आत्मयाथात्म्यजिज्ञासया गुरूपपत्तिं दर्शयति **अयमधिकारी** इति। जननमरणादीत्यादिपदाद्रागद्वेषादिग्रहः। संसारानलसन्तप्तो गुरुमुपसृत्य तमनुसरतीत्यन्वयः। उपसरणं समीपगमनमनुसरणमनुवृत्तिरिति भेदः। अत्युद्विग्नस्याविलम्बेन तच्छान्तिकरस्थानप्रवेशे दृष्टान्तमाह प्रदीप्तेति। निदाघमध्याह्नार्कमरीचिसंव्याप्तखल्वाटः प्रदीप्तशिराः। शिशिरतरमधुरजलपरिपूर्णो महाह्रदो जलराशिः।

"रिक्त पाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरुम् ।"

इति वचनमाश्रित्याह उपहारपाणिरिति। उपहार उपायनं पाणौ यस्य सः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति गुरोर्विशेषणे। श्रोत्रियत्वं वेदवेदाङ्गपारगत्वं वेदान्तार्थपारगत्वं वा प्रकृतोपयोगात्। श्रोत्रियग्रहणमकामहतत्वावृजिनत्वयोरप्युपलक्षणार्थम् "यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत" (बृह० ४।३।३३) इति श्रुतेः। अकामहतत्वं ब्रह्मलोकानन्दादर्वाचीनेष्वानन्देषु वितृष्णत्वम्। अवृजिनत्वं यथोक्तकारितया निष्पापत्वम्। ब्रह्मनिष्ठत्वमौपनिषदब्रह्मात्मविज्ञानपरिपूर्णत्वमित्यर्थः। उक्त विधिना यथोक्तगुरूपसर्पणं विद्यार्थिनावश्यं कर्तव्यमित्यत्र प्रमाणमाह समिदिति। समिच्छब्दो गुरोरनुरूपोपायनमात्रोपलक्षणपरः। आदि शब्दात् "आचार्यवान्पुरुषो

वेद'' (छा० ६।१४।२) "आचार्याद्धैवविद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्'' (छा० ४।९।३) इत्यादिश्रुत्यन्तरसंग्रहः ।

---

३१. स (गुरुः) परमकृपया 'अध्यारोपापवाद'न्यायेनैनमुपदिशति 'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादि श्रुतेः ।

अनुवाद—वह (आचार्य) परमदयालु होकर 'अध्यारोप' और 'अपवाद' न्याय से उसे (ब्रह्मरूप रहस्य का) उपदेश देता है । जैसा कि 'उस आये हुए ब्रह्मज्ञान के इच्छुक को विद्वान् उपदेश देता है' इत्यादि श्रुतिवचन भी है ।

विद्योत्तमा–१. **अध्यारोपापवादन्यायेन**–सीपी में भ्रमवश जैसे चाँदी भासित होने लगती है अथवा रस्सी में साँप की प्रतीति होने लगती है, उसी भाँति अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान के कारण संसार की भ्रमात्मक प्रतीति हो रही है, वही अध्यारोप कहलाता है । 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' यह शारीरिक-भाष्य में अध्यारोप का लक्षण दिया है । दीपक के द्वारा प्रकाश न होने पर रस्सी में मिथ्या सर्प का निश्चय हो जाने के समान तथा केवल आधाररूप रस्सी शेष रह जाने के समान श्रवणमननादि का लम्बे अरसे तक निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्ञानोदय होने पर समस्त मिथ्या सांसारिक सृष्टि का निश्चय हो जाता है और सबका आश्रयभूत सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रह जाता है यही अपवाद कहलाता है । इसी अध्यारोप तथा अपवाद की क्रमयुक्त प्रक्रिया से आचार्य अपने शिष्य को आत्मज्ञान का उपदेश देता है । इसीलिये कहा भी है—

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।
शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः ॥

विवेकचूडामणि में अध्यारोप और अभ्यास का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है—

"अतस्मिंस्तद् बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा ।
विवेकाभावाद् वै स्फुरति भुजङ्गे रज्जुधिषणा ॥
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-।
स्ततोयोऽसद् ग्राहः स हि भवति बन्धः श्रुणु सखे ।"

२. **परमकृपया**—अतिशय रहस्यमयी आत्मज्ञान की विद्या को उपदिष्ट करने में संकोच भाव न होने के कारण करुणा है। शरणागत जन के क्लेशों का अवलोकन कर ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य का कोमल चित्त द्रवीभूत हो उनका निवारण करने के लिये अज्ञानान्धकार से आच्छादित बुद्धि को ज्ञानरूपप्रकाश से शनैः-शनैः प्रकाशित करके विकसित करता है। संक्षेपशारीरक में आया है कि गुरु कृपालुता से शिष्य को शिक्षित करता है—

"एतदेव हि दयालु लक्षणं यत्, विनेयजनबुद्धिविवर्दनम्।"

३. **एनमुपदिशति**—गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" (४।३४)

अर्थात् ज्ञान तत्त्वदर्शी से सीखना चाहिये, विनम्रता से, सेवा से और निश्चल होकर अत्यन्त सरलता से पूछने पर दयालु ज्ञानी सत्य का उपदेश करते हैं।

४. डॉ० Paul Deussen अध्यारोप और अपवाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"When the Vedantins speak of the origin of the word, they don't believe its origin to be true. This mode of expression they call false imputation (Adhyarope). It consists in holding for true that which is false in accomodation tos the intelligence of the uneniticeble at a further stage of intruction, when the time has arrived for propounding the ecoteric view, the false imputation is gain said and this gain saying is termed resession (Apvada)."

[३१] शिष्योपसृत्यमनन्तरं गुरोरुपदेशक्रमं दर्शयति स परमेति। स गुरुः परमकृपया प्रपन्नजनक्लेशदर्शनजातकरुणया तन्मतिप्रकाशनप्रवृत्त्या वा। तदुक्तमभियुक्तैः—

"एतदेव हि दयालुलक्षणं
यद्विनेयजनबुद्धिवर्द्धनम्" ॥ इति (संक्षेपशारीरक ४।३)

उक्तार्थज्ञापिकां श्रुतिं पठति तस्मा इति "तस्मा एतत्प्रोवाच। यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" (छा० ७।१।१) इत्यादि श्रुत्यन्तरमादिशब्दार्थः ॥

अध्यारोप

३२. असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः ॥

अनुवाद—साँप की सत्ता से रहित रस्सी में सर्प का आभास होने के समान किसी वस्तु (ब्रह्म या आत्मा) में (उसी के तुल्य) अन्य वस्तु के आरोप को अध्यारोप कहते हैं। (अध्यारोप में वस्तु और अवस्तु दो कोटियाँ होती हैं।)

विद्योत्तमा १. वस्तु—भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों कालों के अक्षुण्ण रहने वाली (कभी विनाश को न प्राप्त करने वाली) सत्ता ब्रह्म या आत्मा है जैसा कि सुबोधिनी टीका भी कहती है—

'कालत्रयानपाय्यात्मैव वस्तु।'

२. अवस्तु—अर्थात् अनिर्वचनीय। जिसकी सत्त्वेन या असत्त्वेन किसी भी रूप से सत्ता नहीं होती, उसे वेदान्तशास्त्र में अनिर्वचनीय कहा जाता है वही अनिर्वचनीय अवस्तु है। इस अवस्तु को 'सदसद्भिन्नम्' तथा 'अज्ञानम्' भी कहा गया है। 'अज्ञान is not based upon nothingness.'—निखिलानन्द। अवस्तु का वर्णन अध्यात्म रामायण में बड़ा सुन्दर आया है। सम्पूर्ण विश्व को वहाँ प्रकृति और भ्रान्ति कहा गया है।

[३२] अध्यारोपं सदृष्टान्तं लक्षयति **असर्प** इति। ननु कथं वस्तुनो निरात्मकस्यारोपो यावता क्वचिद्दृष्टपूर्वस्य सत एव क्वचिदारोपो दृष्टः। उक्तं च भट्टाचार्यैः—

"अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत्कथमवस्तुनि।
प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यारोप्येत वा न वा" ॥ इति (तन्त्रवार्तिक १।४।२२)

उच्यते। संस्कारजन्यो हि भ्रमस्तत्सिद्धये पूर्वप्रतीतिमात्रमपेक्षते न पुनः पूर्वप्रतीतस्य परमार्थसत्वमपि व्यतिरेकाभावात्संशयविपर्ययदृष्टेष्वपि संस्कारकार्यस्मृतिदर्शनात्। तथाहि लोकेऽनुभवोऽस्मिन्वल्मीककूटे मम पुरा स्थाणुः पुरुषो वेति सन्देह आसीदस्मिञ्छुक्तिशकले रजतमिदमिति भ्रम आसीदित्यादिः। न च संशयविपर्यययोरेवं स्मृतिर्न तदर्थयोरिति वाच्यमर्थशून्ययोस्तयोः

स्मृतिविषयत्वानुपपत्तेः। तस्मान्निरुपाख्य विलक्षणस्य पूर्वपूर्वभ्रमदृष्टस्याप्युत्तरोत्तरारोपोपपत्तेर्भ्रमप्रवाहस्य चानादित्वेनान्योन्याश्रयानवस्थादिप्रसङ्गानवकाशाद्युक्तं वस्तुनि परमार्थे सत्यवस्तुनोऽनिर्वचनीयस्यारोप इत्यर्थः।

---

३३. वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयंब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु॥

अनुवाद—सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वैत ब्रह्म ही वस्तु है। अज्ञान से लेकर सकल जडसमुदाय अवस्तु है।

विद्योत्तमा—१. **अज्ञान**—वेदान्त में अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव न होकर प्रकरण भिन्न होने के कारण कहीं पर 'माया', कहीं पर अविद्या' तथा कहीं पर 'नामरूप' कहा गया है।

२. **सच्चिदानन्द**—सच्चिदानन्द शब्द की व्याख्या पृष्ठ १ की टिप्पणी में देखें।

३. **अद्वयम्**—छान्दोग्य उपनिषद् कहता है—'एकमेवाद्वितीयम्।' नानात्वसमय, स्थानादि की सीमाओं के कारण है, जैसे कि एक सूर्य अनेक लहरों पर प्रतिबिम्बित अनेक दिखाई देता है।

४. **सत्**—(क) **सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्**—छान्दोग्य उपनिषद्।

(ख) **सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**—तैत्तिरीय उपनिषद्।

(ग) **असद्वा इदमग्र आसीत् तैत्ति०**। यह श्रुति ब्रह्म के नाम रूप विहीन स्वरूप का संकेत करती है।

५. **चित्**—**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**—बृहदारण्यकोपनिषद्।

यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप न होता तो यह अनुभव 'मैं ज्ञाता हूँ' कभी नहीं होता। स्वामी निखिलानन्द कहते हैं—"The apparent consciousness of the phenomenal opject is, in reality. the reflected consciousness of Brahmna."

६. **आनन्द**—**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**—बृहदारण्यकोपनिषद्। "Brahmna is the most beloved of all things." By, Nikhilananda.

[३३] वस्त्ववस्तुनी क्रमेण लक्षयति वस्तु इति। ननु ब्रह्मण एव वस्तुत्वे जीवस्य शुक्त्यादेश्चावस्तुत्वात्कर्तृत्वाद्यध्यारोपे रजताद्यध्यारोपे चाव्याप्तिः स्यादिति

चेन्न ब्रह्मण्येव जीवत्वस्यापि कल्पितत्वात्कर्तृत्वादेश्च सोपाधिक भ्रमतयोपाध्यनुरक्ते ब्रह्मण्येवाध्यारोपाच्छुक्त्यादेरपि रजताद्यधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वमुपचर्यते। न पुनस्तस्यैवाधिष्ठानत्वमज्ञातं हि वस्त्वारोपाधिष्ठानम्। न च शुक्त्यादेरज्ञातत्वमसि जडत्वाच्चिन्मात्रनिष्ठत्वाच्चिन्मात्रविषयत्वाच्चाज्ञानस्य। तदुक्तम्–

"यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः।
जडं न विद्यावेद्यत्वान्नातोऽज्ञानं जडाश्रयम्॥" (तत्वदीपन)

ततश्च सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभासोऽध्यारोप इत्युक्तं भवति। एतेन चिज्जडयोः परस्परतादात्म्याध्यासे शून्यमेव जगतस्तत्वं स्यादध्यस्तस्य मिथ्यात्वादिति केषाञ्चिच्चोद्यं निरस्तम्। भ्रमकाले परिस्फुरदंशस्य मिथ्यात्वेऽप्यपरिस्फुरतोंऽशान्तरस्य विद्यमानत्वात्। तदुक्तमभियुक्तैः—

"अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु
नान्यत्कथञ्चन परिस्फुरति भ्रमेषु।
रज्जुत्वशुक्तिशकलत्वमरुक्षितित्व-
चन्द्रैकताप्रभृतिकानुपलम्भनेन"॥ इति (सक्षेपशारीरक १।३६)
"विज्ञानृतद्वयमिहाध्यसितव्यमिष्टं
स्याच्चेत्तदा भवनि चोद्यमिदं त्वदीयम्।
सत्यानृतात्मकमिदं मिथुनं मिथश्चे—
दध्यस्यते किमिति शून्यकथाप्रसङ्गः॥" (संक्षे० शा० १।३३)

इति च।

तस्माद्युक्तमुक्तं वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म तस्मिन्नज्ञानतत्कार्याखिलजडसमूहस्यावस्तुनोऽध्यारोप इति॥

---

३४. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादि श्रुतेश्च॥

अनुवाद—अज्ञान तो सत्त्व और असत्त्व दोनों से रहित होने के कारण अवर्णनीय है, (यह) (सत्वरजस्तमः) त्रिगुणात्मक है, ज्ञान का विरोधी तथा भावरूप है ('यह ऐसा है' इत्यादि निश्चित सीमा के द्वारा अज्ञापक

होने के कारण) यत्किञ्चित् है—यह वेदान्तियों का कथन है। 'मैं अज्ञ (अज्ञानी) हूँ' इत्यादि अनुभवों का प्रत्यक्ष आभास ही अज्ञान के भाव रूप होने में प्रमाण है–श्रुतिवाक्य भी है–'देवात्मा की शक्ति अपने गुणों से आवृत है।'

विद्योत्तमा–१. त्रिगुणात्मकम्–यदि अज्ञान अनिर्वचनीय है और किसी भी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसका अस्तित्व ही नहीं होगा। इस संशय का निवारण करने के लिये उसका 'त्रिगुणात्मकम्' विशेषण प्रयुक्त हुआ। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।' इस श्रुतिवचन से ही प्रमाणित है कि वह सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिगुणात्मक है। जब कार्य लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण तीन गुणों वाला है तो उसका कारण से अपृथक् अज्ञान भी त्रिगुणात्मक होगा। सांख्य दर्शन में तीन गुणों का सिद्धान्त पूर्णतया विकसित किया गया है और प्रकृति की व्याख्या में उसका उपयोग किया है। छान्दोग्य उपनिषद् भी कहता है–यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, वद् शुक्लं तदश यत्कृष्णां तदन्यस्य। "The Vedantic Ignorance or illusion which in the 'श्वेत० (४/१०) is called Prakriti or matter, and which is held to be the material cause of the world.

२. सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्—यदि अज्ञान को सत् कहा जाता है तो उसे चिदात्मा (ब्रह्म) के समान त्रिकालाबाधित होना चाहिये लेकिन उसे तत्त्वज्ञान से बाधित देखा जाता है, यदि उसे असत् कहें तो उसे बन्ध्या के पुत्र (असम्भव) के समान प्रतीयमान नहीं होना चाहिये, लेकिन वह संसार के बंधन में जटिलबद्ध प्राणी को मैं अज्ञानी हूँ इस भाँति प्रतीति होती है अतः उसे सद्रूप तथा असद्रूप दोनों ही नहीं कहा जा सकता। इसलिये वह सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीय है। जैसाकि शङ्कराचार्य का भी कथन है—

'सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो, महदाद्भुतानिर्वचनीय रूपा॥'

३. ज्ञानविरोधि—ज्ञाननिवर्त्य ही अज्ञान का लक्षण है। अज्ञान का ज्ञान के द्वारा बाधित होना वेद तथा लोक में सर्व विख्यात है। प्रपञ्च अज्ञानजन्य होने के कारण अज्ञान से अभिन्न है अतः ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से निवृत्त होने वाले संसार रूप प्रपञ्च में इस लक्षण की अतिव्याप्ति की शङ्का नहीं उठती।

असङ्गस्वभाववान् चिदात्मा का अज्ञान से सम्बन्ध होना पूर्णरूपेण अज्ञानाधीन है अतः अज्ञानात्मा का सम्बन्ध भी अज्ञानरूप ही सिद्ध हो जाता है। अज्ञान के इस ज्ञाननिवर्त्यभूत लक्षण में अव्याप्ति, और असम्भव दोष की तो शङ्का ही उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार यह लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भव तीनों ही दोषों से युक्त है। अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, आत्मसाक्षात्कार (ज्ञान) होने पर विनष्ट हो जाता है।

४. **यत्किञ्चित्**—अज्ञान की सद्रूपता, असद्रूपता अथवा सदसद्रूपता से निरूपित नहीं की जा सकती, अतः उसे यत्किञ्चित् कहा गया है। अन्धे पुरुष के द्वारा सूर्य में अन्धकार कल्पना के सदृश ही अज्ञान है। अज्ञान का यथार्थ स्वरूप जानना असम्भव होने पर भी उसकी सत्ता में अनुभूति तथा श्रुतिवचन दोनों प्रमाण हैं। सत्य को खोजने का प्रयत्न करने से हम सत्य के विषय में अज्ञान को मानते हैं यह अज्ञान हमारी अनुभूति है; इसी से शास्त्रों में ये साक्षिभाष्य कहे गये हैं। बृहदारण्यक वार्तिक में आया है—

"अविद्याया अविद्यात्वं इदमेव तु लक्षणम् यद् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा-वस्तु सा वदेत् ॥"

'अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् मानेनात्यन्तमूढधीः ।

स तु नूनं तमः पश्येद्दीपेनोत्तमतेजसा ॥' वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली।

५. **भावरूपम्**—अज्ञान को यदि भावरूप कहा जाय तो इसकी निवृत्ति न हो सकने के कारण अभावरूप मानना होगा अतः उसको तभी तक भावरूप माना जाय, जब तक आत्मा का ज्ञान (साक्षात्कार) न हो—ज्ञान रूप साक्षात्कार होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है।

६. **अहमज्ञः**—सत्य वस्तु के विषय में, जो स्वयं प्रतीत होने में जड़ होने से अशक्त है, अतः 'अहम्' आदि के साक्ष्य से चैतन्य भासित हो सकता है।

७. **देवात्मशक्तिम्**—इस श्रुति से तथा उस पर शाङ्करभाष्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञान परमात्मा की शक्ति है, इसलिये द्वैत (भेद) की सम्भावना का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि शक्ति और शक्तिशाली में ऐक्य (अभेद) माना जाता है (होता है)।

८. वेदान्त दर्शन में वस्तुतः अज्ञान का विवेचन अत्यन्त कठिन है। न्याय-दर्शन कहता है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है इसलिये यह भावरूप नहीं हो

सकता है किन्तु वेदान्त दर्शन का कथन है कि यह भावरूप भी होता है। वेदान्त प्रश्न करता है कि वह ज्ञान कैसा है–जिसका अभाव कहा जा सकता? हम ज्ञान को तीन रूपों में समझते हैं–(१) साक्षिचेता (श्वेताश्वतरोपनिषद्)। ज्ञान शाश्वत होता है अतः उसे अभाव की स्थिति के साथ नहीं जोड़ा जा सकता है (२) विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति (छान्दोग्य उपनिषद्) इससे ज्ञात होता है कि मस्तिष्क (मन) का विशिष्ट व्यापार ज्ञान है। यहाँ पर ज्ञान का प्रयोग अप्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में है। जब तक आत्मा साथ में न हो तब तक मस्तिष्क (मन) का कोई व्यापार किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं कर सकता। नेत्र, कान इत्यादि अपने व्यापारों को तभी कर पाते हैं जब आत्मा से चेतना पाते हैं, जैसा कि ऐतरेयोपनिषद भी कहता है—

"सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।"

किसी भी स्थिति में ज्ञान अभाव की दशा वाला नहीं हो सकता है। (३) अज्ञान को किसी भी व्याख्या से ज्ञान का अभाव नहीं कहा जा सकता चाहे सामान्यरूप से अथवा विशिष्ट रूप से विचार किया जाये। जैसे यदि कोई व्यक्ति कहता है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' 'मैं कुछ नहीं जानता हूँ'। इस स्थिति में भी वह अनुभव को पूर्णतया नहीं खो देता है यद्यपि वह विशिष्ट वस्तु को नहीं जान पाता है फिर भी वह जानता है। "Therefore it stands to reason that knowledge which is eternal, ever existant and positive can never be connected with negation",

—By Nikhilananda.

हिरियिन्ना कहते हैं—

"Realy this ignorance can never be properly explained. It is absurd to sek for its proof. To prove ignorance by knowledge is like seen darkness by the blazing light,"

बृहदारण्यक वार्तिक कहती है—

"अविद्यायाः अविद्यात्वम् इदमेव तु लक्षणम्।
यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथावस्तु सा भवेत्॥"

नैष्कर्म्यसिद्धि में लिखा है—

"सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमोदयवत् दिवाकरम्।"

९. देवात्मशक्तिम्०—श्वेताश्वतर उपनिषद् के श्रुति के समर्थन में और भी श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे गीता ५।१५—

तथा "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव।'
'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।' गीता ७।२५

१०. Antitheistic Theoroes नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"Even appearances are illusions or phenamena which require to be explained, and they cannot be explained on the hypothesis of absolute unity. They employ that besides the absolute being there are minds which can be hounted by appearances, and which can be deluded into relieving that these appearances are realities.

वस्तुतः देखने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक उपनिषदों में परिणामवाद का सिद्धान्त स्वीकृत रहा है, मायावाद और विवर्तवाद का नहीं। तब प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण संसार की असत्यता का सिद्धान्त वेदान्त में कहाँ से आया? इसका उत्तर जैकब के अनुसार है बौद्धों से। इस तथ्य को सांख्य दर्शन के व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने प्रस्तुत किया है। जैकब उद्धृत करते हैं—"Upstart disguised Buddhists,......advocates of the theory of Maya."

पद्मपुराण तथा विष्णुपुराण भी विज्ञानभिक्षु का समर्थन करते हैं।

[३४] अज्ञानं व्युत्पादयति अज्ञानं तु इति। तु शब्दो मतान्तरेभ्यो वैशिष्ट्य द्योतनार्थः। तमेव विशेषं दर्शयति सदसद्भ्यामित्यादिना। ज्ञानविरोध्यज्ञानमित्युक्ते ज्ञानप्रागभावे प्रसङ्गं व्युदस्यति भावरूपमिति। उत्तरज्ञानविरोधिपूर्वज्ञानव्युदासाय सद्सद्भ्यामनिर्वचनीयमिति। मिथ्याज्ञानव्युदासाय त्रिगुणात्मकमिति। यद्वा ज्ञानविरोधित्वं ज्ञानापनोद्यत्वं तदेवाज्ञानत्वमित्यज्ञानलक्षणम्। न च। ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यत्वप्रपञ्चेऽतिव्याप्तिस्तस्याज्ञानोपादानकत्वेनाज्ञानानतिरेकात्

रेकात्। नाप्यज्ञानात्मसम्बन्धेऽतिव्याप्तिरसङ्गस्वभावस्य चिदात्मनोऽज्ञानसम्बन्धस्याज्ञानाधीनत्वात्तस्याप्यज्ञानात्मत्वोपपत्तेः। अतो नानयोर्लक्ष्यबहिर्भाव इति न लक्षणस्यातिव्याप्तिः। अव्याप्त्यसम्भवयोस्तु शङ्कैव नास्ति ज्ञानेनाज्ञानबाधस्यप्रसिद्धत्वात्। न च पूर्वज्ञाने ज्ञानप्रागभावे चातिव्याप्तिः पूर्वज्ञानस्य ज्ञानापनोद्यत्वनियमाभावादिच्छादिवृत्त्यन्तरोत्पत्त्यापि तदपनोददर्शनात्। इह च नियमेन ज्ञानापनोद्यस्याज्ञानत्वाभ्युपगमात्। प्रागभावस्य च प्रतियोग्युत्पत्तिमात्रविरोधिनस्तदपनोद्यत्वाभावात्। न ह्यनुत्पन्नः प्रतियोगी कस्यचिदपनोदकः सम्भवति। अतो न तयोरतिव्याप्तिः॥

नन्वज्ञानस्यापि ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतया विनाशाश्रयणात्कथं ज्ञानापनोद्यत्वमिति चेन्न। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं विलम्बाभावाभिप्रायेणाज्ञाननाशस्य ज्ञानोत्पत्तिनान्तरीयकतावाचोयुक्तेराश्रयणात् भावाभावयोस्तु क्षणमात्रमपिसहभावानुपपत्तेरित्यस्यि प्रागभावाद्वैषम्यमज्ञानस्येति। सदसद्भ्यामनिर्वाच्यमित्यपरं लक्षणम्। अत्रापि पूर्ववदेवातिव्याप्त्यादिपरिहारो द्रष्टव्यः। नेदमसम्भवि। अज्ञानस्य सत्त्वे चिदात्मद्बाधाभावप्रसङ्गात्। असत्त्वे च वन्ध्यासुतादिवदपरोक्षप्रतिभासानुपपत्तेः। बाधप्रतीत्योश्चाज्ञाने प्रसिद्धत्वाद्युक्तं तस्यानिर्वचनीयत्वम्। सदसत्त्वपक्षयोरुक्तदूषणमुपजीव्य मिथ्याज्ञान संस्कारोऽज्ञानमसत्प्रकाशनशक्तित्वेनासद्वेति मतद्वयं निरसनीयम्। मिथ्याज्ञानमात्मगुणोऽज्ञानमिति पक्षं निरस्यति त्रिगुणात्मकमिति। गुणा लोहितशुक्लकृष्णा अज्ञानकार्येषु तेजोबन्नेष्ववान्तरप्रकृतिषु प्रसिद्धाः "यदग्नेः रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति श्रुतेः (छा० ६।४।१) तथा च कार्यगतत्रिरूपेण कारणमप्यज्ञानमव्याकृतात्मकं त्रिरूपेण त्रिगुणात्मकमिति यावत्। तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र १।४।९)। "ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके" इति। यद्वा रजः सत्त्वतमोलक्षणास्त्रयो गुणास्तद्युक्तमज्ञानं त्रिगुणात्मकमिति। गुणगुणिनोरभेदविवक्षया त्रिगुणात्मकमित्युक्तम्। तथा च गुणस्य गुणवत्त्वानुपपत्तेर्न मिथ्याज्ञानमज्ञानमित्यर्थः। ज्ञानाभावोऽज्ञानमितिमतं निरस्यति भावरूपमिति। अयमर्थः। अभावप्रतियोगि यज्ज्ञानं तत्किं साक्षिचैतन्यं स्यात् 'साक्षी चेता' (श्वेता० ६।११)

इत्यादिश्रुतेस्तस्यापि ज्ञानत्वप्रसिद्धेः। किंवान्तःकरणवृत्तिः "विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति" (छा० ७।७।१) इति विज्ञानशब्देन बुद्धेः श्रवणात्। अथवात्मगुणस्तथात्वेन च ज्ञानस्य वैशेषिकतन्त्रे प्रसिद्धत्वात्। तत्राद्यो नाभाव-

प्रतियोगी तस्य नित्यत्वात्। द्वितीये ज्ञानशब्दस्त्वौपचारिकत्वेन तदभावस्य मुख्यतोऽज्ञानत्वायोगात्। "येन वा पश्यति" इत्यारभ्य "प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रो लोक" (ऐत० ५/१–३) इत्यन्तेन प्रज्ञाशब्दवाच्य प्रत्यक्चैतन्यव्याप्तस्यैव चक्षुरादिद्वारकबुद्धि परिणामस्थ सङ्कीर्तनात्। साङ्ख्यपक्षमाश्रित्यानौपचारिकत्वे स्वीक्रियमाणेऽपि न वृत्त्यभावोऽज्ञानं वृत्त्यभावशब्देन वृत्त्युपादानबुद्धिस्वरूपावस्थानमात्रस्यैवाभिलाषात्। अतः पक्षान्तरं परिशिष्यते। तत्रेदं वक्तव्यम्। ज्ञानविशेषाभाव एवाज्ञानं ज्ञानसामान्याभावोऽपि वेति। नाद्यो मूढोऽहं न किञ्चिज्जानामीत्यनुल्लिखितविषयविशेष्यप्यज्ञानस्यानुभवात्। न च तत्रापि विषयविशेषपर्यवसायित्वं कल्प्यत इति वाच्यं विनानुपपत्तिं सामान्यबुद्धेर्विशेषालम्बनत्वे सामान्यबुद्धिविलोपसङ्ग्रहात् तथा च घटवत्यपि भूतले घटसामान्यनिषेधप्रसङ्गः सुसुप्त्यभावप्रसङ्गश्च स्यात्। तस्माज्ज्ञानसामान्यभावोऽहमज्ञ इत्युल्लिख्यत इति वाच्यम्। तत्र चाभावज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षस्यात्मनि धर्मिणि ज्ञाने च प्रतियोगिनि विज्ञायमाने तस्मिन्नेवात्मनि कथं ज्ञानाभावग्रहोऽभावप्रतियोगिनो ज्ञानस्य तत्र वर्तमानत्वात्। तयोरविज्ञायमानयोरपि कथं तत्राभावग्रहः कारणाभावात्। षष्ठप्रमाणपक्षेऽप्ययं न्याय ऊहनीयः। नन्वनुपपत्तौ सत्यां सामान्यबुद्धेरपि विशेषालम्बनत्वं कल्प्यते यथा घटवत्यपि भूतले घटो नास्तीति बुद्धेर्विवक्षितघटाभावविषयत्वं तद्वदिहापि सामान्याभावस्य यत्किञ्चित्प्रतियोगिसत्त्वविरोधादात्मनि विज्ञायमाने तस्मिन्ननुपपत्तेर्न किञ्चिज्जानामीति बुद्धेर्ज्ञानविशेषाभावविषयत्वं कल्प्यत इति चेन्न। अनयैवानुपपत्त्या भावान्तरविषयत्वस्यैव कल्पनीयत्वात्। न हि मूढोऽहं सामान्यं किञ्चिदपि न जानामीत्यनुभवे किञ्चिद्विषयान्तरमवशिष्यते यज्ज्ञानाभावविषयत्वमस्य कल्प्येत। यथास्मिन् भूतले न कोऽपि घटोऽस्तीति प्रत्यये घटविशेषस्यानवशेषस्तद्वत्। नन्वप्रसिद्धभावान्तरकल्पना दूरं प्रसिद्धस्याभावस्यैव यथाकथञ्चिदप्यज्ञानबुद्धेर्विषयत्वकल्पनमिति चेन्न। अत्यन्तमप्रसिद्ध्यभावात्। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां" (श्वेता० १।३) "मायां तु प्रकृतिं" इति च (श्वेता० ४।१०) श्रुतिवाक्ययोर्गुणवत्त्वेनोत्पद्यमान जगदुपादानत्वेन च प्रसिद्धत्वात्। तस्मान्नाभावो ज्ञानं किन्तु भावान्तरमेवेति ॥

ननु भावत्वमप्यज्ञानस्यानुपपन्नमनादेस्तस्य भावरूपत्वे चिदात्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गादनिर्मोक्षापत्तेरित्यत आह **यत्किञ्चित्** इति। अयमर्थः। नास्माभिरज्ञानस्य

भावत्वं परमार्थसत्त्वाभिप्रायेणोच्यते किन्त्वभाववैलक्षण्याभिप्रायेण। न च भावाभावयोः परस्परप्रतिषेधेऽन्यतरविधिनान्तरीयकत्वात्प्रकारान्तरानुपपत्तिरितिवाच्यं स्त्रीपुंप्रकृत्योः परस्परप्रतिस्पर्धिनोर्निषेधे तदन्यस्य नपुंसकस्येव भावाभावान्यस्याज्ञानस्योपपत्तेः। अथ तत्र प्रमाणान्तरेण तृतीया प्रकृतिरुपलभ्यत इति मतं तर्हीहाप्यस्ति प्रमाणं प्रतीतिबाधान्यथानुपपत्तिरिति सन्तोष्टव्यम्। वस्तुतस्तु नात्रास्माकमत्यन्तमाग्रहोऽज्ञाने सर्वानुपपत्तेलङ्कारत्वात्। तदुक्तम्—

"अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्"॥ इति॥
(बृहदा० वार्तिक पृ० ५७)

"सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बासर्वन्यायविरोधिनी।
सहते न विचारं सा तमो यद्वद्दिवाकरम्"॥ इति च॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि ३।६६)

इष्टसिद्धावपि—

दुर्घटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथञ्चिद् घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घटं भवेत्"॥ इति।

तस्मात्सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन वा सावयवनिरवयवोभयात्मकत्वेन वा भिन्नाभिन्नोभयरूपत्वेन वा निर्वक्तुमशक्यत्वेनानिर्वचनीयमज्ञानं सवितरि दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवद्यत्किञ्चिदिति वदन्ति वृद्धा इति सिद्धम्॥

इदानीं यथानिरूपितमज्ञानमेव नास्तीति विवदमानं प्रतिबोधयितुं तत्रानुभवश्रुती प्रमाणयति **अहमज्ञ** इत्यादिना। अनुभवस्यास्य ज्ञानाभावविषयत्व प्रतिक्षिप्तम्। निर्विकल्पकघटितप्रतियोगिकस्य ज्ञानसामान्याभावस्य स्वात्मनि प्रत्यक्षायोग्यत्वाच्च। न च भावरूपमप्यज्ञानमात्मनि ज्ञायमाने न गृहीतुं शक्यते तस्य ज्ञानविरोधित्वादिति वाच्यं स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्येन तस्य विरोधाभावात्। अन्तःकरणवृत्यैव तु विरोधादहमज्ञ इत्यहङ्कारगर्भस्य चोल्लेख्य साक्षिप्रकाशिताज्ञानविषये स्फुटतरव्यवहारमात्रत्वाच्च न काचिदनुपपत्तिरितिभावः। देवस्य स्वयम्प्रकाशस्यात्मनः शक्तिं शक्तिवत्परतन्त्रां स्वगुणैः शुक्लादिभिः सत्वादिभिर्वा निगूढामालिङ्गितां ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्निति सम्बन्धः।

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"॥ (गीता ५।१५)
"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"॥ (" ७।२५)

इत्यादिस्मृतिः । प्रत्यगात्मचैतन्यस्य ब्रह्मणो नित्यप्राप्तत्वेन स्वप्रकाशत्वेन चास्ति प्रकाशत इति व्यवहारपुष्कलकारणे सति नास्ति न प्रकाशत इति तद्विपरीतव्यवहारस्यात्मन्यावरणमन्तरेणानुपपत्तिः "श्रोतव्य" (बृह० २।४।५) इत्यादिविधिनात्मयाथात्म्यज्ञानाय श्रवणादिविधानानुपपत्तिश्चेत्यर्थापत्तिद्वयं चकारेण समुच्चीयते ।

समष्टि-व्यष्टि रूप अज्ञान—

३५. इदमज्ञानं समष्टिव्यष्टयभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते ।।

अनुवाद—यह अज्ञान समष्टि और व्यष्टि दो अभिप्रायों के कारण कहीं एक रूप में, कहीं बहुवचन में प्रयुक्त किया जाता है । (समष्टि और व्यष्टि रूप अज्ञान के दो भेद होते हैं ।)

विद्योत्तमा—१. समष्टि—'अजामेकाम्' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान का एकत्व सिद्ध होता है, यही समष्टि रूप से एक है । सम् उपसर्गपूर्वक अस् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर समष्टि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है सबको व्याप्त करने वाली । यहाँ पर समष्टि शब्द का प्रयोग समुदाय, समूह, सामान्य अथवा संघात के अर्थ में हुआ है । 'Samasti menns an aggregate' निखिलानन्द स्वामी रामतीर्थ ने व्यष्टि तथा समष्टि को क्रमशः विशेष और सामान्य का वाचक माना है । वस्तुतः दोनों में अभेद है केवल व्यवहार के लिये ही भेद कल्पना है । अज्ञान का श्रुतियों में इसी प्रकार उल्लेख है । वेदान्त में अज्ञान की समष्टि के लिए माया तथा व्यष्टि के लिए अविद्या शब्द आया है । (पञ्चदशी १।१६) ।

२. व्यष्टि—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' आदि श्रुतिवचनों से अज्ञान की अनेकता भी सिद्ध होती है यही व्यष्टि रूप से अनेक है । वि पूर्वक अश् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर व्यष्टि शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका तात्पर्य है सीमित को व्याप्त करने वाली । यहाँ पर व्यष्टि शब्द एक व्यक्ति अथवा विशेष का वाचक है । 'The seperate unit which constitutes the aggregate.' —निखिलानन्द ।

३. एकमनेकमिति—यह वेद एवं उपनिषद् वचनों में प्रयुक्त माया (अज्ञान) परक उदाहरणों से कभी एकत्व सूचक तथा कभी बहुवचनान्त होने के कारण कहा गया है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
"अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥"

यह श्रुतिवचन अज्ञान के एकत्व का सूचक है तथा 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह वाक्य अज्ञान (माया) के अनेकत्व का बोधक है । इसी से अज्ञानं शब्द का एक तथा अनेक अभिप्राय से समष्टि तथा व्यष्टि से व्यवहार होता है ।

[३५] ननु "अजामेकां" (श्वेता० ५।५) 'इन्द्रो मायाभिः" (ऋग्वेद ६।४७।१८) इति श्रुतिभ्य एकत्वानेकत्वयोरज्ञाने विप्रतिपत्तौ कः समाधिरिति विवक्षायामाह इदं इति । व्यष्टिर्विशेषः समष्टिः सामान्यं । व्यवह्रियते श्रुत्यादिष्विति शेषः । अयं भावः । यो यदनुरक्त बुद्धिविषयो नियतः स तदात्मको यथा मृदनुरक्तबुद्धिविषयो घटो मृदात्मको दृष्टः । तथा सामान्यानुरक्तबुद्धिविषया विशेषाः सामान्यात्मका इति युक्तम् । सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदे गवाश्ववत्सामान्यविशेषभावानुपपत्तेः । भेदाभेदौ त्वेकस्मिन्नप्रामाणिकौ वस्तुनो द्वैरूप्यानुपपत्तेः । अभेदपक्षे तु कयाचिद्भेदकल्पनया सामान्यविशेषव्यवहारोपपत्तेः समुद्रतरङ्गादिवजलतरङ्गचन्द्रादिवद्वा । तथा चाज्ञानस्यैकस्यैव सतः सामान्यविशेषभावेनैकानेकत्वव्यवहारः श्रौतो न विरुध्यत इति ॥

---

३६. तथाहि यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम् इत्यादिश्रुतेः ॥

अनुवाद—जिस प्रकार वृक्षों को समष्टि (समुदाय) के दृष्टिकोण से 'वन' इस प्रकार एकसंख्यासूचक व्यवहार होता है अथवा जिस प्रकार जलों

के (जलकणों के) समूह को समष्टि की विवक्षा से 'जलाशय' इस प्रकार कहा जाता है, उसी भाँति अनेक संख्या में प्रतीयमान जीवस्थित अज्ञानों के समूह को समष्टि की आकाङ्क्षा से उन सबके एक होने का सूचक प्रयोग होता है 'अजन्मा एक' यह श्रुतिकथन भी समष्टि से एकत्वसूचक है।

१. विद्योत्तमा–१. समष्टि–समष्टि शब्द की विवृत्ति पूर्व लिखित है वहीं पर देखें।

२. नानात्वेन—प्रत्येक जीव के अज्ञान की सत्ता पृथक्-पृथक् है। जो जीव के द्वारा भाषित होती है। जीव अनेक हैं अतः अज्ञान भी अनेकत्व (ज्ञानात्व) से सम्पन्न है।

३. अजामेकाम्—यहाँ अज्ञान का एक होना 'एकाम्' पद से विवक्षित है। श्रुतियों में इसी अज्ञान को प्रकृति, अविद्या, तम, माया, अजा तथा अव्याकृत आदि पदों द्वारा व्यवहृत किया गया है।

४. वेदान्त दर्शन में अज्ञान की उपाधि से युक्त आत्मा की तीन अवस्थायें कही गई हैं—१. सुषुप्ति—इसमें कारण शरीर उपाधि होता है (आनन्दमय कोष)। २. स्वप्न—इसमें कारण शरीर + सूक्ष्म शरीर उपाधि होता है (विज्ञानमय कोष + मनोमय कोष + प्राणमय कोष = सूक्ष्म शरीर)। ३. जागरण—इस अवस्था में कारण शरीर + सूक्ष्म शरीर = स्थूल शरीर उपाधि होता है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोष भी कहते हैं।

५. ईश्वर और जीव दोनों ही अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं अतः दोनों की उपर्युक्त तीनों अवस्थायें होती हैं। ईश्वर स्वप्नावस्था में हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा तथा ब्रह्मा कहलाता है तथा जागरणावस्था में विराट् एवं वैश्वानर कहलाता है। जीव सुषुप्तिकाल में प्राज्ञ, स्वप्न में तैजस् तथा जागरण में विश्व कहलाता है। माण्डूक्य० में इसका विस्तृत विवेचन है।

[३६] एतदेव दृष्टान्तैरुपपादयितुमुपक्रमते तथा हि इत्यादिना। "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः। पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" (बृह० २।५।१८) "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्यरूपं प्रतिचक्षणाय" (ऋग्वेद ६।४७।१८)–बृहदारण्यकश्च २।५।१९) इति मन्त्रद्वयानुसारेणाज्ञानतत्कार्यावच्छिन्नोऽज्ञानतत्कार्यं प्रतिबिम्बितो वा चिदात्मा जीवेश्वरभावं भजत इति मतद्वयमुपरुध्य दृष्टान्तद्वयोपादानमिति सर्वत्र वनवृक्षजलाशयजलकीर्तनाभिप्रायो बोद्धव्यः॥

नानात्वेन इत्यादेरयमर्थः । अज्ञानं किं ब्रह्मनिष्ठमुत जीवनिष्ठम् । नाद्यो नित्यशुद्धत्वादिष्वभावविरोधात् । न द्वितीयोऽन्योन्याश्रयात् । तथा हि । अज्ञानमित्युक्ते कस्य किंविषयमित्याश्रयविषयसापेक्षताप्रतीतेर्न निराश्रयमज्ञानमस्तीति प्रतिपत्तुं शक्यम् । तस्य च जीवाश्रयत्वे जीवभावस्याप्यज्ञानाधीनत्वात्सिद्धे जीवभावेऽज्ञानस्य साश्रयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जीवत्वसिद्धिरिति कथं नान्योन्याश्रयः । नन्वनादित्वादज्ञानजीवभावप्रवाहस्य बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रय इति चेन्मैवम् क्रमभाव्यनेकबीजाङ्कुरव्यक्तिवदनेकाज्ञानजीवव्यक्तीनां सत्वे प्रमाणाभावात् । ननु "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० ६।८।१) "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" (बृह० १।४।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः सुषुप्तिप्रलययोर्जीवस्य परमात्मैकभावापत्तिश्रवणात्पुनः प्रबोधसर्गयोर्जीवभावापत्तेरवगम्यमानत्वाच्च तदा तद्विभागहेतोः संस्काररूपस्याज्ञानस्यापि कल्प्यमानत्वात्कथं न बीजाङ्कुरन्यायः प्रामाणिक इति चेत्किमिदानीं सुषुप्त्यादिकाले जीवस्य जीवत्वं नास्तीति विवक्षितम् । हन्त तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गो मुक्तानामपि संसारित्वप्रसङ्गश्च दुर्वारः स्यादविशेषात् । किञ्च सुषुप्त्यादावज्ञानसद्भावे तस्य ब्रह्माश्रितत्वप्रसङ्गोऽसद्भावे सुप्तानां पुनरुत्थान प्रसङ्गः । "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा" (छा० ६।९।२) इत्यादिसत्सम्पत्तिवाक्यशेषासङ्गतिप्रसङ्गश्चेत्यसमञ्जसमेतत् । अथाज्ञानजीवयोः स्वरूपेणैवानादितयाश्रयाश्रयिभावस्य नित्यसिद्धत्वान्नान्योन्याश्रय इति मतं तदपि न ब्रह्मण्यज्ञानाभावप्रसङ्गात् । नायमिष्टप्रसङ्गः "सोऽकामयत" (तैत्ति० २।६।१) "तदात्मानं स्वयमकुरुत" (तैत्ति० २।७।१) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणि जगत्कारणे कामयितृत्वादेरज्ञानकार्यस्य श्रूयमाणत्वात् । न च दृष्टिगतपीतिम्नः शङ्खे समारोपवज्जीवगताज्ञानविक्षेपस्य कामयितृत्वादेस्तद्विषये ब्रह्मणि समारोपः श्रुत्या कीर्त्यत इति वाच्यं तथा सति जीवानामेव जगत्सर्गस्थितिलयोपादानत्वात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१ (इत्यादिब्रह्मसामानाधिकारण्यं जगतः श्रूयमाणमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च पीड्येत । जीवस्य ब्रह्माभेदात्सर्वमेवोपपद्यत इति न कश्चिद्दोष इति चेत्तर्हि जीव पक्षपातं परित्यज्य ब्रह्मण एव जगत्स्रष्टृत्वादि यथाश्रुतं स्वीकर्तव्यम् । विना तस्याज्ञानाश्रयत्वं कूटस्थस्य न कामयितृत्वादीत्युक्तं तस्य च जीवाद्विभक्तस्यात्राज्ञानाश्रयत्वे तत्रापि स्यादन्योन्याश्रयः । ननु ब्रह्मणि जगत्कारणत्वादिनिर्वाहकमज्ञानं मायाशब्दवाच्यमन्यदेव जीवगतकर्तृत्वाद्यवभासहेतुभ्योऽज्ञानेभ्योऽविद्याशब्दवाच्येभ्य इति चेन्न मायाविद्ययोः श्रुतिस्मृतिसूत्राभियुक्तवचनैरेकत्वस्य

बृद्धैर्निरूपितत्वात् । अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभासप्रतिबन्धविपर्ययावभास-हेतुत्वस्य लक्षणस्यतुल्यत्वादविद्याभेदे च कल्पनागौरवदोषात् । एकाविद्यापक्षेऽप्यनन्तविक्षेपशक्तिकल्पनयाजाग्रत्स्वप्नबन्धमोक्षरसनाभुजङ्गादिव्यवहारव्यवस्थोपपत्तेः । न चात्रापि कल्पनागौरवं समानं धर्मिभेदकल्पनातो धर्मभेदकल्पने लाघवात् । इत्यास्तां विस्तरः ।

अतश्चिन्मात्रनिष्ठमज्ञानं तच्च जीवब्रह्मविभागहेतुर्ब्रह्मणो जगत्सृष्टृत्वादेर्जीवस्य कर्तृत्वादेश्च हेतुरित्यङ्गीकर्तव्यम् । न च चिन्मात्रस्य स्वप्रकाशत्वादज्ञानाश्रयत्व-विरोध । जीवपक्षेऽपि तुल्यत्वादन्तः करणपरिणामोपहितस्यैव चैतन्यस्याज्ञानविरोधि-त्वात् । न च ज्ञानवदज्ञानस्याप्येकाश्रयविषयत्वानुपपत्तिरावरकत्वेनापवरकस्थतमो-वत्तदुपपत्तेः । तदुक्तमभियुक्तैः :—

"आश्रयत्व विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला ।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः" ॥ इति ।
(संक्षे० शा० १।३१६)

तस्मादेकमज्ञानं चिन्मात्राश्रयविषयमिति स्थिते जीवावस्थायामेवाहमज्ञ इति स्फुटतरव्यवहारात्तदपेक्षया जीवगताज्ञानानामित्युक्तमिति । अनयैव दिशा—

जीवाश्रया ब्रह्मपदाह्यविद्या तत्वविन्मता" ।
(वेद सिद्ध मुक्तावली)

इति प्राचां वचनं योजनीयम् ॥

ननु नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवानामेकाज्ञानोपाधिकत्व एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसंग इति चेन्नायं दोष एकस्यैवजीवत्वादितरेषां तद्दृष्टिविजृम्भितत्वेन ततोऽनतिरेकात् । तर्हि कोऽसौ जीवो यद्दष्टिविजृम्भितं जीवान्तरमितिचेद्यः पश्यति स एव । अहं तु संसारिणमात्मानमन्यांश्च मद्विधान जीवान्पश्यामीति चेत्तर्हि त्वमेव जीवस्त्वविद्यया वयमन्ये च जीवा बद्धा मुक्ताः सुखिनो दुःखिन इत्येव विचित्राः कल्पितास्तवाब्रह्मसाक्षात्कारमविसंवादिताः प्रतिभासन्ते स्वप्न इव प्रबोधे । जाते तु ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वमेव त्व दृष्टिविजृम्भितं त्वया सह मोक्षिष्यते त्वत्सुसुप्ताविवेति । इयांस्तु पुनर्विशेषः । सुषुप्तावस्त्यज्ञानं सर्वकार्यसंस्कारोपरञ्जितं पुनर्व्यवहार प्रवर्तकं मुक्तौ तु तस्य ज्ञानेन बाधितत्वात्पुनर्व्यवहाराभावः । इत्यलं प्रसङ्गागत प्रपञ्चेन ॥ वनवृक्षयोर्जलाशय-

जलयोर्वा सामान्यविशेषभावो नास्तीति यद्यपि दार्ष्टान्तिकेन वैषम्यं तथापि समुदाय समुदायिनोरेकत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यात्सर्वांशेन च साम्यस्याविवक्षितत्वान्न कश्चिद्दोष इति गमयितव्यम्। अज्ञानैकत्व व्यपदेशिनीं श्रुतिं पठति **अजामेकां** इति। आदि पदात् "माया तु प्रकृतिं विद्यात्" "तरत्यविद्यां विततां" "अक्षरात्परतः पर." (मुण्ड० २।१।२) "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतं" (बृह० १।४।७) "तम आसीत्तमसा गूढं" (ऋक् संहिता १०।१२९।३) इत्याद्येकवचनान्त श्रुत्यन्तरग्रहः ॥

---

३७. **इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना ॥**

अनुवाद--यह समष्टि (व्यष्टि की अपेक्षा) उन्नत उपाधि वाली होने के कारण रागादिदोषशून्य शुद्ध सत्त्व गुण प्रधान है।

विद्योत्तमा १. उत्कृष्टोपाधितया—जब कोई वस्तु से भिन्न रूप में प्रकाशित हो, तो भासित होने का जो प्रयोजक हेतु होता है, वह उपाधि कहलाती है। वाचस्पत्यम् में उपाधि का लक्षण है—'अन्यथास्थितेस्य वस्तुनः अन्यथाप्रकाशनरूपे'। तर्कभाषा में उपाधि की परिभाषा है—'प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते'। प्रस्तुत पूरे पद का अर्थ है उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। प्रथम—समष्टिगत अज्ञान व्यष्टिगत अज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है, सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होने से इसमें आधारभूत अज्ञान की एकता पर आवरण नहीं पड़ने पाता, किन्तु व्यष्टिगत अज्ञान में आधारस्वरूप एकता तिरोहित हो जाती है। द्वितीय अर्थ—आगे वर्णित किये जाने वाले (प्राज्ञ) जीव की अपेक्षा ईश्वर के उत्कृष्ट होने का कारण है—वह समष्टिगत अज्ञान का स्वामी होता है और वह अप्रतिहत ज्ञानवान् होता है, लेकिन जीव व्यष्टिगत अज्ञान के अधीन तथा अल्पज्ञ होता है।

२. विशुद्धसत्त्वप्रधाना—यहाँ विशुद्धसत्त्वप्रधान से तात्पर्य है—ईश्वर स्थित माया (अज्ञान) में सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, उस विशुद्धसत्त्व के समक्ष रजस् तथा तमस् गुण अभिभूत से होते हैं न कि ईश्वर में स्थित माया (अज्ञान) में रजस् एवं तमस् गुण बिल्कुल नहीं रहता। प्रस्तुत पद का अर्थ है सत्त्वगुण समष्टि (ईश्वर) में स्थित अज्ञान में रजस् तथा तमस् को अभिभूत

किये रहता है स्वयं पराभूत नहीं होता है। जैसा कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका भी कहती है—

विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा।'

[३७] एकमेवाज्ञानं समष्टिव्यष्टिभेदभिन्नं परिकल्प्य समष्ट्यज्ञानोपधातनिबन्धनं चैतन्यव्यवहारं वक्तुं समष्टिं विशिनष्टि इयं इति। इत्कृष्टस्योपाध्यन्तराननुरक्ततयाप्रतिहतज्ञानात्मकस्य चैतन्यस्योपाधितया विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानं यस्याः सा तथाविधेयं समष्टिरित्यर्थः।

———

३८. एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलज्ञानावभासकत्वात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुतेः॥

अनुवाद—इस (उत्कृष्ट) उपाधि से युक्त चैतन्य को सर्वज्ञाता, सबका ईश्वर तथा सर्वनियन्ता आदि गुणों वाला, अव्यक्त, अन्तर्यामी, संसार का कारणरूप तथा ईश्वर आदि (नामों से) व्यवहृत किया जाता है। जो सर्वज्ञाता, सर्ववित् है' इत्यादि श्रुत्यानुसार यह सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशयिता है। (ईश्वरचैतन्य का वर्णन है।)

१. विद्योत्तमा–१. उपहितम्—(स्वरूप प्रकाशित होने में प्रयोजक हेतु) उपाधि से आरोपित प्रस्तुत पद का वाच्यार्थ है। यहाँ समष्टिगत अज्ञान की उत्कुष्ट उपाधि से युक्त परमात्मा (सर्वज्ञ) के लिये यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

२ सर्वनियन्तृ तथा अन्तर्यामी—ईश्वर के सर्वनियन्तृत्व (सबको नियन्त्रित करने वाला) प्रमाणित करने के लिये निम्न श्रुति ग्राह्य है—

'एष सेतुर्विधरणः।'

'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' श्रुतिवचन परमात्मा के अन्तर्यामी (भीतर से नियमन करने वाला) होने को प्रमाणित करती है।

3. The collective ignorance (उपाधि) is superior to the individual ignorance because the former is associated with Brahman and the later with jiva.

४. ईश्वर के सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन मुण्डक० करता है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयम् तपः।
तस्मादेतत् ब्रह्मनाम रूपमन्नम् च जायते ॥

५. The word Ishwar popularly known as God, has a peculiar meaning in the 'Advait Philosophy. The Vedantist does not believe Ishwar to be the absolute existence, because He is as unreal as the phenomenal universe, Brahman associated with ignorance is known as Ishwar. The difference between Ishwar and the ordinary man is that the former is not bound by its fetters, whereas the later is its a slave. —निखिलानन्द

६. तस्मै सर्वं ततः सर्वं स सर्वं सर्वतश्च सः'—योगवासिष्ठ ६।४८।३२

[३८] समष्ट्यज्ञानोपहितचैतन्यस्य व्यपदेशभेदं दर्शयति **एतदिति।** परमार्थतोऽसङ्गस्यापि चैतन्यस्याध्यासिकसम्बन्धसम्बद्धाज्ञानद्वारा सर्वावभासकत्वेन सर्वमर्यादाधारकसत्तारूपत्वेन सर्वजीवप्रवर्तकत्वेन च लब्धसर्वज्ञत्वादिगुणकस्य **सदव्यक्तमन्तर्यामीश्वर** इत्यादिव्यपदेशो भवतीत्यर्थः। उक्तेऽर्थे हेतुमाह **सकलेति।** सकलाज्ञानं समष्ट्यज्ञानं। अवभासकत्व शब्दो विधारकत्वादेरप्युपलक्षणार्थः। सर्वविक्षेपसंस्कारत्त्वादज्ञानस्य सत्कार्यवादाश्रयणाच्चाव्याकृताद्यवस्थास्वपि समष्ट्यज्ञानस्य सर्वत्वमिति द्रष्टव्यम्। उक्तव्यपदेशिकां श्रुतिमाह यः सर्वज्ञ इति। सर्वज्ञः सामान्यतः सर्वविद्विशेषत इति भेदः। आदिशब्दात् "सदैव सौम्येदं" (छा० ६।२।१) "एष सेतुर्विधरणः" (बृह० ४।४।२२) "एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह० ३।७।३) "महतः परमव्यक्तं" (कठ० ३।११) "यतो वा इमानि" (तैत्ति० ३।१) "यः परः स महेश्वरः" (महाना० १०।८) इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः।

---

३९. ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥

अनुवाद—ईश्वर की यह समष्टि (समूहोपाधि सबका मूलभूत कारण होने के कारण कारणशरीर' आनन्द का प्राचुर्य होने के कारण समष्टिभूत

अज्ञानात्मा को कोश के तुल्य आवश्यक होने के कारण 'आनन्दमय कोश' तथा सूक्ष्म व स्थूल जगत्प्रपञ्च के लयस्थान होने के कारण 'सुषुप्ति' कहलाती है।

विद्योत्तमा—१. कारणशरीरम्—सांख्यादि दार्शनिक विचारानुसार केवल सूक्ष्म व स्थूल दो शरीर माने गये हैं, किन्तु वेदान्ती इन दोनों सूक्ष्म, स्थूल शरीरों का विलय स्थान कारणशरीर मानते हैं। सांख्यमतानुसार यह प्रकृति की त्रिगुणात्मक साम्यावस्था मानी गई है।

२. आनन्दमयकोशः–आनन्दमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय तथा अन्नमय ये पाँच कोश वेदान्ती मानते हैं। इस अज्ञान (माया) के प्रथम अवतरण में ईश्वर ही आनन्द प्रचुर कहा गया है, जो ब्रह्म के अज्ञानोपाधि से आरोपित स्वरूप को स्पष्ट अभिव्यक्त करता है। उपाधिविहीन निर्गुण ब्रह्म तो आनन्द ही है। समष्टि अज्ञान को आनन्दमय कोष कहा गया है क्योंकि अज्ञानावस्था में विवेक नहीं रहता। अज्ञान को सुषुप्ति, महासुषुप्ति तथा प्रलय भी कहते हैं।

३. सर्वोपरमत्वात् तथा आनन्दप्रचुरत्वात्—सर्वोपरमत्वात् का अर्थ है व्यष्टिगत सम्पूर्ण सृष्टि के विलीन हो जाने का कारण। आनन्दप्रचुरत्वात् का अर्थ है जाग्रद् अवस्था की अपेक्षा अधिक आनन्द होने के कारण।

[३९] उपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरपि तं सहेतुकमाह **अस्येयं** इति। अज्ञानमिदंशब्दार्थः। आनन्दप्रचुरत्वमुपहितधर्मआच्छादकत्वमज्ञानधर्मः। तदुभयाविवेकात्कारणमज्ञानमानन्दमयकोशइत्यर्थः। सर्वआकाशादय उपरमन्तेऽस्मिन्निति सर्वोपरमोऽज्ञानम्। तादृग्भावात्सुषुप्तिर्महासुषुप्तिः प्रलय इति यावत्। यतः सर्वोपरमत्वमत एवेति योजना। स्थूलप्रपञ्चो विराट् सूक्ष्मप्रपञ्चो हिरण्यगर्भः॥

---

४०. यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथा ज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत्' इत्यादिश्रुतेः॥

अनुवाद—जैसे वन के वृक्षों का व्यष्टि (पार्थक्य की विवक्षा से 'वृक्ष' यह अनेकत्वज्ञापक व्यवहार होता है अथवा जैसे जलाशय स्थित जल को व्यक्तिगत (पृथकूता के) अभिप्राय से उसे 'अनेक जल' यह प्रयोग होता

है, उसी प्रकार अज्ञान को व्यष्टिरूप में 'अनेक अज्ञान' इस प्रकार बहुत्व का व्यवहार होता है। यही बात '(आत्मा) इन्द्र अज्ञानों के कारण बहुरूपवान् प्रतीत होता है' इत्यादि श्रुति में कही गई है। (प्राज्ञचैतन्य का वर्णन है।)

विद्योत्तमा–१. यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति तथा ज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः—यहाँ वन और वृक्ष का तथा जलाशय और जल का समष्टि और व्यष्टि का अभिप्राय समझने के लिये दो दृष्टान्तों को देने का प्रयोजन इस प्रकार है—चिदात्मा द्वारा अज्ञानाज्ञान कार्योपाधियुक्त होकर जीवभाव तथा ईश्वरभाव की प्राप्ति होने पर उसका इन उपाधियों से सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध का स्वरूप जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। इसकी कल्पना दो रूपों में की जा सकती है। पहली—चिदात्मा अज्ञान तथा उसके कार्यों से अवच्छेदपूर्ण है। दूसरी—उनमें प्रतिबिम्बित है। अवच्छिन्न मानने पर 'वन वृक्ष' का तथा प्रतिबिम्बित मानने पर 'जजलाशय-जल' का दृष्टान्त है। इसी कारण से इस प्रकरण में सर्वत्र दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

२. इन्द्रोमायाभिः— तमिन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निमाहुरथो सुपर्णो आदि वचन से सभी ईश्वरवाचक शब्द होने से इन्द्र भी ईश्वरवाचक है। माया उसकी शक्ति है, जिसे वेदान्ती अज्ञान कहते हैं, पुरु अर्थात् बहुत रूपों वाली प्रतीत होती है। ईश्वर एक ही है किन्तु संसार के बहुत से जीवों में स्थित अज्ञान के रूप में अनेक रूपों में प्रतिभासित हो रहा है।

[४०] एवं समष्ट्यज्ञानं साभासं सव्यपदेशं निरूप्य व्यष्ट्यज्ञानमपि सदृष्टान्तं तथा निरूपयति **यथा वनस्य** इत्यादिना। क्वैमनेकत्वव्यपदेशोऽज्ञानस्येति तदाह इन्द्र इति। इन्द्रः परमेश्वरः प्रकरणात्। स मायाभिर्मायाविक्षेपशक्तिभिर्विक्षितेषु देहेन्द्रियान्तःकरणेषु प्रतिबिम्बितः पुरुरूपो बहुरूपः सन्नीयते प्रकाशत इति श्रुत्यर्थः। आदि शब्दात् "य एको जालवानीशत ईशिनीभिः" (श्वेत० ३।१) इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः।

———

४१. अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः ॥

अनुवाद—ऐसे स्थल पर व्यक्तिगत तथा समुदायगत व्यापकभाव के कारण ही व्यष्टि (अनेकता) तथा समष्टि (एकता) का व्यवहार किया जाता है।

विद्योत्तमा—१. समष्टि रूप अज्ञान–संसार के समस्त जीवों के अज्ञानों को एक ज्ञान का विषय मानकर समष्टि रूप में देखना।

२. व्यष्टि रूप अज्ञान—समस्त अज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप को भिन्न-भिन्न ज्ञान का विषय मानकर, भिन्न-भिन्न रूप में देखना।

[४१] एकस्मिन्नज्ञाने व्यष्टिसमष्टिशब्दप्रयोगे निमित्तमाह **अत्रेति**। अज्ञानं सप्तम्यर्थः। व्यस्तव्यापित्वेन कार्योपाधिजीवव्यापित्वावभासेन व्यष्टिताव्यपदेशः। समस्तव्यापित्वेन कारणोपाधिसर्वज्ञाविभक्तसर्वव्यापित्वेन समष्टिताव्यपदेशेन इत्यर्थः।

---

४२. इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना ॥

अनुवाद—(अज्ञान की) यह व्यष्टि (समष्टि की अपेक्षा) निकृष्ट उपाधिभूत होने के कारण मलिन सत्त्वगुण प्रधान है।

विद्योत्तमा—१. मलिनसत्त्वप्रधाना—निकृष्ट जीव की उपाधि व्यष्टि रूप अज्ञान है, इसलिये उसमें स्थित सत्त्वगुण रजस् तथा तमस् से पराभूत होने के कारण मलिन होता है, जैसे स्वच्छ शीशे पर धूलि आदि पड़ जाने पर प्रतिबिम्बग्रहण की शक्ति घट जाती है वैसे ही सत्त्वगुण रजस् और तमस् के द्वारा पराभूत कर मलिन कर देने पर उसमें चिदात्मा का सुव्यक्त प्रतिबिम्ब नहीं प्रतिबिम्बित होता है। यही जीव के अल्पज्ञत्व का हेतु है।

२. निकृष्टोपाधितया—इसका अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है। **प्रथम**—व्यष्टि अज्ञान को समष्टि अज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट उपाधि से आरोपित कहने के तीन हेतु हैं—(अ) इसमें आधाररूप एकत्व अन्तर्हित हो जाता है। (आ) इसमें अहंकार स्थित रहता है। (इ) साथ ही आत्मातिरिक्त वस्तुओं का अध्याय इसी कारण से होता है। **द्वितीय अर्थ**—जीव ईश्वर की अपेक्षा अधिक निकृष्ट है। जबकि ईश्वर उपाधियुक्त अज्ञान का स्वामी होने के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न आदि कहा जाता है, किन्तु जीव अपनी उपाधिभूत (अज्ञान) माया के अधीन होने से अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवान् आदि कहा

जाता है। जीव के ज्ञान पर प्रतिबन्धकर्त्ता अविद्या का पर्दा डल जाने से जीव निकृष्ट होता है अपनी निकृष्ट उपाधि के कारण। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार—

'ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितया।'

ईश्वर और जीव के भेद को विशेष स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं—

मायाबिम्बो वशीकृत्य ताम् स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद् वैचित्र्यादनेकधा ॥

[४२] **निकृष्टोपाधितया** इति। ज्ञानप्रतिबन्धकावरणवान् जीवो निकृष्टस्तस्योपाधितयेत्यर्थः। मलिनं रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्वं प्रधानं यस्याः सा यथा। रजस्तमसोः स्वातन्त्र्येण प्रतिबिम्बोद्ग्राहकत्वायोगादिति भावः।

---

४३. एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात् ॥

अनुवाद—इस (निकृष्ट) उपाधि से उपहित चैतन्य को अल्पज्ञता, अनीश्वरत्व आदि गुणयुक्त होने के कारण तथा केवल (व्यक्तिगत) एक ही अज्ञान का प्रकाशयिता होने के कारण प्राज्ञ कहा जाता है।

विद्योत्तमा—१. एकाज्ञानावभासकत्वात्—समष्टिगत (एक) अज्ञान के एक अंश को (एक व्यष्टि रूप अज्ञान को) प्रकाशित करने के कारण।

२. प्राज्ञ—स्वामी रामतीर्थ के अनुसार प्रस्तुत शब्द का अर्थ है प्रायेण अज्ञः के अनुसार अज्ञानी। वैसे प्रकर्षेण जानाति इति प्रज्ञः = प्रज्ञः एव प्राज्ञः व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है बहुत ज्ञानवान् अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान से युक्त। लेकिन यहाँ (प्रस्तुत प्रकरण में) उसके अल्पज्ञत्व के साथ प्राज्ञ शब्द की यह व्युत्पत्ति उचित नहीं मेल खाती, अतः अज्ञानी अर्थ ही ठीक है। शंकर ने बृहद० और माण्डूक्य० के भाष्य में प्राज्ञ की दो व्याख्याएँ लिखी हैं—१. भूतभविष्यत ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञानत्वम् अस्यैव इति प्राज्ञः। २. प्रज्ञातिमात्रमंस्यैवासाधारणं रूपम् इति प्राज्ञः।

[४३] एतदुपहितंव्यष्ट्यज्ञानोपहितम्। **एकाज्ञानावभासकत्वात्**। अज्ञानैकदेशावभासकत्वादिति यावत्।

---

४४. अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात् ॥

अनुवाद—अस्पष्ट उपाधि से युक्त होने से एक से अधिक (अनेक) का प्रकाशक न होने के कारण इसे प्राज्ञ कहा जाता है।

विद्योत्तमा—अस्पष्टोपाधितया अनतिप्रकाशकत्वात्—धूलादि से अस्वच्छ दर्पण के समान प्राज्ञ की उपाधिरूपा अज्ञानव्यष्टि, रजस् तमस् के द्वारा सत्त्वगुण के पराभूत हो जाने से अस्पष्ट है। उपाधि से मलिन हो जाने से उसमें अस्पष्ट रूप से चिदात्मा रूपी सूर्य का बिम्ब सांसारिक विषयों को प्रकाशित नहीं करता, अतः प्राज्ञः कहलाता है। उपाधिभूत अज्ञान के मलिन हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चिदात्मा का प्रतिबिम्ब स्पष्ट हो ही नहीं सकता। यही वेदान्त में चिदाभास कहलाता है। यही सांसारिक वस्तुओं का प्रकाशक है। चिदाभास के अस्पष्ट होने पर संसार की चीजों को अधिक प्रकाशित न कर सकने के कारण यत्किञ्चित् ही प्रकाश प्रदान कर पाता है। यही प्राज्ञ के अल्पज्ञत्व का रहस्य है। यथा—उपाधिभूत अज्ञानदर्पण है, सत्त्वगुण स्वच्छता है, रजस् तथा तमस् धूलि आदि हैं, चिदात्मा सूर्य है। स्वच्छ दर्पण में सूर्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। सूर्य प्रतिबिम्बित दर्पण अन्धेरे में स्थित पदार्थों को भी प्रकाशित करता है किन्तु यदि दर्पण स्वच्छ नहीं है तो न तो सूर्य ही इसमें स्पष्ट प्रतिबिम्बित होगा तथा न ही वह अंधेरे में स्थित पदार्थों को प्रकाशित करेगा।

[४४] व्यष्ट्यज्ञानोपहितस्य प्राज्ञशब्दवाच्यत्वे कारणमाह अस्येति। अस्य जीवस्यास्पष्टोपाधितया रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्वप्रधानव्यष्ट्यज्ञानोपाधिकत्वेन हेतुनातिप्रकाशकत्वाभावात्प्राज्ञशब्दवाच्यत्वमित्यर्थः। प्रायेणाज्ञः प्राज्ञ इत्युक्तं भवति।

४५. अस्यापीदमहङ्कारादिकारणत्वात् कारणशरीरमानन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोषः सर्वोपरमत्वात्सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते ॥

अनुवाद—इस (व्यष्टि = जीव) को भी यह उपाधि अहंकार आदि का कारण होने के कारण 'कारण शरीर', आनन्दाधिक्य तथा शुद्ध चैतन्य को कोश के समान ढक लेने के कारण 'आनन्दमय कोश', सबका उपरमण होने से सुषुप्ति तथा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर प्रपञ्च के लीन होने का आधार होने से लयस्थान कहलाती है।

विद्योत्तमा—१. सुषुप्तिः—आत्मा की अज्ञानोपाधियुक्त दो अवस्थायें मानी गई हैं—एक सुषुप्ति दूसरी जाग्रत्। आत्मा के और जगत् के सृष्टिविकास की तीन दशाओं में भिन्न-भिन्न रूप होते हैं, इन्हीं को वेदान्ती लोग तीन-अवस्था तीन शरीर तथा पाँच कोशों से अभिहित करते हैं। ये हैं—सुषुप्ति अवस्था में या कारण शरीर में आनन्दमय कोश, स्वप्नावस्था या सूक्ष्म शरीर में विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश तथा जाग्रत-अवस्था में या स्थूल शरीर में अन्नमय कोश।

२. अहङ्कारादिकारणत्वात्—अहङ्कार शब्द से यहाँ अन्तःकरण अभिप्रेत है। अन्तःकरण सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान में लय हो जाता है तथा स्वप्न और जागरण में प्रविष्ट होते समय अज्ञान से ही उत्पन्न होता है। इसी से अज्ञान को अहङ्कार से उपलक्षित अन्तःकारणादि का हेतु बताया है। जैसा कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका भी कहती है—

'अहङ्कारादेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य कारणत्वात्।'

३. आनन्दप्रचुरत्वात्—जागरण तथा स्वप्न में आनन्द के साथ दुःख का भी अनुभव होता है किन्तु सुषुप्ति में केवल सुख का ही अनुभव होता है। कैवल्य उपनिषद् कहता है—'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति।' अर्थात् सुषुप्तिकाल में जागरण और स्वप्नप्रपञ्च के विलीन हो जाने पर जीव सुख का अनुभव करता है।

४. 'लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युः तरंगके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा॥
व्यावहारिकजीवस्य लयः स्यात्प्रातिभासिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि॥' वाक्यसुधा

अर्थात् जिस प्रकार फेन क्रमशः जल में मिल कर शुद्ध जल के रूप में रह जाता है, उसी प्रकार चैतन्य भी। व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता में विलीन हो जाती है और प्रातिभासिक सत्ता भी ततः पारमार्थिक सत्ता में विलीन हो जाती है।

[४९] पूर्ववदुपहितस्य व्यपदेशमुक्त्वोपाधेरप्याह अस्यापीति। अपि शब्द ईश्वरोपाधिदृष्टान्तार्थः। अहङ्कारादेः सुषुप्त्याद्यवस्थायां संस्कारावशेषेण स्थितस्य

कारणत्वादित्यर्थः। आनन्दप्रचुरत्वादेवेत्येवकारः कोशवदाच्छादकत्वादिति हेत्वन्तरसमुच्चयार्थः। यद्वा आनन्द प्रचुरत्वाद्धेतोरेवेति भिन्नक्रमः। तस्मिन्पक्षे कोशवदाच्छादकत्वादित्यनुषञ्जनीयम्। सर्वशब्दो जाग्रत्स्वप्नविषयः शेषमतिरोहितार्थम्॥

—: ० :—

४६. तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवत "आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञः" इति श्रुतेः 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमि' त्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च॥

अनुवाद—इस काल में (प्रलय या सुषुप्तिकाल में) वे ईश्वर और प्राज्ञ दोनों चैतन्य से प्रदीप्त अत्यधिक सूक्ष्म अज्ञानवृत्तियों से स्वरूपानन्द का अनुभव करते हैं। 'चेतोमुखी प्राज्ञ आनन्द को भोगता है' इत्यादि तथा 'मैं ऐसा सुख से सोया कि कुछ जान नहीं सका' आदि वाक्यों द्वारा अचेत पुरुष सोकर उठने के उपरान्त अपने पूर्वानुभव सुख को प्रकट करता है। (ईश्वर और प्राज्ञ का आत्मानन्दानुभव।)

विद्योत्तमा—१. **चैतन्यप्रदीप्ताभिः**—समष्टि तथा व्यष्टि चैतन्य से प्रदीप्त अज्ञानवृत्तियों से स्वप्न एवं जाग्रदवस्था में अन्तःकरण रूप में विकसित होने वाली ये अज्ञानवृत्तियाँ ही होती हैं। ये चिदात्मा से प्रतिबिम्बित होकर इनमें आनन्दानुभूति कराने की क्षमता आती है। ये चिदात्मा के चैतन्य से प्रकाशित होती है।

२. **अज्ञानवृत्तिभिः**—अन्तःकरण की वृत्तियों से अनुभूति तथा भोग स्वप्न और जाग्रत अवस्था में होकर सुषुप्ति में अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है अतः सुषुप्ति दशा में अन्तःकरण वृत्तियों से आनन्द की अनुभूति हो ही नहीं सकती।

३. **आनन्दभुक् चेतोमुखः**—चेतोमुखः का अर्थ शांकरभाष्य के अनुसार 'स्वप्न आदि अवस्था में अज्ञानरूप चेतना के प्रति द्वारस्वरूप होने के कारण चेतोमुख कहा है।' जब कि प्रस्तुत प्रकरणानुकूल बनाने के लिये रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में 'चैतन्य से प्रदीप्त होने वाली अज्ञानवृत्तियों को ही मुख्य रूप से आत्मीय बनाने वाला कहा है'—'चैतन्यदीप्ति अज्ञानवृत्तिप्रभावः।'

४. सुखमहमस्वाप्सम्—यह सर्वसामान्य लौकिक अनुभूति भी इस बात को प्रमाणित करती है। इससे पूर्ववर्णित आनन्द-भोग नकिञ्चिदवेदिषम्' से अज्ञानवृत्तियों का कारण बनना प्रमाणित हो रहा है।

[४६] "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छा० ६।८।१) इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्राज्ञस्येश्वरसम्पत्त्यमात्प्राज्ञेश्वरयोरेकत्वम् तदवस्थयोरप्यव्याकृतसुषुप्त्योरेकत्वं सिद्धवत्कृत्यानयोस्तदवस्थापन्नं भोगं दर्शयति तदानीं इति। तयोरप्यवस्थयोर्जीवावच्छेदकस्य व्यष्ट्यज्ञानस्य केनापि रूपेण स्थितत्वादेतावित्यादिद्विवचनोपादनं सर्वात्मनैक्ये पुनरुत्थानानुपपत्तेः। आनन्दं स्वरूपानन्दमनुभवतः। आनन्दशब्दोऽज्ञानतत्साक्षिणोरप्युपलक्षणपरः तदानीमखण्डात्मस्वरूपचैतन्येनैवानन्दाद्यनुभवेऽभ्युपगम्यमाने स्वरूपस्य नित्यत्वान्तज्जन्यसंस्काराभावेनावस्थान्तरे स्मरणरूपपरामर्शानुपपत्तेस्तदनुकूलमुपाधिविशेषं कल्पयति अज्ञानवृत्तिभिरिति। अन्तःकरणादेरप्यज्ञानकार्यत्वेन तदात्मकत्वात्तदभिप्रायोऽज्ञानशब्दो माभूदिति विशिनष्टि अतिसूक्ष्माभिरिति। दुर्लक्ष्यत्वमतिसूक्ष्मत्वम्। तासां वृत्तीनां जडत्वात्कथं ताभिरानन्दाद्यनुभव इत्यत आह चैतन्येति। तथा च वृत्तिविनाशात्तद्विशिष्टचैतन्यस्यापि विनाशात्संस्कारजन्यं स्मरणमवस्थान्तरे सम्भवतीति भावः। तत्र प्रमाणमाह आनन्दयुगिति। चेतोमुखश्चैतन्यदीप्तज्ञानवृत्तिप्रधानः। आदि शब्दात्—

"सुषुप्ति-काले सकले विलीने।
तमोभिभूतः सुखरूपमेति" ॥ (कैवल्य० १३)

इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः। तत्रैवानुभवमपि प्रमाणयति सुःखमिति। न चायं सुखपरामर्शो दुःखाभावविषयस्तस्य तत्राननुभूतत्वात्तदनुभवसामग्र्याश्च निरूपयितुमशक्यत्वात्। विस्तृतं चैतद्वृद्धैरित्युपरम्यते सङ्ग्रहाधिकारात् ॥

—: ० :—

४७. अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः॥

अनुवाद—वन और वृक्ष अथवा जल और सरोवर के समान इन समष्टि और व्यष्टिरूप अज्ञानोपाधियों का ऐक्य है (अभेद है)।

विद्योत्तमा—इन उपर्युक्त दोनों स्वरूपों में, अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर और प्राज्ञ) में वास्तविक भेद नहीं है। भेद है केवल उपाधि के तारतम्य के कारण। जैसे स्थूल जलाशय रूप उपाधि से अविच्छिन्न आकाश और तद्गत

प्रतिबिम्बाकाश में वास्तविक भेद नहीं है। उपाधियों के हट जाने से एक ही निरवच्छिन्न आकाश रह जाता है।

[४७] उक्तोपाध्योस्तदुपहितयोश्च प्राक्सिद्धवत्कृतमभेदं विशदयति अनयोरिति।

—: ० :—

४८. एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशय जलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः 'एष सर्वेश्वर' इत्यादिश्रुतेः॥

अनुवाद—इन अज्ञानोपाधियों से उपहित ईश्वर और प्राज्ञ भी एक ही हैं जैसे वन में वर्तमान और वृक्षों में वर्तमान आकाश अथवा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही हैं। श्रुतिवचन भी साक्षी है—'यह (आत्मा) सबका ईश्वर है।'

विद्योत्तमा—१. ईश्वर प्राज्ञयोः अभेदः—ऐसा समझा जाता है कि वेदान्ती लोग ईश्वर तथा जीव वह अभेद नहीं मानते जो अभेद सामान्यतया एकता माना जाता है। यदि ऐसा होता तो अद्वैत वेदान्तियों का—

'जीव ईशविशुद्धचित्तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

यह सिद्धान्त भंग हो जायेगा। अतः ईश्वर और प्राज्ञ (जीव) के अभेद को स्वरूपगत ऐक्य ही मानना चाहिये अर्थात् विशेष्य चैतन्य एक रूप है और विशेषण ईश्वर एवं जीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार के उपाधिगत काल्पनिक भेद से ही ईश्वर और प्राज्ञ में भेद है इसके विपरीत दोनों में अभेद है।

२. एष सर्वेश्वर—माण्डूक्य० में यह वाक्य इस प्रकार है—एषः सर्वज्ञः एषः अन्तर्यामि एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् अर्थात् यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और सब जीवों की उत्पत्ति तथा प्रलय का स्थान है तथा सबका कारण भी है।

३.**—समष्टि**—व्यष्टिरूप अज्ञान और ईश्वर प्राज्ञ की एकता का प्रतिपादन है।

[४८] प्राज्ञेश्वरयोरभेदे श्रुतिं प्रमाणयति एष सर्वेश्वर इति। आदिपदात् 'अथ एष य सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यत' (छान्दो० ८।३।४) इत्यादि श्रुत्यन्तरः।

———

४९. वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशावदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादि श्रुतेः ॥

अनुवाद—वन और वृक्ष में वर्तमान आकाश तथा जल और सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश का आधार उपाधि से रहित महाकाश के समान इन दोनों समुदायगत तथा व्यक्तिगत अज्ञान तथा इन उपाधियों से उपहित दो चैतन्यों (ईश्वर तथा प्राज्ञ) का आधार निरुपाधि शुद्ध चैतन्य है, उसे ही तुरीय नाम से अभिहित किया जाता है। श्रुतिवचन से भी स्पष्ट है 'अद्वैत ब्रह्म को ही चतुर्थ मानते हैं।

विद्योत्तमा—१. **आधारभूतानुपहिताकाशवद्**—अनुपहिताकाशवद् का अर्थ है घटाकाश, जलाशयाकाश आदि उपाधियों से रहित आकाश के समान। इसके लिये आधारभूत इसलिये कहा गया है कि यद्यपि आकाश न तो जल जलाशयों का और न ही वृक्षों का आश्रय है फिर भी आकाश के बिना इन सब (जलाशय-वन) की स्थिति ही नहीं हो सकती।

२. **तुरीयम्**—'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' वार्तिक से चतुर् शब्द से 'तुरीय' शब्द निष्पन्न होकर 'चतुर्थ' अर्थ देता है। प्राज्ञ—तैजस तथा विश्व की अपेक्षा चतुर्थ होने के कारण विशुद्ध चैतन्य तुरीय कहलाता है। किसी-किसी मत के अनुसार तीन अवस्थाओं सुषुप्ति, स्वप्न तथा जाग्रत की अपेक्षा चतुर्थ होने से तुरीय कहलाता है और आपदेव के अनुसार अविद्या—ईश्वर एव प्राज्ञ की अपेक्षा चतुर्थ होने से तुरीय है। क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं तीनों का निरूपण किया गया है। शंकराचार्य ने भी प्राज्ञ, तैजस और विश्व की अपेक्षा से अनुपहित चैतन्य को चतुर्थ प्रतिपादित किया है—'प्रतीयमान-पादत्रय रूप वैलक्षण्यात्।' तुरीय चैतन्य विशुद्ध चैतन्य है।

३. **शिवम्**—त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्।

तेभ्यो विलक्षणा साक्षी चिन्मात्रोऽहम् सदाशिवः॥ कैवल्य उप०

आनन्दगिरिः—परिशुद्धं परमानन्दबोधरूपम् इति।"

४. **अद्वैतम्**—भेदविकल्परहितम्—शंकराचार्य।

[४९] प्राज्ञेश्वरात्मकस्य चैतन्योपहितत्वेऽनुपहितं चैतन्यमन्यदेवेत्यर्थादुक्तेः किं तदित्यपेक्षायां तत्स्वरूपसञ्ज्ञे दर्शयति वन इति। आधारश्चासावनुपहितश्चासावाकाशश्च स तथा तद्वदितियावत्। तत्रप्याकाशस्य वनाश्रयत्वं जलाशयाश्रयत्वं वा नास्ति तदनारम्भकत्वात्तथाप्यवकाशमन्तरेण तयोः स्थित्यनुपत्तेः तदाधारत्ववचनमिति द्रष्टव्यम्।

---

५०. इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः-पिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं सल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥

अनुवाद—लोगों द्वारा जलते हुये लोहे के टुकड़े को आग ही कहने के समान यही चतुर्थ उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य, अज्ञानादि एवं उनके उपाधियुक्त दो चैतन्यों के साथ एकत्व व्यवहृत होता है और ये इस अवस्था में अद्वैत-प्रतिपादक महावाक्य के वाच्यार्थ होते हैं, लेकिन व्यष्टि विवक्षा होने पर भी महावाक्यों द्वारा प्रतिपादित एकत्व को लक्षणाश्रय पर लक्ष्यार्थ कहना चाहिये।

विद्योत्तमा—१. इदमेव तुरीयम्—इसके द्वारा अध्यारोप के विवेचन चित्त के तन्मय हो जाने से कहीं प्रकरण का मुख्य विषय कहीं विस्मृत न हो जाय, इसलिये प्रसङ्गवश उसको स्मरण दिला रहे हैं। वेदान्त का मुख्य ध्येय है जीव ब्रह्म की एकता, कहा गया है—'विषयो जीवब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्यं प्रमेयं तत्रैव वेदान्तानाम् तात्पर्यात्।

२. वाच्य लक्ष्यम्—साहित्यदर्पण में अर्थ को पूर्ण रूप से जानने के लिये तीन शब्दशक्तियाँ हैं—वे हैं—अभिधा (वाच्य), लक्षणा (लक्ष्यम) और व्यञ्जना। अभिधा से वाक्य का सीधा सादा अर्थ गम्यमान होने के कारण वाच्य कहलाता है। तथा वाक्य का अर्थ सीधे अन्वय से ठीक नहीं बैठता तब लक्षणा का आश्रय लेते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में लक्षणा की परिभाषा बताई गई है—

'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योर्थः प्रतीयते।
प्रयोजना द्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता ॥"

अभिधा से प्रतीयमान अर्थ का बाध होकर, रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य की प्रतीति जिससे होती है, वह लक्षणा है जो लक्ष्यार्थ कही

जाती है। तप्तायः पिण्डवत् में दाहकता अग्नि का धर्म है वह लौहपिण्ड में संक्रमण कर गई है अतः अयः पिण्ड अपने से सम्बद्ध अग्नि का लक्षणा से बोध कराता है। तप्त अयः पिण्ड का वाच्यार्थ होगा–अयः पिण्ड का अग्नि से अभिन्न प्रतीत होना लक्ष्यार्थ होगा—अग्नि का .अयः पिण्ड से भिन्न प्रतीत होगा। 'तत्वमसि' का इस प्रकार वाच्यार्थ होगा—अज्ञानोपहित चैतन्य ईश्वर-प्राज्ञ तथा तुरीय विशुद्ध चैतन्य की अभिन्नता। लक्ष्यार्थ होगा अज्ञानोपहित चैतन्य का शुद्ध चैतन्य से भिन्न प्रतीत होना।

[५०] अस्य चैतन्यस्य तुरीयत्वं वक्ष्यमाणविश्वाद्यपेक्षयेति द्रष्टव्यम्। तत्र प्रमाणमाह शिवमिति। आदि शब्दात्—

"त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ताभोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः"॥

(कैवल्य० १८)

इत्यादि श्रुत्यन्तरग्रहः। अध्यारोपेण व्यासक्तचित्ततया प्रकरणार्थविस्मरणं माभूदिति प्रसङ्गात्तमाह इदमेवेति॥

———

अज्ञान की शक्तियाँ

५१. अस्य अज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम्॥

अनुवाद –इस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं।

आत्मा स्वयं प्रकाश और चैतन्य स्वरूप होने पर भी अपने को क्यों नहीं जान पाता? तथा निरीह–असंग–उदासीन होने पर भी प्रपंच क्यों रचता है? इनके उत्तर में माया (अज्ञान) की शक्तियों का कथन है।

विद्योतमा—१. आवरणशक्तिः—प्रमाता जीव के दृष्टि के सामने पर्दा डालकर सत् चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्मा को आवृत करने वाली शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। जैसा कि सुबोधिनी टीका भी कहती है—

'सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः।'

२. विक्षेपशक्तिः—**ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक सम्पूर्ण नामरूपात्मक** संसार को (जल में बुलबुले के सदृश) पैदा करने वाली शक्ति विक्षेप शक्ति कहलाती है। सुबोधिनी टीका भी इसी का समर्थन करती है—

'ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुद्वत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः।'

३. अज्ञान यद्यपि ससीम है तथापि वह अपनी शक्ति से प्रमाता के सामने आवरण डालकर असीम तथा असंसारी आत्मा को प्रमाता की दृष्टि से छिपा लेता है। वस्तुतः आत्मा नित्योपलब्धिरूप है, किसी से छिप नहीं सकता, न बन्धनों में बँधता है, पर अज्ञानी वैसा समझने लगता है।

[५१] एवमवस्थामिमानिसहितमज्ञानं सविभागं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीं तत्कार्याध्यारोपं क्रमेण निरूपयिष्यंस्तदुपयोगित्वेनाज्ञानगतं सामर्थ्यं तावन्निरूपयति **अस्याज्ञानस्य** इति।

—:०:—

५२. आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—
घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा'
इति॥

अन्वय—यथा अतिमूढः घनच्छन्नदृष्टिः (सन्) अर्कं घनच्छन्नं, निष्प्रभं च मन्यते, तथा मूढदृष्टेः यः (आत्मा) बद्धवत् भाति, सः नित्योपलब्धिस्वरूपः आत्मा (एव) अहम् (अस्मि)।

अनुवाद—जैसे लघु मेघ का खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है इसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित, अजन्मा और असांसारिक आत्मा को आवृत्त कर देता है, ऐसी (यह) शक्ति है (यही) आवरण शक्ति कहलाती है। इसीलिये कहा गया है—

जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है, उसी भाँति जो मूढ़ साधारण दृष्टिवान् लोगों को जन्म-मरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है ऐसा वह नित्य एवं उपलब्धिस्वरूप अहम् या आत्मा है।

विद्योत्तमा—१. आच्छादयतीव—इसका अर्थ है मानों ढक लेता है। अर्थात् सत्यरूप में ढकता नहीं किन्तु ऐसा आभास होता है कि वह आवृत

है। यह उद्धरण अद्वैतवेदान्तियों का आत्मा के बन्धन और मोक्ष दशा की अयथार्थता प्रदर्शनार्थ बहुत ही लोकविख्यात है।

२. बद्धवद्भाति—बँधा हुआ सा प्रतीत होता है अर्थात् वेदान्तियों की दृष्टि में बन्धन और मोक्ष केवल प्रतीतिमात्र हैं वस्तुतः आत्मा बन्धन और मोक्ष से परे है।

[५२] तत्रावरणशक्तिं सदृष्टान्तरमुपपादयति **आवरणेति**। यद्यप्यज्ञानस्य मूर्तत्वामूर्तत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वान्न परिच्छिन्नत्वं तथापि परिच्छेद्यापेक्षयाल्पत्वमात्रं-विवक्षितमितिदृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्यम्। बुद्धिपिधायकतयेत्यत्र बुद्धिशब्देन तदनुरक्तं चैतन्यं लक्ष्यते बुद्धेरज्ञानकार्यत्वेन तदावृतत्वानुपपत्तेः। निरूपितेऽर्थे हस्तामलकाचार्यसम्मतिमाह तदुक्तमित्यादिना।

—:०:—

५३. अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःख-मोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते यथा स्वाज्ञानावृत्तायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना॥

अनुवाद—इसी आवरण शक्ति से आच्छन्न आत्मा की कर्तृता, भोक्तृता, सांसारिक सुखदुःखात्मक मोहात्मक तुच्छ भावनायें भी अज्ञानवृत रस्सी में सर्प होने की सम्भावना के तुल्य आरोपित होती हैं।

विद्योत्तमा—तुच्छ—तुच्छ का शाब्दिक अर्थ 'शून्य' है, लेकिन वेदान्ती लोग संसार को ऐसा (शून्य) नहीं समझते वे उसे सुख-दुःख रूप से प्रीतयमान संसार की दृष्टि से सत् तथा युक्तिपूर्वक विचारकों की दृष्टि से असत् और तत्त्वविदों की दृष्टि में तुच्छ बताते हैं।

[५३] उक्तामावरणशक्तिं तत्कार्यद्वारा बुद्धिमारोहयति अनयेति। अधिष्ठानस्वरूपविशेषावरणवशेन विपरीतार्थसम्भावनाभवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह यथा स्वाज्ञानेति।

—:०:—

५४. विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिक-मुद्भावयत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादि-प्रपञ्चादिमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्। तदुक्तम्—

'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति'॥

अनुवाद—विक्षेप शक्ति तो वह है—जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादित रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि की उद्भावना के समान अज्ञानावृत आत्मा में ही आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना कराती है, यह ऐसी शक्ति है। अतः कहा गया है—

'विक्षेप शक्ति ही लिङ्ग (सूक्ष्म सृष्टि) से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त संसार की रचना करती है।' [ब्रह्म से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को (नामरूपात्मक को) यह शक्ति पैदा करती है।]

विद्योत्तमा—विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्—इस वाक्य का निर्देश विक्षेप शक्ति तथा आवरण शक्ति दोनों का निर्देश करने के लिए 'दृग्दृश्य-विवेक' में इस प्रकार किया गया है—

'शक्तिद्वयं हि मायया विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥'

[५४] विक्षेपशक्तिं सदृष्टान्तामाह विक्षेपेति। अत्राप्याचार्यान्तरसम्मतिमाह तदुक्तं विक्षेपेति। आवरणविक्षेपशक्तिद्वयविशिष्टमज्ञानं कूटस्थासङ्गाद्वयचैतन्यात्मनो जगत्कारणत्वोपाधिरिति भावः। तदुक्तमभियुक्तैः—

"आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपं जीवेश्वरत्वजगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरणविभ्रमशक्तियोगा-दात्मत्वमात्रविषयाश्रयताबलेन॥ इति।
(संक्षेपशा० १।२०)

—: ० :—

५५. शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति॥

अनुवाद—दो शक्तियों की अज्ञानोपाधि से युक्त चैतन्य अपने प्राधान्य से निमित्त कारण तथा अपनी उपाधि के प्राधान्य से उपादान कारण होता है। (आत्मा संसार का कारण कैसे बनता है ? इसका उत्तर है।)

विद्योत्तमा—शक्तिद्वयवद्'''''''भवति—जिस भाँति एक ही मकड़ी अपने तन्तुरूप कार्य के प्रति चैतन्यप्रधानता के कारण निमित्त कारण

होती है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है। यदि मकड़ी चेतन न हो तो केवल शरीर से तन्तु नहीं बन सकता, यदि शरीर न हो तो केवल चैतन्य से ही तन्तु नहीं बन सकता। इस प्रकार जालरूपी कार्य में मकड़ी की चेतनता तथा उसका (विशिष्ट) शरीर दोनों ही कारण हैं। लेकिन चेतनांश के प्राधान्य के कारण शरीर निमित्त (कारण) है और वही मकड़ी शरीरप्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है क्योंकि शरीर का साक्षात् सम्बन्ध है। इसी प्रकार चैतन्य (ईश्वर) भी अपनी चैतन्य प्रधानता के कारण चराचर संसार का निमित्त कारण है तथा अज्ञान रूप उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान कारण भी है। संसार अज्ञानोत्पन्न है अतः अज्ञान (माया) संसार का उपादान कारण है। अज्ञान आत्मा में भी है अतः मायावी चैतन्य (ईश्वर) को परम्परया संसार का उपादान कारण कह सकते हैं, क्योंकि मकड़ी की भाँति ईश्वर भी सृष्टि के पूर्व एक, बिना किसी साधन के भी अपनी माया के द्वारा सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड तक स्थूल जगत् की सृष्टि कर देता है। अतः ईश्वर उपादान कारण है तथा इसके प्रधान कारण अज्ञान की अपेक्षा परम्परा से सम्बन्धित ब्रह्म के उपादान कारण होने पर इसमें 'ब्रह्म' के चैतन्य एवं नित्यत्व गुण नहीं रह सकते। चैतन्यांश से यह निमित्त कारण भी है।

[५५] नन्वेवं विधाज्ञानोपाधिकस्येश्वरचैतन्यस्यजगत्कारणत्वं तन्निमित्तत्वं स्यादुपादानत्वं वोभयं वेति जिज्ञासायामाह **शक्तिद्वयवत्** इति। स्व प्रधानतया कूटस्थचैतन्यस्वरूपावभासितया स्वोपाधिप्रधानतया उपाध्युपरक्तसत्तास्फूर्ति रूपयतेति भेदः।

---

५६. यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ॥

अनुवाद—जिस प्रकार एक ही मकड़ी जालरूप कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्त कारण है तथा अपने शरीर के प्राधान्य के कारण उपादान कारण भी है, उसी भाँति अज्ञानोपाधि युक्त आत्मा चैतन्य प्रधानता के कारण समस्त प्रपञ्च का निमित्त कारण तथा अज्ञान प्राधान्य के कारण उपादान कारण है।

विद्योत्तमा—यथा……भवति–यह मकड़ी का उदाहरण उपनिषदों में मूल रूप में इस प्रकार है—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि। तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥

अर्थात् जिस भाँति मकड़ी जाल को बनाती है तथा फिर उसे ग्रहण कर लेती है (निगल जाती है)। जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ (वनस्पतियाँ) उत्पन्न होती हैं तथा जैसे जीवित मनुष्य से केश तथा रोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म से यह संपूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। सृष्टि के पूर्व अद्वितीय एवं असहाय ईश्वर बिना बाह्यसामग्री के, अपनी माया से सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त स्थूल जगत् की रचना कर डालता है। ईश्वर के उपादान कारण होने पर भी यह जगत् नश्वर इसलिए है कि परिणामवाद में कार्य में कारण के गुण रहते हैं, किन्तु विवर्तवाद में नहीं। दही में दूध के गुण हैं किन्तु रस्सी में सर्प के नहीं हैं।

[५६] एकस्योभयविधकारणात्मकत्वे दृष्टान्तमाह **यथेति**। लूतोर्णनाभिः। तन्तुरेव कार्यं तन्तुकार्यम्। यथालूता तन्तु निर्माणे प्रसिद्धकार्पासतूलकाष्ठयन्त्रादिसहायमनपेक्ष्यैवतन्तूनातानवितानात्मकं च तत्कार्यं जालरूपं सृजत्येवमीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एवाद्वितीयोऽसहाय एव स्वमायाशक्त्यावेशमात्रेण लिङ्गादि ब्रह्माण्डाण्डान्तं जगत्सृजेदिति भावः। तथा च श्रुतिः। "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यं" (मुण्ड० १।१।६) इत्युपक्रम्य—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" ॥
(मुण्ड० १।१।७)

न्यायोऽपि। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इति (ब्रह्मसूत्र १।४।२३)

———

—सृष्टिक्रम—

५७. तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिश्रुतेः ॥

अनुवाद—तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य से आकाश, आकाश, से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई। 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ' यह श्रुतिकथन भी प्रमाण है। (सृष्टिक्रम पंचमहाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन है।)

विद्योत्तमा—१. तमः प्रधान—आकाश आदि तत्वों का कारणभूत अज्ञान में तमोगुण प्रधान होता है। इसका तात्पर्य है कि उसमें सत्त्व एवं रजस् गुण भी अल्प मात्रा में स्थित रहते हैं, किन्तु तमोगुण अन्य दोनों गुणों को अभिभूत किये रहता है। इसी से (तमोगुण की अन्य की अपेक्षा प्रधानता होने से) तमः प्रधान कहा जाता है। 'यद्यपि 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' से ज्ञात होता है कि माया (अज्ञान) में तीनों गुण समान हैं। किन्तु आकाशादि-प्रपंच में कारण गुणन्याय है।

२. आकाश—वेदान्ती लोग अन्य दार्शनिकों की भाँति आकाशादि को नित्य नहीं मानते अपितु 'उत्पद्यते' के द्वारा उत्पन्न होने वाला मानते हैं। यद्यपि इस विषय में नत्वाकाश नोत्पद्यते निरवयवद्रव्यत्वादात्मवदिति' इस वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता' आक्षेप उठता है किन्तु 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति से प्रस्तुत आक्षेप का निराकरण हो जाता है, क्योंकि पृथिवी आदि के सदृश आकाश भी महत्त्वयुक्त होने पर भूत है, इसलिये उत्पन्न होता है जैसा कि कहा भी है—'आकाशमुत्पद्यते महत्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यादिवदिति'।

३. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सम्भूतः—इसके प्रामाण्य से वैशेषिकों का सिद्धान्त आकाश तथा अन्य चार भूतों को नित्य मानने का आक्षेप बाधित होता है। तथा सांख्य का प्रकृति कारणवाद भी खण्डित हो जाता है। नैयायिकों का परमाणु-कारणवाद भी निरस्त है।

४. अज्ञानोपहितचैतन्यात्—अशेषविश्व ब्रह्म से विकसित हुआ है—(क) 'पुरुष एव इदं सर्वम्'—ऋग्वेद, दशम् मण्डल।

(ख) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति०। तै० उ०

(ग) अहम् सर्वस्य प्रभवः मत्तः प्रवर्तते। गी०।

[५७] तदेवं चैतन्यस्य जगत्कारणत्वं प्रपञ्चय ततः कार्योत्पत्तिक्रमं दर्शयति **तमः प्रधानं** इति। तमसः प्राधान्यनिर्देशाद्रजः सत्वयोरपि तत्र मात्रया

वृत्तिर्द्रष्टव्या । उक्तभूतसृष्टिक्रमे प्रमाणमाह तस्मादिति नन्वाकाशं नोत्पद्यते निरवयव द्रव्यत्वादात्मवदिति चेन्न । उदाहृतश्रुतिबाधितविषयत्वेनानुत्थानात्प्रत्यनुमानविरोधाच्च । तथा हि आकाशमुत्पद्यते महत्त्वे सति भूतत्वान्महापृथिव्यदिवत् । न चाश्रयासिद्धो हेतुराश्रयस्याकाशस्योभयवादिसिद्धत्वात् । न च धर्मिग्राहक प्रमाणबाधनिबन्धनाप्याश्रयायासिद्धता हेतोः । धर्मिग्राहक प्रमाणेन शब्दाश्रयत्वेनाकाशाख्यधर्मिमात्रसिद्धावपि तद्गतनित्यत्वादेस्तेनासिद्धेः । न च स्वरूपासिद्धो भूतत्वमहत्त्वयोः पक्षे सम्प्रतिपत्तेः । नापि व्याप्यत्वासिद्धो निरुपाधिकत्वात् । न च मूर्तत्व सावयत्वरूपत्त्वादेरुपाधित्वं शक्यं गुणकर्मणोः साध्याव्याप्तेः । भूतत्वद्रव्यत्वसामान्यवत्त्वादेश्च साधनव्यापकत्त्वात् । अत्र द्रव्यत्वव्यतिरिक्तावान्तरजातिमत्त्वमुपाधिरिति चेन्न प्रध्वंसेन साध्याव्याप्तेः । तस्योत्पत्तिमत्त्वेऽपि जात्याश्रयत्वाभावात् । न च साध्यस्योत्पत्ति मत्त्वस्य भावधर्मिकत्वान्न प्रध्वसे प्रसक्तिरितिवाच्यमुत्पत्तिमात्रस्यैवाकाशे साध्यत्वात् । अन्यथा विप्रतिपत्त्यविषयाणां द्रव्यत्वादीनां धर्मिगतानां साध्यताप्रसङ्ग इत्यनुमानाकौशलमापद्येत । न चान्यः कश्चिदुपाधिरुत्प्रेक्ष्यते । अविभुत्वं त्वाकाशेऽपि वेदान्तिनः समानं "ज्यायानन्तरिक्षात्" (छा० ३।१४।३) "येनावृतं एवं च दिवं" (महाना० १।३) इत्यादावात्मापेक्षयाकाशस्य न्यूनपरिमाणत्वश्रवणात् । अतो न तं प्रति तस्योपाधित्वम् । नापि विरुद्धः साध्यविपर्ययाव्याप्तेः । नापि साधारणानैकान्तिकोविपक्षाप्रवेशात् । नाप्यसाधारणः सपक्षगामित्वात् । नापि कालातीतो बाधकप्रमाणानिरूपणात् । न चोक्तानुमानं बाधकमिति वाच्यं तस्य नरशिरः कपालशुद्धतानुमानवदागमबाधितविषयत्वस्योक्तत्वात् । न च श्रुतेराकाशाभिव्यक्तिमात्रार्थत्वान्नोत्पत्त्यर्थतेति वाच्यम् । सिद्धे चानुमानस्याबाधितविषयत्वेन प्रामाण्ये श्रुतेरन्यार्थत्वसिद्धिस्तत्सिद्धावितरसिद्धिरितीतरेतराश्रयात् । किञ्च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इति (तैत्ति० २।१) सकृच्छ्रुतः सम्भूतशब्द आकाशे साक्षात्सम्बध्यमानो गौणः स एव वाय्वादावनुषज्यमानो मुख्य इति महदिदं व्याख्यानकौशलं तार्किकपशोः । नापि सन्दिग्धानैकान्तिकता विपक्षव्यावृत्तेः स्फुटत्वात् । नापि प्रकरणसमता त्वदनुमानस्य दुर्बलत्वेनोभयोः समानबलत्वाभावात् । निरवयवद्रव्यत्वस्य विनश्यदवस्थापन्ने पटे व्यभिचारात् । अवयवत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वं निरवयवशब्देन विवक्षितमिति चेन्न । अवयवशब्देन प्रदेशविवक्षायां सर्वस्याप्यवयविप्रदेशस्याव-

यवत्वेनोपक्षीणत्वादवयव्यभावप्रसङ्गात् । आश्रयविवक्षायामन्यतरासिद्धो हेतुः स्यादाकाशाश्रयस्य ब्रह्मणो ममेष्टत्वात् । तस्मात्त्वदनुमानं न प्रतिपक्षः । नापि प्रतिपक्षान्तरमुत्प्रेक्ष्यते । तस्मादनुमानेनाप्याकाशोत्पत्तेः सम्भावितत्वाच्छुष्कतर्कश्रद्धामनादृत्य श्रुत्युक्तमेवाकाशजन्मेतरजन्मवच्छ्रद्धेयम् । अभ्युपगम्य चेदं परमाणूनामनुत्पत्तिमत्त्वं महत्वे सतीति हेतुर्विशेषितः । तदनभ्युपगमे तु भूतत्वादित्येव हेतुः । तथा हि चतुर्विधाः परमाणव उत्पद्यन्ते मूर्तत्वाद्भूतत्वाद्वा पटादिवत् । न च मनसि मूर्तत्वहेतो रनैकान्तिकता तस्यापि पक्षतुल्यत्वात् । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः सिद्धेऽपि तेन धर्मिस्वरूपे तद्गतनित्यत्वादेरसिद्धेः । न च परमाणूनापि कार्यत्वे कारणानवस्थानान्न किमपि मूलकारणं जगतः स्यादिति वाच्यं ब्रह्मण एव जगन्मूलकारणस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धत्वात् । तथा दिक्कालावुत्पत्तिमन्तावचेतनभावत्वात्पटवत् । न चास्माकमविद्यायां व्यभिचारस्तस्या भावाभावविलक्षणत्वाभ्युपगमात् । अन्येऽपि हेत्वाभासाः पूर्ववदुद्धरणीयाः । न च सामान्यविशेषसमवायेषु व्यभिचारस्तत्र सामान्यस्य विचार्यमाणे ब्रह्मस्वरूपानतिरेकादचेतनत्वहेतोस्तत्राप्रवृत्तेः । तथाहि विशेषास्तावत्सामान्ये कल्पिता इति त्वविद्यावादे निरूपितम् । तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यविशेषाणां सामान्यमात्ररूपतायां सत्तायामन्तर्भावः । सत्ताया अपि स्फुरणविरहितायाः क्वाप्यनुपलम्भात्स्फुरणमात्रत्वं युक्तम् । स्फुरणं च ब्रह्मैव "सदेव सौम्येदं" (छा० ६।२।१) "सत्यं ज्ञानं" (तैत्ति० २।१।१) इत्यादिश्रुतेः । "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्मवेद" (बृह० २।४।६) इत्यादौ परब्रह्मस्वरूपातिरिक्तत्वेन ब्राह्मण्यादिजातिं विजानतो निन्दाश्रवणाच्च । तस्मान्न सामान्ये व्यभिचारः । विशेषसमवायौ तु खपुष्पकल्पौ । अनयोर्यथा खपुष्पकल्पत्वं तथा चिदानन्दलहरीटीकायां प्रपञ्चितमस्माभिरितीहोपरम्यते । श्रुतयश्च भवन्ति प्रत्यनुमानबाधिकाः । "अणोरणीयान्" (तैत्ति० आर० १०।१०।१) इतिहि परमाणोरणीयः परमकारणं ब्रह्म दर्शयित्वा "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" (तैत्ति० आर० १०।१०।३) इति तैत्तिरीयश्रुतिस्तद्व्यतिरिक्तमणुमहच्चाविशेषेण प्रतिषेधति । "असतोऽधि मनोऽसृज्यत" (तैत्ति० ब्रा० २।२।९ । १०) "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड० २।१।३) इति च तैत्तिरीयाथर्वणश्रुती मनस उत्पत्तिं स्पष्टमाचक्षेते । तथा "ज्ञः कालकालो गुणी

सर्वविद्यः" (श्वेता० ६।२) "सर्वे निमेषा जज्ञिरे" इति च (तैत्ति० आर० १०।१।२) श्वेताश्वतरतैत्तिरीयश्रुती कालस्यापि कार्यतामावेदयतः। "पुरुष एवेदं सर्वं" (ऋक्-संहिता १०।९०।२) इत्युपक्रम्य "दिशः श्रोत्रात्" (ऋक् सं० १०।९०।१४) इति पुरुषसूक्तात्मिका श्रुतिर्दिशां पुरुषविकारत्वं सूचयति। वस्तुतस्तु प्राच्यादिव्यपदेशस्यादित्यगत्युपाधिना नभस्येव कल्पितत्वान्नाकाशातिरिक्ता दिगस्तीति गमयितव्यम्। न च ब्रह्माप्युत्पद्यते कारणत्वादाकाशवदिति वाच्यं "अजो नित्य" (कठ० २।१८) इत्यादिश्रुतिविरोधात् "असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः" (ब्रह्मसू० २।३।९) इति न्यायविरोधाच्च। एतेन जगदुत्पत्तिप्राक्काले ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु नास्तीति दर्शितम्। अविद्यायाश्चात्मशक्तित्वेन ततः पार्थगर्थ्यायोगाज्जीवानां च तदा परमात्मनि सम्पन्नत्वात्तददृष्टानां च तदुपाध्यन्तःकरणनिष्ठानां तत्संस्काराविशेषाविद्यामात्रत्वेन पृथक्सत्त्वाभावात्। विस्तृतं चेतदाचार्यैर्वियदधिकरणादाविति विश्रम्यते। "आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः" (तैत्ति० २।१।१) इत्यादावाकाशादि भावमापन्नादविद्यासहायाद्ब्राह्मण एव वाय्वादीनामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम्। "तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत" (छा० ६।२।३) इत्यादि श्रुत्यन्तरे तेजः प्रभृतेरपीक्षणपूर्वकमवादिसृष्टृत्वश्रवणात्। अचेतनस्य चेक्षणानुपपत्तेः। न्यायोऽपि तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः" (ब्रह्मसूत्र २।३।१३) इतीममेवार्थं निर्णयति। एतेन प्रधानाण्वादिवादा निरस्ता वेदितव्यास्तेषां श्रुतिविरुद्धत्वान्न्यायविरुद्धत्वाच्च। न ह्यचेतनं चेतनानधिष्ठितं किञ्चित्कुर्वदुपपद्यते रथशकटादावदर्शनात्। अतो न प्रधानवाद आश्रयणीयः। तथा परमाणुवादोऽपि अण्वोर्द्वयोः संयोगस्याव्यवृत्तित्वे तयोः सावयवतापत्तेरनित्यत्वप्रसङ्गः। तत्संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्वे निरवयवयोरण्वोरेकस्मिन्नतरस्य सम्मितत्वात्प्रथिमानुपपत्तिस्तथा च तत्कार्यस्य द्व्यणुकस्यापि परिमण्डलत्वप्रसङ्गः। किञ्च द्व्यणुकारम्भसमये परमाणू कथञ्चिद्विक्रियेते न वा। आद्येऽनित्यत्वादिदोषापत्तिर्मृत्पिण्डादिवत्। द्वितीये परमाणुसमूह एव द्व्यणुकादिकार्यम् स्यात्तृणतूलवत्। इत्यलं प्रपञ्चेन प्रकृतमनुसरामः॥

---

५८. तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते॥

अनुवाद—उनमें जड़ता अधिक दिखाई देने के कारण तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त चैतन्य ही उसका कारण है। उस समय उन्हीं आकाशादि पञ्चभूतों में अपने-अपने साक्षात्कारों के गुणाधार पर सत्त्व, रजस् और तम की उत्पत्ति होती है।

विद्योत्तमा—१. सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण—उपादान कारण के सत्त्वरजस् तथा तमस् तीनों गुण कार्य में विद्यमान रहते हैं। अतः 'जाड्याधिक्य दर्शनात्' अर्थात् जड़ता अधिक होने के कारण कहा गया है। 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कारणस्थित सूक्ष्म गुण कार्य में अधिक ठोसतर और कठोर होकर अभिव्यक्त होते हैं। विद्वन्मनोरञ्जनी के अनुसार—

'कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण, तान् गुणान् आरभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः।' जैसे-जैसे कार्य उत्पन्न होते जाते हैं वैसे-वैसे उनके कारणों में रहनेवाले सत्त्व, रजस् तथा तमस् गुण उन कार्यों में उनकी उत्पत्ति के साथ ही उद्भूत हो जाते हैं। तर्कभाषा में 'कारणगुणप्रक्रमेण' की व्याख्या इस प्रकार है 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।' इस वैशेषिक दर्शन के मत के वाक्य का जो तात्पर्य है वह वेदान्तियों के मत से संगत नहीं बैठता, क्योंकि वेदान्त में आकाश आदि उत्पन्न होते हैं नित्य नहीं होते। वेदान्त के अनुसार 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते का अर्थ 'कारण ही भिन्न-भिन्न कार्यों की आकृति में स्थित होता है, इसलिये कारण स्थित गुण कार्य में भी अनुविद्यमान रहते हैं।' होगा।

सांख्य तथा वेदान्त सत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं जबकि वैशेषिक तथा न्याय दर्शन आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवाद में आस्था रखते हैं। वेदान्त के अनुसार कारण ही कार्य के आकार में स्थित होता है।

२. तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्—उन (आकाश आदि पञ्चमहाभूतों) में जाड्य (जड़ता-अचैतन्य) की अधिकता साक्षात् दीख पड़ती है, अतः उनके कारणस्वरूप अज्ञान में भी जड़ता होना स्वाभाविक है। जड़ता तमोगुण का धर्म होने के कारण जैसा कि सांख्यकारिका कहती है, (गुरु वरणकमेव तमः) अज्ञान तमोगुणप्रधान होता है। रामतीर्थ के कथनानुसार 'आधिक्य' पद

भूतो (आकाश आदि) और उनके कार्यों में चैतन्य की भी अल्पोपस्थिति को सूचित करता है। 'वाक्यसुधा' स्पष्ट कहती हैं—

'अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

[५८] तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितं चैतन्यमाकाशादिकारणमित्युक्तं तत्कथमवगम्यते भूतकारणाज्ञाने तमःप्राधान्यमिति तत्राह तेषु च इति। जाड्याधिक्यदर्शनात् इत्यत्राधिक्यशब्दं प्रयुञ्जानः सत्तास्फूर्तिपदत्वेन कार्येषु चैतन्यस्यापीषदनुवृत्तिं सूचयति। तथा चाहुस्तत्त्वदर्शिनः।

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्" ॥ इति। (वाक्यसुधा २०)

वशिष्ठोऽप्याह—

"यदस्ति यद्भाति तदात्मरूपं
नान्यत्ततो भाति न चान्यदस्ति।
स्वभावसंवित्प्रतिभाति केवला
ग्राह्यं गृहीतेति मृषः विल्कपः" ॥ इति।

उत्पद्यमानेष्वाकाशादिषु वक्ष्यमाणकार्यानुरूपं गुणत्रयमुपलम्भयति तदानीमिति। कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्त्वादयः तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानारभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यैस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः॥

५९. एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते॥

अनुवाद—ये ही सूक्ष्मभूत तन्मात्रा और अपञ्चीकृत कहे जाते हैं।

विद्योत्तमा—१. **सूक्ष्मभूतानि**—इसका उल्लेख आगे के प्रसङ्ग में किया जायेगा। आगे लिखे जानेवाली स्थूलभूतों की अपेक्षा जो सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। तथा जाग्रत अवस्था में व्यवहारोचित नहीं होते, वे सूक्ष्मभूत कहलाते हैं।

२. **तन्मात्राणि**—ये सूक्ष्मभूत दूसरे भूतों में सम्मिश्रित नहीं होते तथा अपने विशुद्ध स्वरूप में होते हैं। सूक्ष्म दशा में आकाश में केवल शब्द (तन्मात्रा), वायु में केवल स्पर्श, तेज में केवल रूप, जल में केवल रस और पृथिवी में केवल गन्ध ही रहता है। और जब इन पाँचों सूक्ष्मभूतों का

पञ्चीकरण हो जाता है तब ये स्थूलत्व को प्राप्त कर प्रत्येक (महाभूत) पञ्चात्मक हो जाते हैं (प्रत्येक में पाँचों भूतों का अंश रहता है) । विद्वन्मनोरञ्जनी के अनुसार—'तान्येवेति तन्मात्रीणति समासविग्रहः । 'शब्दादितावन्मात्रैकस्वभावान्यपञ्चीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते ।'

[५९] नन्वव्याकृतात्पञ्चतन्मात्राणि क्रमेण जायन्त इति हि स्मृतीतिहासपुराणेषु प्रसिद्धिस्तत्कथमाकाशादेरिहोत्पत्तिराम्नायत इति तत्राह एतान्येवेति । एतान्येवाकाशादीनि सूक्ष्मभूतानि व्यवहाराक्षमाणि तन्मात्राणि शब्दादितावन्मात्रैकस्वभान्यपञ्चीकृतानि परस्परमसंसृष्टानि चेति स्मृत्यादिषूच्यन्ते महर्षिभिरित्यर्थः । तदेवं भूताध्यारोपं श्रौतमनुक्रम्येदानीं भौतिकाध्यारोपं प्रतिजानीते एतेभ्य इति ॥

---

६०. एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥

अनुवाद—इन्हीं से सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं ।

विद्योत्तमा—१. सूक्ष्मशरीराणि—सांख्यमतानुसार सूक्ष्मशरीर के अट्ठारह अवयव होते हैं जबकि वेदान्त सूक्ष्म शरीर को सत्रह भागों वाला मानता है । वेदान्तियों के सूक्ष्मशरीर का विवरण निम्न कारिका प्रस्तुत करती है—

'पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥

सूक्ष्मशरीरोत्पत्ति—

६१. सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि ।

अनुवाद—सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयव हैं, ये ही लिङ्गशरीर हैं ।

विद्योत्तमा—१. सूक्ष्मशरीराणि—इसकी व्याख्या ऊपर देखें । शतपथ ब्राह्मण कहता है— 'सप्तदशः प्रजापतिः ।'

२. लिङ्गशरीराणि—सूक्ष्म शरीर ही लिङ्गशरीर कहे जाते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापन होता है । जिस भाँति सूक्ष्म शरीर के वेदान्त में सत्रह अवयव माने गये हैं वे ही लिङ्गशरीर के भी अवयव हुये, क्योंकि सूक्ष्मशरीर की ही दूसरी संज्ञा लिङ्गशरीर है । लिङ्गशरीर संज्ञा से अभिहित होने का कारण इस प्रकार है—

'लिङ्गयते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि,
लिङ्गानि च तानि शरीराणि चेति लिङ्गशरीराणि ॥'

पञ्चदशी के अनुसार लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर के अवयव हैं—

बुद्धि, कर्मेन्द्रिय, प्राणपञ्चकैरमनसाधिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥

किन्तु सांख्यतत्वकौमुदी में इसके निम्नलिखित अवयव कहे गये हैं—

'महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्' ।

[६०-६१] प्रतिज्ञातैकदेशं विवृणोति **सूक्ष्मशरीराणि** इति। लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि तानि च तानि शरीराणि च शरीरप्रतिष्ठत्वाच्छरीरसाधनत्वाद्वा धर्मादिद्वारेणेति लिङ्गशरीराणीत्यर्थः। तथा च प्रयोगः। "विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्त-योऽचेनत्वाद्रथादिवत्" इति। श्रुतिश्च भवति। "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः" (बृह० ४।४।१८) इति "यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणं" (छा० ८।१२।४) इत्यादिका च।

---

६२. अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसो, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्च-कञ्चेति ॥

अनुवाद—वे अवयव हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु ।

विद्योत्तमा—१. ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्—इसका तात्पर्य है पञ्च (पाँच) ज्ञाने-न्द्रियाँ आकाशादि में स्थित सत्त्वगुणांश से क्रमानुसार अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। अर्थात् आकाश के सत्त्वगुणांश से श्रोत्र (कान), वायु के सत्त्वगुणांश से त्वक् (त्वचा), तेज के सत्त्वगुणांश से चक्षु (नेत्र), जल के सत्त्वगुणांश से रसना (जीभ) तथा पृथिवी के सत्त्वांश से घ्राण (नासिका) का उद्भव होता है। कारिका भी है—

'सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥'

[६२] के पुनः सप्तदशावयवा इति तानाह **अवयवास्तु** इति। ननु कथं लिङ्गशरीरं सप्तदशावयवमितिनिर्धार्यते। यावता पुर्यष्टकं लिङ्गमाचक्षते सुरेश्व-राचार्याः पञ्चीकरणवार्तिके—

"ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम् ॥
प्राणोऽपानस्तथा व्यानउदानाख्यस्तथैव च।
समानश्चेति पञ्चैताः कीर्तिताः प्राणवृत्तयः॥
खं वाय्वग्न्यब्धरित्र्यश्च भूतसूक्ष्माणि पञ्च च।
अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः"॥ इति।

अन्यत्र पुनरन्यादृशं वर्णितम्। भूतसूक्ष्मपञ्चकं कर्मज्ञानेन्द्रियपञ्चकद्वयं चतुर्वृत्तिकमेकमन्तःकरणं पञ्चवृत्तिक एकः प्राणश्चेति सप्तदशावयवा इति। अतः कथं निर्णय इति। उच्यते। न चैतेषां पक्षाणां विकल्पोऽभ्युपेयते वस्तुनि तदयोगान्नापि समुच्चयस्तत्र प्रमाणाभावात्किन्त्विहोक्तस्य सप्त दशकस्यैव संक्षेपविस्तरभेदेन तथा तथा तत्र तत्र कथनम्। तथाहि। इहोक्तानां हि सप्तदशानामवयवानां भूतसूक्ष्माण्युपादानानि तदुपादानं चाविद्या। अतश्चोपादानोपादेययोरभेदान्नाविद्या भूतसूक्ष्मेभ्यः पृथग्विवक्ष्यते। भूतसूक्ष्माणि च लिङ्गशरीरेभ्यो न पृथगभिप्रेयन्ते। कामकर्मणोरप्यन्तःकरणवृत्तित्वेन तदाश्रितत्वेन च तदभेदान्न पार्थगर्थ्यविवक्षा। अतः पुर्यष्टक वार्तिकेन न विरोधः। तथा पक्षान्तरेऽपि भूतसूक्ष्माणि तत्कार्येभ्यः पृथक्कृत्यान्तःकरणप्राणयोश्च वृत्तिवृत्तिमतोरभेदं गृहीत्वा सप्तदशत्वं निरूपितम्। तथा च "सप्तदशः प्रजापतिः" (शतपथ ५।२।२।३) इति श्रुतेः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य सप्तदशत्वावगमात्सप्तदशावयवमेव लिङ्गशरीरं मुख्यं ज्ञेयमिति। तदुक्तमभियुक्तैः—

"मुख्यं तु सप्तदशकं प्रथितम् हि लिङ्गम्"। इति। (सं० शारी० ३।१९)

---

३. ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि॥

अनुवाद--श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, तथा घ्राण ये (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।

विद्योत्तमा—१. ज्ञानेन्द्रियाणि···—ज्ञानेन्द्रियाँ आकाश आदि भूतों के सात्त्विक भागों से उत्पन्न होती हैं। शेष इनके विषय में पृष्ठ ९२ पर देखें।

---

६४. एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते॥

अनुवाद—ये (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाशादि के सात्त्विक अंशों से क्रमशः अलग-अलग प्रादुर्भूत होती हैं ।

विद्योत्तमा–एतानि···उत्पद्यन्ते—यही क्रम तैत्तिरीय उपनिषद् का यह वचन भी प्रस्तुत करता है—

'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः ।'

[६३–६४] ज्ञानसाधनानीन्द्रियाणि **ज्ञानेन्द्रियाणि** श्रोत्रादीनि । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकेन्द्रियत्वानि प्रत्येकं यथाक्रमं लक्षणानि । इन्द्रियाण्यहङ्कारिकाणीति सांख्यास्तान्निराकुर्वंस्तेषां भौतिकत्वं कथयति एतानीति । कारणगुणेनोत्पन्नत्रिगुणानां भूतानां सत्त्वगुणावच्छिन्नेभ्योंऽशेभ्यो गुणोद्रेकं कृतभागेभ्यः श्रोत्रादीनि जातानीत्यर्थः ॥

---

६५. बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः ॥

अनुवाद—निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि है ।

विद्योत्तमा—१. अन्तःकरण वृत्तिः—आन्तरिक विचारों को (साधकतमं करणम् से करण) करणभूत इन्द्रिय अन्तःइन्द्रिय अथवा अन्तःकरण कहलाती है । इसी अन्तरिन्द्रिय में 'मैं स्त्री हूँ' मैं गृहस्थ हूँ, इस भाँति निश्चययुक्त जब वृत्ति उत्पन्न होती है तब उसे बुद्धि कहते हैं ।

२. अन्तःकरण वृत्ति के दो रूप होते हैं—(क) निश्चयात्मिका बुद्धि ।
(ख) संशयात्मिक वृत्ति मन ।

---

६६. मनो नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तः करणवृत्तिः ॥

अनुवाद—सङ्कल्प और विकल्प करने वाली (संशय करने वाली) अन्तःकरण की वृत्ति मन है ।

विद्योत्तमा—१. सङ्कल्पविकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः—आन्तरिक भावनाओं की करणभूत इन्द्रिय अन्तःकरण में जब 'मैं चिद्रूप हूँ'—'मैं देह हूँ' इस प्रकार की सङ्कल्पयुक्त अथवा 'मैं पढूँ या न पढूँ ।'—'मैं जाऊँ या न जाऊँ इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है तो इसे मन कहते हैं !

२. विद्यारण्य स्वामी ने अन्तःकरण के वृत्ति भेद से दो भेद कहे हैं—

तैरन्तःकरणम् सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ।
मनोविमर्शरूपम् स्यात् बुद्धिःस्यात् निश्चयात्मिका ॥

[६५-६६] विद्वन्मनोरञ्जनी–बुद्धिमनसी लक्षयति **बुद्धिर्नाम** इति । निश्चयोऽध्यवसायः । इहमित्थमेवेति विषयपरिच्छेदः । संकल्प इदंनीलमिदं पीतमिति विषयविवेचनम् । विकल्पस्तद्विपर्यय इति भेदः ।

---

६७. अनयोरेवचित्ताहंकारयोरन्तर्भावः ॥

अनुवाद—इन्हीं दोनों (बुद्धि और मन) में चित्त और अहंकार का अन्तर्भाव हो जाता है ।

विद्योत्तमा—अनयो···अन्तर्भावः—अनयोः = इन दोनों अर्थात् मन तथा बुद्धि में क्रमशः चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि स्मरणात्मिका चित्त वृत्ति निश्चय रूप ही होता है तथा अहङ्कार का मन में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि अहङ्कार भी संकल्प होता है—कहा भी है—'मनाबुद्धिरहंकारश्चितं करणमान्तरम् । संशयो निश्चयो गर्वस्मरणविषया अमी ॥'

[६७] नन्वन्तःकरणस्य चतुष्टयत्वप्रसिद्धेः कथमिह द्वयमेव गृहीतमित्यत आह **अनयोरेवेति** । अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम् । अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः । चित्तस्य बुद्धावन्तर्भावो विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात् । अहङ्कारस्य मनस्यन्तर्भावस्तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशेषात् । एवं स्वरूपाभेदेऽपिविषयभेदात्क्वचित्क्वचिच्चित्ताहङ्कारयोर्बुद्धिमनोभ्यां पृथङ्निर्देशः । बुद्धेर्ह्यपूर्वो विषयश्चित्तस्य पूर्वानुभूतः । तया मनसो बाह्य आभ्यन्तरश्च सर्वो विषयो यथायोगमहङ्कारस्य त्वनात्मोपरक्त आत्मैवेति । अतो विषयभेदेऽपि स्वरूपाभेदाद्युक्तोऽन्तर्भावः ॥

---

६८. अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः चित्तम् ॥

अनुवाद—अनुसन्धानकर्त्री अन्तःकरण की वृत्ति चित्त है ।

विद्योत्तमा—अनुसन्धानात्मिकान्तः···चित्तम्—आन्तरिक विषयों के ग्रहण कर्त्ता अन्तःकरण में जब अनुसन्धानयुक्त अर्थात् स्मरणात्मिका वृत्ति उत्पन्न होती है तो वह चित्त कहलाती है ।

(विशेष–विद्वन्मनोरञ्जनी एवं सुबोधिनी में यह पंक्ति नहीं है ।)

---

६९. अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः अहंकारः ॥

अनुवाद—अभिमान करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति अहंकार है ।

विद्योत्तमा—अभिमानात्मिकान्तः···अहंकारः—पूर्वकथित अन्तःकरण में जब 'मैं बड़ा निपुण हूँ'। इस प्रकार की गर्वात्मक (अभिमानरूपा) वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है तब यह वृत्ति अहंकार कही जाती है।

(विशेष—यह पंक्ति विद्व० एवं सुबो० में नहीं हैं।)

---

७०. एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्यो उत्पद्यन्ते ॥

अनुवाद—ये चारों (बुद्धि, मन, चित्त और अहङ्कार) आकाशादि में स्थित सात्त्विक अंशों के विभिन्न अंशों से पैदा होते हैं।

विद्योत्तमा—मिलितेभ्यः—मन, बुद्धि (इन्हीं में अन्तर्भूत होनेवाले चित्त तथा अहंकार) ये सब सभी (पाँचों) ज्ञानेन्द्रियों के साथ आवश्यक हैं क्योंकि बिना मन बुद्धि के सहयोग के ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसीलिये वे पाँचों भूतों के मिलित (मिले हुये) अंशों से उत्पन्न होने वाले कहे गये हैं।

---

७१. एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम् ॥

अनुवाद—इन (चारों) के प्रकाशयिता होने के कारण इन्हें सात्त्विक अंशों से प्रादुर्भूत कहा जाता है।

विद्योत्तमा—प्रकाशात्मकत्वात्—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि ये सात सत्वांश से उत्पन्न होने के कारण सत्त्वगुणधर्म प्रकाश से युक्त हैं इसी से ये सत्त्वगुण का कार्यत्व हैं क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशक माना गया है। गीता में भी सत्त्वगुण प्रकाशक कहा गया है—

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।'

[७०–७१] पूर्ववदेषां चतुर्णामप्यन्तःकरणभेदानां भौतिकत्वमाह **एते पुनः** इति। उक्तानां ज्ञानेन्द्रियाणामन्तः करणानां च भूतगतसात्विकांशकार्यत्वे हेतुमाह एतेषां प्रकाशात्मकत्वादिति।

"तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्"। (गीता ४।६)

इति स्मृतेः। सत्वकार्यभूतः प्रकाश इन्द्रियान्तकरणेषूपलभ्यमानस्तेषां सत्वकार्यतां गमयतीत्यर्थः।

७२. इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति॥

अनुवाद—(पञ्च) ज्ञानेन्द्रियों सहित यह बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाती है।

विद्योत्तमा—विज्ञानमयकोशः—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, रसना तथा घ्राण) तथा छठी बुद्धि, इन सबके समवेत रूप के लिए विज्ञानमयकोश रूप पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होता है।

[७२] निरूप्यमाणे लिंगशरीर उक्तैरवयवैः सिद्धमवान्तरभेदं कथयति इयं बुद्धिरिति। बुद्धिग्रहणेनार्थान्मनोऽव्यावृत्तिरभिप्रेता।

—: ० :—

७३. अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानत्वेनेहलोकपरलोकगामीव्यावहारिकोजीव इत्युच्यते॥

अनुवाद—यही (विज्ञानमय कोश से युक्त चैतन्य) कर्त्ता, उपभोक्ता, सुख, सम्पन्न, दुःखी होना आदि कारणों से (तथा) अभिमानत्व के कारण इस लोक और परलोक का आवागमन कर्त्ता, व्यावहारिक अवस्था में, जीव, कहलाता है।

विद्योत्तमा—कर्तृत्व...परलोकगामी – कर्त्ता होने तथा भोग करने वाला होना ये दो जीव के अभिमान हैं। चिदात्मा के वस्तुतः कर्त्ता भोक्ता न होने पर एवं नित्यानन्द रूप अपरिच्छिन्ननिष्क्रिय होने पर भी विज्ञानमय कोश अभिमानी होने के कारण इहलोक परलोक में गन्ता व्यावहारिक जीव के लोक-परलोकगमनरूप व्यवहार का हेतु बन जाता है।

[७३] तदुपहित चैतन्यस्य च व्यपदेशभेदमाह अयमिति। अयं विज्ञानमयकोषावच्छिन्नश्चिदात्मा जीव इत्युच्यत इत्यन्वयः। तस्य प्रज्ञात्मनो विशेषमाह व्यावहारिक इति। व्यवहारमेव विशेषणान्तरेण व्यनक्ति इहलोकेति। तत्र हेतुमाह कर्तृत्वेति। तथा च श्रुतिः—

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च"। इति। (तैत्ति० २।५।१)

कर्तृत्वादिकं चैतन्यमानो न वास्तवं किंत्वाभिमानिकमित्यभिप्रेत्याभिमानित्वेनेत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः । "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव" (बृह० ४।३।७) इत्याद्या । इव शब्देन व्यवहारस्याभासतां दर्शयति । तथा न्यायौ च "कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्" "यथा च तक्षोभयथा" (ब्रह्मसूत्र २।३।३३,४०) इति च कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्व्यावहारिकपारमार्थिकत्वे व्यवस्थापयतः ।

—: ० :—

७४. **मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति ॥**

अनुवाद—**ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मन को मनोमयकोश कहा जाता है ।**

विद्योत्तमा—१. मनोमयकोशः—पाँच ज्ञानेन्द्रियों समेत मन के मिल जाने पर मनोमय कोश कहलाता है—यही बात पञ्चदशी में निम्न प्रकार से कही गई है—

'सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका' ॥

अर्थात् विमर्शात्मा मन (पञ्च महाभूतों के) सत्त्वगुणांशों से उत्पन्न हुई इन्द्रियों से संयुक्त होकर मनोमय कोश होता है । निश्चयात्मिका बुद्धि उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर विज्ञानमय कोश बन जाती है ।

[७४] पूर्ववन्मनः सम्बद्धमवान्तरभेदमाह मनस्तु इति ।

—: ० :—

७५. **कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि ॥**

अनुवाद—वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ—ये (पाँच) कर्मेन्द्रियाँ हैं।

विद्योत्तमा—कर्मेन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियों के समान कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ) भी पञ्चभूतों के रजोंऽशों से उत्पन्न हुई हैं इनके क्रमशः विषय हैं वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द । पञ्चदशी इसी भौतिकता का समर्थन करती है—

'रजोंऽशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कमिन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपाद पायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे' ॥

[७५] कर्मसाधनानीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तानि विभजते **कर्मेन्द्रियाणि इति**। वचनादानगमनविसर्गानन्दसाधनेन्द्रियत्वं यथाक्रमम् वागादीनाम् प्रत्येकं लक्षणम्।

—: ० :—

७६. **एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते ॥**

अनुवाद—ये (पञ्चकर्मेन्द्रियाँ) आकाशादि के रजोगुणांशों से अलग-अलग क्रमशः पैदा होती हैं।

विद्योत्तमा—एतानि**··**उत्पद्यन्ते—अर्थात् इन इन्द्रियों में आकाशादि के रजोगुणांश से क्रमशः पृथक्-पृथक् आकाश के रजोगुणांश से वाक्, वायु के रजोगुणांश से, हाथ, अग्नि के रजोगुणांश से पैर, जल के रजोगुणांश से पायु, और पृथिवी के रजोगुणांश से उपस्थ इन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है।

[७६] एतेषामपि पूर्ववद्भौतिकत्वमाह एतानि पुनरिति। ननु कथमिन्द्रियाणां भौतिकत्वं निर्दिश्यते यत एषां भूतयोनेः परमकारणादेवोत्पत्तिः श्रूयते "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड० २।१।३) इति सत्यं श्रूयते। तत्रार्थ क्रममेवाश्रित्य भूतभावमापन्नात्तस्माद्भूतयोनेरिन्द्रियोत्पत्तिराश्रिता। तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र २।३।१५)। "अन्तरा विज्ञान मनसीक्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्" इति। न चैतेषां भौतिकत्वे प्रमाणाभावः "अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयीवाक्" (छा० ६।५।४) इति श्रौतलिङ्गस्य प्रमाणत्वात्। न च वागादिष्विन्द्रियत्वमप्रसिद्धामिति वाच्यं "प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा हि सर्वाणि नामान्याप्नोति (कौषी० ३।६) इति कौषीतक्यादौश्चक्षुरादिभिः सह वाचः समभिव्याहृतत्वात्। आथर्वणे च "चक्षुश्च द्रष्टव्यं च (प्रश्न० ४।८) इत्यादिना सविषयाणीन्द्रियाण्यनुक्रम्य "हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्चविसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च" (प्रश्नोपनिषद्) इति सविषयाणां समभिव्याहृतत्वात्। एतानि चेन्द्रियाण्येकादशैव भवन्ति न न्यूनानि नाधिकानि "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः" (बृह० ३।९।४) इति श्रुत्यनुरोधेन सिद्धान्तितत्वात्। अत्रात्मशब्दो मनोविषयः प्राणशब्द इतरेन्द्रियविषय इति भेदः। अणुत्वं चैषां परिच्छिन्नत्वे सति सूक्ष्म-

त्वलक्षणमभ्युपगन्तव्यं न तु परमाणुलक्षणत्वम्। तथा सति सर्वशरीरव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। अपरिच्छिन्नत्वे चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गः। स्थूलत्वे चोत्क्रान्ति समये बिलान्निर्गच्छन्त इव सर्पाः शरीरछिद्रेभ्यो निष्क्रममाणानीन्द्रियाणि प्रत्यक्षेणोपलभ्येरन्। न चोपलभ्यन्ते। तस्मादुक्तप्रकारेणाणूनीन्द्रियाणि। ननु "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" इत्यादि श्रुतेरग्न्यादिदेवतानामेव मुखादिस्थानेषु वागादीन्द्रियात्मना प्रवेश श्रवणात्कथमेतेषां भौतिकत्वमुच्यत इति चेन्नैव दोषः। देवतानामप्याधिदैविकप्राणात्मनां भौतिक देहविशिष्ट चेतनानामेवैश्वर्ययोगादध्यात्मं वागादिरूपेण मुखादिष्ववस्थानस्येष्टत्वात्। तथा च भौतिकान्यपीन्द्रियाणि देवताशरीराणि चेति न विरुध्यन्ते। यद्वा इन्द्रियाण्युक्तलक्षणानि भौतिकान्येव देवतानां पुनस्तदधिष्ठातृत्वेन तच्छरीरतया तत्र प्रवेश—एव "अग्निर्वाग्भूत्वा" (ऐत० २।४) इत्यादावाम्नायत् इति। तथा च न्यायः (ब्रह्मसूत्र २।४।१५) "ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्" इति। लिङ्गं च "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति (बृह० ४।४।१) इति तेजोमात्राणामिन्द्रियाणामुत्क्रान्तिसमये हृदय प्रवेशमुक्त्वा "स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति" (बृह०) इत्यादित्यपुरुषस्य चक्षुषोऽपक्रमणं दर्शयति। ये पुनर्मुख्यप्राणस्य वृत्ति भेदा वागादय इति वदन्ति तेऽप्यनयैव नीत्या निराकरणीयाः। "ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय" (बृह० १।३।३) इत्युपक्रम्यासुरपाप्मविद्धत्वेन वागादीननुद्गातॄन्निर्धार्य समाप्य च वागादिप्रकरणं "अथ हेमसामान्यं प्राणमूचुः" (बृह० १।३।६) इति पृथगेव मुख्यप्राणस्य निर्देशात्। तथा सुसुप्तावपि वागादीनामुपसंहारो मुख्यप्राणस्य सवृत्तिकस्यास्ति जागरणमितिवैषम्यलिङ्गाच्च प्राणादिन्द्रियाणां भेदः। एवमादि न्यायकलापोद्वितीयेऽध्याये चतुर्थेपादे विस्तृतः। इह पुनर्वेदान्तसारत्वाद्ग्रन्थस्य वेदान्त विहिता न्याया लेशतो दर्शिता इति। तस्माद्युक्तमिन्द्रियाणां भौतिकत्वादीति स्थितम्॥

—: ० :—

७७ वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः॥

अनुवाद—प्राण, अपान, व्यान, उदान, तथा समान ये (पञ्च) वायु हैं।

विद्योत्तमा—श्रुतियों में पाँचों वायुओं का विवरण मिलता है जो आगे कहा जायेगा।

वेदान्तियों ने नागादि ५ वायुओं का, जिनका उल्लेख सांख्य ने किया है, इन्हीं में अन्तर्भाव कर लिया है।

—:०:—

७८. प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती ॥

अनुवाद—सामने गमन वाली नाक के आग्रभाग में वर्तमान रहने वाली वायु 'प्राण' है।

विद्योत्तमा—प्राणः—नासिका के अग्रभाग में इसकी उपलब्धि साक्षात् रूप से होती है तथा नाक पर हाथ लगाने से इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है, इसी से इसे नागाग्रस्थानवर्ती कहा गया है तथापि 'प्राणो हृदये' से इसे हृदय में रहने वाला कहा गया है।

———

७९. अपानो नामावाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्ती ॥

अनुवाद—निम्न गमन वाली पायु (गुदादि) स्थानों में रहने वाली 'अपान' पायु है।

———

८०. व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती ॥

अनुवाद - सब ओर गमन करने वाली संपूर्ण शरीर में वर्तमान रहने वाली वायु व्यान' है।

विद्योत्तमा—व्यानो···वर्ती—छान्दोग्य उपनिषद् के मतानुसार यह प्राण और अपान की सन्धि है—'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः सः व्यानः।' इसका उपयोग वीर्ययुक्त कर्म करते समय किया जाता है। इन्हें मनुष्य प्राण तथा अपान को रोक कर ही करता है। इसी से व्यान वायु प्राण और अपान की नियमनकर्त्री भी कही गई है।

———

८१. उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः ॥

अनुवाद—ऊपर की ओर चलने वाली कण्ठस्थानीय वायु उदान' वायु है।

विद्योत्तमा—उदान—'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः श्रुति-वचनानुसार उत्क्रमण ऊपर की ओर जाने वाली वायु, आँख, शशु या अन्य किसी शरीर के अवयव से निकाली जाने वाली होने से किसी भी द्वार से जाते समय कण्ठ से अवश्य निकलेगी अतः इसे कण्ठस्थानीय कहा गया है।

———

८२. समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः ॥

अनुवाद—शरीर में खाये-पीये हुये अन्नादि का अच्छी प्रकार परिपाकादि (समीकरण) करने वाली वायु 'समान' है।

---

८३. समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणमिति यावत्॥

अनुवाद—रस, रक्त और शरीर के अन्य पदार्थों में (भोज्य, पेय पदार्थों का) परिवर्तन करना और भोजनादि का पाचन करना 'समीकरण' है।

विद्योत्तमा—समीकरणम्—पेट में प्राप्त हुये अन्न के सार अंश को पृथक् करके रस रक्त आदि साथ धातुओं (रसों) के रूप में पचाकर परिवर्तित कर देना तथा वर्ज्यांश को मलादिरूप में बाहर निकाल देना ही समीकरण है।

[७७–८३] इदानीं वायुपञ्चकं विभजते वायव इति। प्राग्गमनमग्रतो निःसरणम्। यद्यपि "प्राणो हृदये" (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।८।५) इति श्रुतेर्हृदि प्राण इत्यभिधानाच्च हृदयस्थानः प्राणस्तथापि नासाग्रे प्रत्यक्षमुपलभ्यमानत्वान्नासाग्रस्थानवर्तीत्युक्तम्। अधो नाभेरधस्ताद्गमनवान्मलापनयनव्यापारेण। पायुर्गुदं तस्थानवर्तीत्यर्थः। आदिशब्दादुपस्थग्रहः। तत्रापि मूत्ररेतोविसर्गस्यापानकर्मत्वात्। विष्वक्परितः सर्वतो गमनं विद्यते यस्य स तथा। प्राणापाननियमनकर्मारण्यामग्न्युत्पादनादिवीर्यवत्कर्महेतुत्वादखिल शरीरवर्ती व्यान इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः। "अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यान" (छा० १।३।३) इत्युपक्रम्य "यथाग्नेर्मन्मथनमाजेः सरणं दृढ़स्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानंस्तानि करोति" इति (छा० १।३।५)। यद्यपि "चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य" (बृह० ४।४।२) इति श्रुतेरुत्क्रमणस्य चक्षुरादि द्वारेष्वनियमस्तथापि कण्ठसम्बन्धस्यप्रायेण नियतत्वात्कण्ठस्थानवर्त्युदान इत्युक्तम्। अशितादेः समं नयनात्समान इत्यर्थः ॥

---

८४. केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति ॥

अनुवाद--कुछ लोग तो (सांख्यमत वाले) नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय नामक पाँच अन्य वायु हैं' ऐसा कहते हैं।

विद्योत्तमा—केचित्तु······वदन्ति—इन अतिरिक्त पञ्चवायुओं का वर्णन गोरक्षाशतक तथा मानसोल्लास में भी किया गया है।

---

८५. तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः॥

अनुवाद—उनमें (अन्य पाँच वायुओं में) वमनादि कराने वाली वायु नाग, पलकों को खोलने तथा बन्द करने वाली कूर्म, बुभुक्षा उत्पन्न करने वाली कृकल, जम्भाई उत्पन्न करने वाली देवदत्त तथा शरीर पोषण करने वाली वायु धनञ्जय है।

विद्योत्तमा—धनञ्जय—मानसोल्लास तथा गोरक्षाशतक के अतिरिक्त पञ्चवायु वर्णन से इस वायु का स्वरूप कुछ और स्पष्ट होता है। यह सारे शरीर को पुष्ट करने के साथ ही साथ मरने पर शरीर को छोड़ती नहीं।

---

८६. एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्॥

अनुवाद—कुछ लोगों के अनुसार (वेदान्तसार) इन नागादि पाँच वायुओं का इन्हीं प्राणादि पाँच वायुओं में अन्तर्भाव हो जाने से ये पाँच ही हैं (न कि दस)।

[८४—८६] मतान्तरमुत्थापयति स्वमतपरिशुद्धये केचित्तु इति। तेषां लक्षणान्याह नाग इत्यादिना। उद्गिरणं छर्दिः। उन्मीलन शब्दो निमीलनस्याप्युपलक्षणपरः। पोषणं पुष्टिः। अन्यत्प्रसिद्धम्। उत्थापितं मतं प्रत्याचष्ट एतेषामिति। केचिच्छब्द औपनिषदविषयः। एतेषां नागादीनां प्राणादिष्वन्तर्भावादित्यमर्थः। उद्गिरण ह्यूर्ध्वमुखस्य वायोः क्रियाः। ऊर्ध्वमुखस्य वायुरुदान इत्युक्तम्। तथा चोदानेनैवोद्गिरणस्यापि सिद्धौ नागस्य तत्कर्तुरुदानेऽन्तर्भावान्न ततः पृथक्त्वम्। उन्मीलनस्याङ्गचेष्टान्तर्गतत्वात्तस्याश्चव्यानिमित्तकत्वादुन्मीलनकर्तुः कूर्मस्य व्यानेऽन्तर्भावः। समानेनाशितपीतादीनां पाकेन रसादिभावमापद्य सकलशरीरदेशेषुतत्प्रवेशने कृते सत्येव क्षुधोत्पत्तेस्तत्कर्तुः कृकलस्य समानेऽन्तर्भावः। जृम्भ-

णस्यनिद्रालस्यादिहेतुकत्वान्निद्रालस्यादेश्च वातुलाद्यन्नोपजीवननिमित्तकत्वादन्न-स्वीकरणस्य चापानकर्मत्वादपान एव परम्परया जृम्भणहेतोर्देवदत्तस्यान्तर्भावः। अपानाख्यस्यान्तर्मुखतया शरीरान्तः प्रविशतो वायोरन्नस्वीकरणहेतुत्वमैतरेयके समाम्नायते "तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्" इति (ऐत० ३।१०) रसलोहित-मांसादिक्रमेण शरीरेऽन्नपरिणामे सत्येव पोषणापरपर्यायाः पुष्टेः सम्भवाद्रसादि-नयनकर्तरि समाने धनञ्जस्यान्तर्भाव इति। तथा च प्राणादीनामेव यथायथमुद्गा-रादिक्रियानिमित्ततयावस्थान्तरमापद्यमानानां नागादिसंज्ञाया अभ्युपपत्तौ तत्त्वा-न्तरकल्पनं तेषां गौरवमप्रामाणिकमिति भावः। श्रुतौ च पञ्चानामेव प्राणादीनां तत्र-तत्र श्रवणाद्विरुद्धा चेयं कल्पना। प्राणादयोऽपि मुख्यस्यैकस्य प्राणस्य वृत्ति-विशेषा एव न तत्त्वान्तरभूताः। "प्राणोऽपानोव्यान उदानः समानोऽन" इति बृहदारण्यके (१।५।३) वृत्तिमतः प्राणस्य निरुपसर्गानिशब्दवाच्यस्य पृथङ्निर्देशात्। तथा च न्यायः "पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदेशात्" इति (ब्रह्म० २।४।१२)। तथा मुख्य प्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मरूपस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद्वृत्तिलाभ-मात्रेणावस्थितो बाह्यवायुरेव। नापि वागादीनां सामान्यवृत्तिरूपा वा क्रिया। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः" (मुण्ड० २।१।३) इतिश्रुतौवायोरिन्द्रियाणां च प्राणात्पृथगेव निर्दिष्टत्वात्। तथा च न्यायः। "न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्" इति (ब्रह्मसूत्र २।४।९)। "अणुश्च" (ब्रह्मसू०) इत्यादिन्यायवशादिन्द्रियवत्सूक्ष्मत्वादिकमपि प्राणस्यानुसन्धेयमिति सङ्ग्रहः।

---

८७. एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते।

अनुवाद—ये प्राणादि पाँच वायु आकाशादि में स्थित रजोगुणमिश्रित अशों से उत्पन्न होती हैं।

विद्योत्तमा—मिलितेभ्यः—ये प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, आकाश आदि के मिश्रित रजोगुणांशों से उत्पन्न कही गई है क्योंकि ये आपेक्षित हैं।

[८७] प्राणादीनामपि पूर्ववदुपादानविशेषं संकीर्तयति एतत् इति।

---

८८. इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियं सहितं सत्प्रमाणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम्॥

अनुवाद—ये प्राणादि पाँच वायु कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणमयकोश कहलाती हैं। इनके क्रियात्मक होने के कारण इन्हें रजोगुण के अंशों से उत्पन्न कहा जाता है।

विद्योत्तमा—रजोंऽशकार्यत्वम्–प्राणमय कोश को रजोंऽशकार्यत्वम् कहा है–सांख्यमत तथा गीता के अनुसार क्रमशः प्रेरक तथा क्रियाशील रजगुण बताया गया है—'रजः कर्मणि भारत' गीता तथा 'उपष्टम्भकं चलं च रजः' (सांख्य-कारिका)। अतः प्राणमयकोश क्रियाशील है क्योंकि वह रजोंऽश का कार्य है।

[८८] उक्तानामेव कर्मेन्द्रियाणां प्राणादिभिर्मिलितानाम् पूर्ववदवान्तर-विशेषमाह इदं प्राणादीति। प्राणादिपंचकस्य रजोंऽशकार्यत्वे लिंगमाह अस्येति।

---

८९. एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः, प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते॥

अनुवाद—इन तीनों कोशों में से विज्ञानमयकोश ज्ञानशक्तिसम्पन्न कर्त्तारूप है। मनोमयकोश इच्छाशक्तियुक्त कारणरूप है तथा प्राणमयकोश क्रियाशक्ति-सम्पन्न कार्यरूप है। (पृथक् पृथक् तीनों की अपनी-अपनी) योग्यता के अनुरूप इनका (कर्त्ता, करण तथा कार्य आदि द्वारा) विभाग वर्णन किया जाता है। ये तीनों कोश मिलकर 'सूक्ष्मशरीर कहे जाते हैं।

विद्योत्तमा—१. ज्ञानशक्तिमान् कर्त्तृरूपः—विज्ञानमयकोश चैतन्य के परम सन्निकर्ष के कारण ज्ञानशक्तिसम्पन्न होता है तथा वर्तमान भोक्ताभाव आदि का अभिमानी होने के कारण इसका कर्त्तारूप है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् के वचनों से भी पता चलता है—

'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।'

जो प्राणों में हृदय (बुद्धि) के अन्दर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है।

२. इच्छाशक्तिमान् करणरूपः—मनोमय कोश इच्छाशक्तियुक्त होता है। विवेक का साधनभूत होने से इच्छा का करण होना सिद्ध है। आत्मा इन्द्रिय तथा विषय का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान होना अथवा न होना। मन पर आश्रित होता है। 'अन्यत्रमना अभूवम् नादर्शमन्यत्रमना अभूवं ना श्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।' प्रस्तुत श्रुतिवचनम् 'मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यासक्त था अतः सुन नहीं सका वह मन से ही देखता है तथा मन से ही सुनता है' इस प्रकार मन को ही करणरूप सिद्ध करता है। अतः ममोमय कोश इच्छाशक्तियुक्त होने से करणरूप है। बृ० उप० कहता है—'कामः संकल्पो विचिकित्सा।'

३. क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः—प्राणमय कोश क्रियाशक्तिमान् होने से कार्यरूप है जैसा कि श्रुति भी इसके कार्यरूपत्व को प्रमाणित करती है—'तौ मिथुनं समतां ततः प्राणोऽजायत।' इससे मिथुनीभूत (पारस्परिक संसर्गयुक्त) वाणी और मन से उत्पन्न होने से प्राणमयकोश कार्यरूप सिद्ध होता है।

४. सूक्ष्मशरीरम्—प्रस्तुत शब्द की व्याख्या के लिये पृष्ठ १६३ देखें।

[८९] उक्तं कोशत्रयमनूद्यतेषां प्रतिनियतां व्यस्थां दर्शयति **एतेषु कोशेषु इत्यादिना**। "योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृह० ४।३।७) इति श्रुतेर्विज्ञानस्य चैतन्यं प्रत्यतिसन्निहितत्वाज्ज्ञानशक्तिमत्त्वम्। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" (बृह० १।५।३) इत्यादिश्रुतेः कामापरपर्याया इच्छाया मनोवृत्तित्वावधारणादिच्छाशक्तिमत्त्वं मनोमयकोशस्य। "स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः" (छा० ८।१२।३) "कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति" (प्रश्न० ६।३) "स प्राणमसृजत" (प्रश्न० ६।४) इत्यादिश्रुतेः प्राणमयकोशस्य क्रियाशक्तिमत्वम्। **योग्यत्वात्** इत्यस्यायमर्थः। विज्ञानमयस्य तु कर्तृत्वमुपपादितं मनोमयस्य करणत्वं विवेकसाधनत्वात्। आत्मेन्द्रियविषयाणां सन्निकर्षे विद्यमानेऽपि यदन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानभावाभावौ तन्मनोविवेकसाधनत्वात्करणपक्षपातीति युक्तं मनोमयस्य करणरूपत्वम्। तथा च श्रुतिः। "अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषं" इति (बृह० १।५।३)। "तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति" (बृह०) इति च। न्यायश्च भवति। "नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोन्यतर-

नियमो वान्यथा" इति (ब्रह्मसूत्र २।३।३२)। तथा "तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत" (बृह० १।५।१२) इतिश्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात्प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तमिति। एवं सूक्ष्मशरीरस्यावयवान्त्सविशेषान्निरूप्यावयविनं निर्दिशति एतत्कोशेति ॥

सूक्ष्मप्रपञ्च—

९०. अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति ॥

अनुवाद—यहाँ पर भी सकल चराचर के सूक्ष्म शरीर, एकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि (समुदायरूप), अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वृक्ष या जल के समान व्यष्टि भी होते हैं।

विद्योत्तमा—अत्रापि…भवति—सम्पूर्ण चराचर अनन्त सूक्ष्मशरीरों को शरीररूपेण एक मानकर एकत्व की विवक्षा में एकता के ज्ञान का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि तथा उन्हीं को अलग-अलग अनेक मानकर अनेक जीवों की विवक्षा होने पर स्वस्वबुद्धि का विषय होने के कारण वृक्ष अथवा जल के समान व्यष्टि पद कहते हैं।

(क) अनन्तं वै मनो अनन्ता विश्वेदेवाः।' बृ० उ०

(ख) वायुरेव व्यष्टिः वायुरेव समष्टिः। बृ० उ०

[९०] "लिङ्ग मनो यत्र निषक्तमस्य" (बृह० ४।४।६) "अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः" (बृह० ३।१।९) इत्यादि श्रुतिषु लिङ्गशरीरस्याप्येकत्वबहुत्वश्रवणात्तदेकत्वानेकत्वयोरप्यज्ञानवदेव व्यवस्थेत्यभिप्रेत्याह **अखिलसूक्ष्मं** इति। अनयोस्तु व्यष्टिसमष्ट्योरेकत्वं स्पष्टमेव पठ्यते। "वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः" इति बृहदारण्यके (३।३।२)।

---

९१. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च ॥

अनुवाद—इस समष्टि (समुदाय) उपाधि से युक्त चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण कहते हैं क्योंकि (यह) सर्वत्र व्याप्त तथा (तीनों कोशों से युक्त होने के कारण) ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया से सम्पन्न है।

विद्योत्तमा—**१. हिरण्यगर्भं**—'हिरण्यस्य गर्भः' वृत्ति के अनुसार ज्ञानशक्तिमान् विज्ञानमय कोश ही हिरण्मय अण्डा है, उससे ढका होने के कारण उसके अभिमानी चैतन्य को हिरण्यगर्भ कहा जाता है। श्रुतिवाक्यों में यह सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ तथा प्राण आदि अभिधानों से विख्यात है—यथा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे।'

श्वे० उप० भी कहता है—'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।

२. मनुस्मृति में स्वर्ण के अण्डे से ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा है—

तदण्डमभवत् हैमम् सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयम् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥

[९१] समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिनश्चैतन्यस्य व्यवहारसिद्धान् व्यपदेशविशेषानाह **एतत्समष्टीति**। व्यपदेशत्रये निमित्तमाह सर्वत्रेत्यादिना। सर्वत्रानुस्यूतत्वात्सूत्रात्मा। ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणोपहितत्वाद्धिरण्यगर्भः। क्रियाशक्तिमदधिदैवतप्राणरूपत्वात्प्राणस्तादृगध्यात्मप्राणरूपत्वाद्वा। यद्वा ज्ञानक्रियाशक्तिमत्समष्टिप्राणेन्द्रिय समुदायात्मकं समष्टिलिङ्ग शरीरं तदुपहितत्वाज्ज्ञानशक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भः क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति च व्यपदेश इति योजना। तथा च श्रुतिवचनानि। "वायुर्वैगौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतमसूत्रेण" इति (बृह० ३।७।२)। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (ऋक् संहिता १०।१२१।१) "हिरण्यगर्भं जनयामासपूर्वं इति (श्वेत० ३।४)। "कतम एको देव इति प्राण इति" (बृह० ३।९।९) चैवमादीनि। प्राण इति चोच्यते इति च शब्दात्कः प्रजापतिर्ब्रह्मेत्यादिव्यपदेशान्तराणिसमुच्चीयन्ते॥

---

९२. **अस्यैषासमष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादि कोशत्रयं, जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते॥**

अनुवाद—इस (हिरण्यगर्भ) की यह समष्टि स्थूलप्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर विज्ञानमयादि तीन कोशोंवाली जाग्रत अवस्था में वासनायुक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलप्रपञ्च के लय का स्थान कही जाती है।

विद्योत्तमा—जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्न—जागरण अवस्था के विषयानुभवों रूपी वासनाओं से बने होने के कारण चित्त में वासनायें ही स्वप्न को उत्पन्न करती हैं—इसी कारण स्वप्न केवल वासनामय होता है। इस सूक्ष्मशरीर को भी जागरणावस्था के विषयानुभवरूप वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण 'स्वप्न' कहा जाता है।

[९२] एवमुपहितस्य व्यपदेश भेदानुक्त्वोपाधेरपि तानाह **अस्यैवेत्यादिना।** स्थूलप्रपञ्चोविराड्विज्ञानमयादिकोशत्रयं लिङ्गशरीरं सूक्ष्मशरीरमिति सम्बन्धः। मध्यप्रदीपन्यायेनोत्तरत्रापि जाग्रद्वासनेत्यत्र कोशत्रयपदं सम्बध्यते। (मुण्डक० भाष्य १।१।३) वासना मयत्वं चास्य श्रुतिराह "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजतंवासो यथा पाण्ड्वाविकं" (बृह० ३।३।६) इत्यादि 'सकृद्विद्युत्तं" इत्यन्तेन। स्वप्नत्वं चास्याव्याकृतविराजोः सन्ध्यस्थानत्वादुपपन्नं "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं" (बृह० ४।३।९) इति श्रुतेरविशेषात्। यतो वासनामयोऽत एवेति योजना। "अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य" (बृह०) इत्याद्या स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्य" (बृह० ४।३।११) इत्याद्या च श्रुतिः स्थूलशरीरस्य स्वप्ने लयं, दर्शयन्ती तत्समष्टेर्महाप्रपञ्चस्यापि सन्धौ तं सूचयति।

---

९३. एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् ॥

अनुवाद—यह व्यष्टि की उपाधि से युक्त चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने के कारण 'तैजस' कहलाता है।

विद्योत्तमा—तेजोमय—पूर्व प्रसङ्गों में आन्तरिक इन्द्रियों को भूतों में मिलिताशी से बना हुआ कहने के पश्चात् तेजोमय कहना केवल तेज की प्रधानता को सूचित करता है। संस्कृत के 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति (जिसका प्राधान्य होता है उसी के नाम से वह व्यवहित किया जाता है) इसी के आधार पर यहाँ तेजोमय कहा गया है।

[९३] एवं समष्टिलिङ्ग तदुपहित चैतन्ययोर्व्यपदेशानुक्त्वा व्यष्टिलिङ्ग तदुपहित चैतन्ययोरपि तानाह **एतदिति।** तैजस व्यपदेश्यतत्वे हेतुमाह **तेजोमया** इति। तेजोमयत्वं वासनामयत्वं "स्वयं निर्माय स्वेन भासा" (बृह० ४।३।९) इति श्रुतौ भाः शब्देनान्तःकरणस्य वासनात्मनो व्याख्यातत्वात्।

९४. अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात्स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते ॥

अनुवाद—इसकी भी यह व्यष्टि स्थूलशरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण सूक्ष्मशरीर, विज्ञानमयादि तीन कोशों से सम्पन्न, चैतन्यानुभूत अवस्था की वासना से युक्त होने के कारण स्वप्न, इसी कारण स्थूलशरीर के विलय का स्थल कहलाती है।

[९४] अस्यापीति—स्पष्टार्थः। 'यो वै प्राणः स वायुः' (बृह० ३।१।५) इतिश्रुतेः।

---

९५. एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः 'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः ॥

अनुवाद—उस समय (स्वप्नावस्था में) ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस मनोवृत्तियों से (वासनामय शब्दादि) सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं। श्रुतिवचन भी है—'तैजस सूक्ष्म भोक्ता है।'

विद्योत्तमा–१. मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः–निद्रादि दोषों के कारण अन्तरिन्द्रिय में अदृष्यादिजागरित संस्कारों के सहयोग से तदनुरूपवृत्तियाँ चैतन्यगत अविद्याशक्ति से विषयाकार धारण करके, उन वृत्तियों द्वारा दोनों (सूत्रात्मा-तैजस) जागरणावस्था की वासनाओं से उद्भूत सूक्ष्मविषयों की अनुभूति करते हैं।

[९५] समष्टिव्यष्टिलिङ्गयोस्तदवस्थयोरपि सन्ध्ययोरभेदं सिद्धवत्कृत्य तत्र तैजससूत्रयोर्भोगविशेषं निर्दिशति एताविति। तदानीं स्वप्नावस्थायाम्। निद्रादिदोषदूषितस्यादृष्टादिसमुद्बोधितसंस्कारविशेषसचिवस्यान्तःकरणस्य याः संस्करानुरूपा वृत्तयस्तादृगन्तःकरणसंसृष्टचैतन्यस्थाविद्याशक्तिविजृम्भितविषयाकारास्ताभिःसूक्ष्मविषयान् जाग्रद्वासनामयानीषदस्फुटाननुभवत इत्यर्थः ॥

न स्वप्न स्मृतिरपरोक्षावभासितत्वात् नापि प्रत्यक्षप्रमा सम्प्रयोगाद्यभावात्। न च सुषुप्तिः स्पष्टं विषयानुभवात्। नापि जागरितं तदुचितदेशकालनिमित्तानामसम्भवात्। तथा हि "यथा केशः सहस्रधा भिन्नः" (बृह० ४।२।३)

इत्यादिना केशसहस्रांशैर्नाडीरुपमीय "एताभिर्वा एतदास्रवति" (बृहदा०) इति स्वप्नाय तादृशनाडीप्रवेशं दर्शयति श्रुतिः। तथा चातिसूक्ष्मासु नाडीषु स्वप्नं पश्यतो न नदीसमुद्रवनगिरिनगरीनिवेशोचितो देशोऽस्ति येन तत्र स्थितान्नद्यादीन्पश्येत्। ननु "बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा" (बृह० ४।३।१२) इति श्रुतेर्बहिरेव स्वप्नान्पश्यतीति चेन्न तत्र बहिः शब्देन स्थूलशरीरोपरागाभावमात्रस्य विवक्षितत्वात्। अन्यथातस्मिन्नेव शरीरे नियमेन पुनर्जागरणानुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं "कुरुष्वहमत्र शयानो निद्राभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानीधगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्च" इति स्वप्नप्राप्तदेशान्तरात्पुनरागमनरहितस्यापि स्वप्नदेशस्य शरीरे जागरणं दर्शयति। अतो न तत्र जाग्रदुचितो देशः। नापि कालस्तदुचितः सम्भवति मुहूर्तमात्रेऽपि संवत्सरशतानामनुभवात्। नाप्युचितं निमित्तं तत्र सम्भवति तक्षदारुमृदाद्यभावेऽप्यकस्मादेव प्रासादादेर्निष्पत्तिदर्शनात्। जाग्रदवस्थापन्नानां वस्तूनां स्वप्नेऽभावं दर्शयित्वा नूतनानां वासनात्मकानां निर्माणं दर्शयति श्रुतिः "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते" (बृह० ४।३।१०) इत्यादिना। तस्मान्मायामय एव स्वप्न इति द्रष्टव्यम्। तथा च न्यायः (ब्रह्मसू० ३।२।३)। "मायामात्रं तु कात्स्न्येंनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति। उक्तेऽर्थे प्रमाणमाह **प्रविविक्त भुक्** इति। आदि शब्दात् "तस्मादेष प्रविविक्ता हारतर इवैव भवति" (बृह० ४।२।३) इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः।

---

९६. अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्चजलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाऽभेदः ॥

अनुवाद—यहाँ पर भी समष्टि और व्यष्टि की तथा उन दोनों की उपाधि से युक्त सूत्रात्मा तैजस की, वन और वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न आकाश की तरह और सरोवर एवं जल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति अभिन्नता है। (तात्पर्य यह है कि इनमें सूत्रात्मा और तैजस तथा समष्टि और व्यष्टि—यह नाममात्र का भेद है। वस्तुतः व्यष्टि एवं समष्टि तथा दोनों गत चैतन्य परस्पर अभिन्न हैं।)

विद्योत्तमा—समष्टिव्यष्ट्योः अभेदः—यहाँ समष्टि तथा व्यष्टि में अभेद (ऐक्य) उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है। अर्थात् समष्टि ही व्यष्टि है तथा

व्यष्टि ही समष्टि है इस प्रकार दोनों एक ही हैं। इसी का समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद् के निम्न वाक्य में हुआ है—

'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः।

टीकाकार रामतीर्थ ने समष्टि को क्रमशः सामान्य और विशेष का वाचक माना है। सामान्य और विशेष में अभेद होता है किन्तु किसी भेद की कल्पना कर पृथक्-पृथक् व्यवहार किया जाता है।

---

९७. एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥

अनुवाद— इस प्रकार सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है।

विद्योत्तमा—विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर बनते हैं। इसमें १७ अंग होते हैं—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ वायुएँ, और बुद्धि तथा मनस्। इसी शरीर में ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया तीनों शक्तियाँ रहती हैं और अपने अनुरूप कार्य करती हैं। इस भाँति अपंचीकृत महाभूतों से सूक्ष्मशरीर उत्पन्न होता है।

[९६-९७] अत्रापीति स्पष्टार्थः। सूक्ष्मशरीरप्रपञ्चनमुपसंहरति एवमिति।

---

९८. स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि ॥

अनुवाद—अतिस्थूलभूत पञ्चीकृतों (महाभूतों) को कहते हैं।

विद्योत्तमा—अपञ्चीकृत भूत सूक्ष्म स्वरूप हैं। इससे विकसित जड प्रकृति (माया) स्थूल स्वरूप प्राप्त करती है। यही अवस्था पञ्चीकृत की अवस्था है।

[९८] पूर्वत्र प्रतिज्ञातानि स्थूलभूतानि प्रपंचयति स्थूल इति।

पञ्चीकरण—

९९. पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम् ॥

अनुवाद—आकाशादि पाँच महाभूतों में से प्रत्येक को समान दो भागों में बाँटकर उन (५ × २ = १०) दस भागों में से प्राथमिक (अर्धांश) पाँच भागों को पुनः चार बराबर भागों में प्रत्येक को विभक्त करके उनकी (१/८ भाग को) अपने-अपने द्वितीयार्ध भाग को छोड़ कर दूसरे भागों को मिलाने की प्रक्रिया पञ्चीकरण है (अर्थात् आकाश = १/२ भाग आकाश + १/८ भाग वायु + १/८ भाग अग्नि + १/८ भाग जल + १/८ भाग पृथिवी। इसी प्रकार अन्य महाभूतों का इसी प्रकार अपने अंश का १/२ भाग तथा अन्य चार महाभूतों का १/८ अंश मिलाकर पञ्चीकृत महाभूत बनता है। स्थूल प्रपंच की उत्पत्ति पंचीकृतमहाभूतों से होती है।)

विद्योत्तमा—पञ्चीकरण—सृष्टिविकासार्थ पञ्चभूतों का परस्पर सम्मिश्रण ही पञ्चीकरण है। इस प्रक्रियानुसार पाँचों भूतों के प्रत्येक के दो बराबर भाग करके उन—२ भूतों के आधे-२ भागों में अन्य-२ भूतों के आठवें अंश को मिला देने से पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं। अर्थात् पृथ्वी में केवल आधा भाग पृथ्वी का और अवशेष आधे में आकाश, वायु, तेज तथा जल का १/८ भाग साधारणतया रहता है। इसी भाँति अन्य भूतों में भी अपना अर्धांश तथा शेष अन्य का आठवाँ भाग रहता है।

---

१००. तदुक्तम्—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते॥' इति॥

अन्वय—प्रथमम् (प्रत्येकं) द्विधा विधाय, पुनः एकैकं चतुर्धा (विधाय) स्वस्वेतरद्वितीयांशैः योजनात् ते पञ्च पञ्च (एव) (भवन्ति)। (२८)

शब्दार्थ—प्रत्येकम् = आकाश, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि इन पाँच महाभूतों में हर एक को। द्विधाविधाय = दो-दो भाग करके, चतुर्धा विधाय = चार-चार भाग करके, स्वस्वेतरद्वितीयांशैः = अपने-अपने द्वितीय भाग १/२ को छोड़कर अन्यों के अंशों में अपने अंशों के, योजनात् = जोड़ने से, ते = वे आकाशादि पञ्चमहाभूत, पञ्च = पाँच ही, पञ्च = पञ्चीकृत हो जाते हैं।

अनुवाद—इसी को (पंचदशी की) यह कारिका इस प्रकार कहती है—

प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके पुनः पहले अर्धभागों को चार विभागों में बाँटकर भूतों के प्रत्येक अर्धभाग में अपने अंश को छोड़कर अन्य भूतों के अर्धांश का चौथा अर्थात् आठवाँ भाग मिश्रित करने से पाँच (महाभूत) पाँच ही हो जाते हैं।

विद्योत्तमा—इस कारिका को स्पष्ट करने के लिये 'एक एक रुपये का नोट (पाँच) पाँच व्यक्तियों के पास है यह कल्पना करना अधिक उचित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने रुपये को अठन्नियों में भुना ले और एक-एक अठन्नी अपने पास रखकर दूसरी अठन्नी की चार दुअन्नियाँ करा के उन चारों को शेष चार व्यक्तियों को दे दे। यही काम पाँचों व्यक्तियों ने किया अपनी-अपनी एक अठन्नी पास रखके दूसरी अठन्नी की चारों दुअन्नियों को चारों को दे दिया। इस भाँति सबके पास (चार दुअन्नियों के रूप में आठ-आठ आने और आने से फिर एक-एक रुपया हो गया। इसी तरह आकाशादि पाँच महाभूतों का अपना-अपना आधा हिस्सा तथा शेष चार महाभूतों का आठवाँ भाग मिलाकर पञ्चीकृत महाभूत बनते हैं। प्रस्तुत कारिका में यही बात निर्दिष्ट की गई है। यथा—

पृथ्वी = $\frac{१}{२}$ पृथ्वी + $\frac{१}{८}$ जल + $\frac{१}{८}$ तेज + $\frac{१}{८}$ वायु + $\frac{१}{८}$ आकाश

प्रो॰ हिरियन्ना ने पञ्चीकरण को शंकर तथा सुरेश्वर द्वारा निरूपित न मानकर आनन्द ज्ञान आदि परवर्ती व्याख्याकारों द्वारा प्रतिपादित कर स्वीकार किया है जो उचित नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं—पञ्चमहाभूतानाम् एकैकं द्विधा विभज्य चतुर्धा कृत्वा स्वार्धभागं विहाय इतरेषु पञ्चधा पञ्चीकृतेषु पञ्चीकरणम् भवति।

[९९—१००] पूर्वोक्तानामेव भूतानां परस्परं व्यवहर्तृप्राणिनिकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मापेक्षपरमेश्वरसान्निध्यादिनिमित्तापेक्षया विभागेन मिलितानां स्थूलतापत्तिः पञ्चीकरणमित्याह **पञ्चीकरणं तु** इति। ननु कथमित्यर्थविभागेन पञ्चीकरणं निरूप्यते तत्र प्रमाणाभावादित्याशङ्क्याह अस्येति। "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणीति तासां त्रिवृत्तं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा॰ ६।३।२) इतीक्षित्वा सा सदाख्या परमात्मदेवता सृष्टानां तिसृणां देवतानां तेजोबन्नात्मिकानां मध्य एकैकां देवतां त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिरूपां त्रिरूपामकरोत्कृतवतीति त्रिवृत्करणश्रुतिः।

सा पञ्चीकरणमप्युपलक्षयत्याक्षिपतीत्यर्थः। त्रिवृत्करणं नाम तेजोवन्नानां त्रयाणां मध्य एकैकं द्विधा समं विभज्य पुनरेकैकभागस्य द्विधा विभागं कृत्वा स्वस्वद्वितीयं स्थूलभागं परित्यज्यान्यदीयस्थूलभागयोरेकैकस्य भागस्य संयोजनम्।

१०१. अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्॥

अनुवाद—उपनिषत् के त्रिवृत्करण के पञ्चीकरण का उपलक्षण होने के कारण इस (पञ्चीकरण) के प्रामाण्य में आशङ्का नहीं करनी चाहिये।

विद्योत्तमा—त्रिवृत्करणश्रुतेः—त्रिवृत्करण का अर्थ है भूतों में तीन भूतों का ही सम्मिश्रण है फिर यहाँ पञ्चीकरण की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा की समस्या का समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—तीन भूतों का परस्पर सम्मिश्रण बतानेवाली (त्रिवृत्करणश्रुतेः) श्रुति केवल निर्देशन मात्र है वस्तुतः यह पञ्चीकरण की ओर संकेत है। पाश्चात्य विद्वान् ड्यूसन के सिद्धान्तानुसार उपनिषद् ग्रन्थों में तीन भूतों का ही वर्णन मिलता है जो भारतीयदर्शन के विकास में अपेक्षाकृत अवस्था को द्योतित करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी की उत्पत्ति कहकर इनके (प्रत्येक के आधे तथा शेष दो के चतुर्थ भाग) त्रिवृत्करण द्वारा ही सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि।' तथा 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि इति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।' (छान्दो० ६।३।३।)

[१०१] अत्र केचित्प्रगल्भन्ते सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितं तथापि युक्तिदृष्टत्वाद्वाचस्पतिमतं शुभमित्यादिना। तत्र युक्तिं चेत्थमाचक्षते गगनपवनयोः किल पृथिव्याद्यात्मत्वे रूपवत्त्वमहत्त्वाभ्यां चाक्षुषत्वं तयोः प्रसज्येतेति। तत्र त्रिवृत्करणपक्षेऽपि तेजसः पृथिव्यात्मत्वे काठिन्यद्रवत्वाभ्यां विशिष्टतयोपलम्भप्रसङ्ग इति दोषसाम्ये शङ्कितेऽर्द्धभूयस्त्वान्न दोष इति परिहारस्य पञ्चीकरणपक्षेऽपि समानत्वेन दूषणोद्धारे व्यवहारमार्गप्राप्तपञ्चीकृतिर्मुधा पञ्चीकरणस्य कुत्राप्यश्रवणादिति। तत्रेदं वक्तव्यम्। किं पञ्चीकरणस्य व्यवहारमार्गसिद्धत्वादप्रामाण्यं किंवाश्रुतत्वादाहोस्वित्त्रिवृत्करणश्रुतिकरणविरोधादिति। आद्ये-

ऽष्टकाकरणादीनां शिष्टव्यवहाराणामप्रामाणिकत्वापत्तिः। द्वितीयेऽपि किं साक्षाच्छ्रवणाभावो हेतुरुत श्रुतार्थापत्त्यभावोऽपि। नाद्यः साक्षादश्रुतस्य प्रत्याख्याने परमापूर्वादीनामपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न द्वितीयः श्रुतार्थापत्तेर्विद्यमानत्वात्। तथाहि छान्दोग्ये तेजःप्रभृतीनां त्रयाणां सृष्टिश्रुतौ तावच्छ्रुत्यन्त्यरप्रसिद्धाकाशवायुसृष्टेरप्युपसंहरणीयत्वम्। वियदधिकरणे (ब्रह्मसूत्र २।३।१–७) तेजोधिककरणे (ब्रह्मसूत्र २।३।१०) च निर्धारितमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाहान्यादिभिर्हेतुभिः। तथा च श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया पञ्चानां भूतानां सृष्टिं प्रक्रम्य तेषां सूक्ष्मतयाव्यवहार्याणां व्यवहारसिद्धये त्रिवृत्करणं ब्रुवन्ती श्रुतिः पञ्चीकरणाभिप्राया चेन्न स्यात्तदा वाय्वाकाशयोः सूक्ष्मत्वानिवृत्तेरव्यवहार्यतापत्तौ सृष्टानां भूतानां व्यवहाराय त्रिवृत्करणोपदेशानुपपत्तिः केन वार्यते। न च वाय्वाकाशयोर्व्यवहार एव नास्तीति वाच्यं महान्वायुर्महन्नभ इति व्यवहारस्य सर्वजनीनत्वात्। ननु श्रुत्युक्तमित्येव त्रिवृत्करणं स्वीक्रियते न व्यवहारायेति चेन्न त्रिवृत्करणवाक्ये स्वसम्बन्धिनः फलस्याभावात्फलवदात्मैक्यज्ञानार्थवादत्वे यथासृष्टिन्यायं त्रिवृत्करणं युक्तमर्द्धजरतीयस्यान्याय्यत्वात्॥

ननु शाखान्तरे भूतद्वयसृष्टेः श्रुतत्वात्तत्परित्यागानुपपत्तेश्छान्दोग्यतैत्तिरीयादिश्रुत्योर्विरोधपरिहारायोपसंहारः क्रियते न तथा पञ्चीकरणं क्वचिच्छ्रुतमस्ति येन तन्न्यायोऽनुसरणीयः स्यादिति चेत्सत्यम्। तथापि न्यायानुसरणं युक्तम्। यथा त्रिसर्गश्रुतौ सृष्टानां भूतानां स्फुटतरव्यवहाररूपनामरूपव्याकरणोपायतया त्रिवृत्करणं श्रुतं तद्वद्भूतपञ्चकसर्गश्रुतावपि तथा नामरूपव्याकरणोपायः कश्चिदीश्वरस्येक्षितुर्युक्तः। स चोपायविशेषस्तस्यैवेश्वरस्य भूतयोनेः शाखान्तरे त्रिवृत्करणरूपः श्रुतस्तत्परित्यागेनान्यस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात्तस्यैव पञ्चसर्गश्रुतावप्युपसंहारे प्राप्ते तस्य पञ्चीकरणार्थत्वमन्तरेण पञ्चानां भूतानां स्फुटतरव्यवहारोपायतानुपपत्तेर्युक्तं त्रिवृत्करणवाक्यस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वमित्येतेन चरमः पक्षः प्रतिक्षिप्तस्त्रिवृत्करण श्रुतेः पञ्चीकरणार्थत्वनिरूपणे कृते तेन पञ्चीकरणस्य विरोधासम्भवात्। श्रुत्यभिप्रायश्चैवं वर्णितो विद्वत्तमाचार्यैः। "आकाशस्य सर्वावकाशतया सर्वाव्यतिरेकाद्वायोश्च सर्वचेष्टाहेतुत्वेन सर्वाविनाभूतत्वात्तयोस्तेजःप्रभृतिष्वन्तर्भावं सिद्धवत्कृत्य त्रिवृत्करणं प्रयोगसौकर्यार्थं श्रुतिर्वर्णयाम्बभूव" इति। तस्मादस्ति पञ्चीकरणं प्रामाणिकमित्यलमतिनिर्बन्धेन॥

१०२. पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति ॥

अनुवाद—पाँचों (भूतों में) पाँचों के समान भाग मिश्रित होने पर भी प्रत्येक में विशेषांश के आधार पर ही इनके लिये आकाशादि न्यायसंगत व्यवहार होता है।

विद्योत्तमा—पाँचों महाभूतों में सभी के मिले होने पर भी वायु का चाक्षुष न होने का कारण यही है कि उसमें उसी के अंश का बाहुल्य है। यही तथ्य सभी में हैं।

[१०२] ननु पृथिव्यादीनां भूतानां चेत्सर्वभूतात्मकत्वं तथा सति व्यवहार-साङ्कर्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह पञ्चानां इति। वैशेष्याद्विशेषभावात् भागाधिक्यात्तद्वादो नमः पवनस्तेजो जलं पृथिवीत्यादिव्यपदेशो भवतीति द्वितीयाध्याय-समस्याधिकरणे न्याये निर्णयः कृतस्तेन न्यायेनाकाशादौ व्यवहारासाङ्कर्यं सिध्यतीत्यभिप्रायः।

---

१०३. तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥

अनुवाद—तभी (पञ्चीकृत दशा में आकाश में शब्द, वायु में शब्दस्पर्श, अग्नि में शब्दस्पर्शरूप, जल में शब्दस्पर्शरूप रस तथा पृथिवी में शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध अभिव्यञ्जित होते हैं।

विद्योत्तमा—अभिव्यक्त हुए पञ्चीकृत स्थूलभूतों में क्रमशः उपर्युक्त विषयों की अभिव्यक्ति होती है, जो कि उत्तरोत्तर अपने-अपने कारणों के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

[१०३] इदानीं भूतानां पञ्चीकृतत्वे लिङ्गं चाह तदानीमिति। तदानीं पञ्चीकरणानन्तरमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते। स्फुटतयेति सर्वत्र योजनीयम्। एतदुक्तं भवति। आकाशादीनां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वेन स्वस्वकार्यापेक्षया व्यापकत्वात्कार्यांश संवलितत्वेऽपि न कार्यगतगुणाश्रयतयाप्यभिव्यक्तिः किन्तु स्वस्वगुणाश्रयतयैव। तथा कार्याणां स्वकारणापेक्षयाल्पत्वात्तेषां कारणभागसम्मिश्रितानां कारणगुणाश्रयतयापि भवत्यभिव्यक्तिरिति। तथा च लोकेऽनुभवः।

प्रचण्डशब्दो वायुः। प्रजल्पति ज्वाला। नदी संघुष्यति। स्फुट्यमानः पाषाणः क्रोशतीत्यादि। स्पर्शादीनां तेजःप्रभृतिषु सद्भावोऽविवाद एव। न चैवमनुभवो भ्रान्तिर्व्यवहारदशायां बाधादर्शनात्। तथा च प्रतिनियताश्रया अपि शब्दादयो गुणा यथायथं भूतान्तरेष्वप्युपलभ्यमाना भूतानां पञ्चीकृतत्वं गमयन्तीति ॥

—स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्ति—

१०४. एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति ॥

अनुवाद—इन पञ्चीकृत महाभूतों से भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् इत्यादि नामक ऊपर के भुवनों का, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल नामक नीचे के विद्यमान लोकों का, ब्रह्माण्ड और उसमें स्थित चतुर्बिध स्थूलशरीरों और उनके पोषणार्थ अन्न पानादिकों का प्रादुर्भाव होता है।

विद्योत्तमा—१. **ब्रह्माण्डस्य**—चौदह लोकों को चारों ओर से घेरे हुए लोकालोक पर्वत के भी बाहर पृथ्वी तथा उससे भी बाहर समुद्रादि को मिलाकर ब्रह्माण्ड कहा जाता है। जैसाकि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—'द्व त्रिंशतं वै देवरथाह्नन्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत् पर्यति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत् समुद्रः पर्येति।' रामतीर्थ अपनी टीका में लिखते हैं—एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्य पृथ्वी तद् बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते ॥'

२. **लोकानाम्**—पाठ्यक्रमानुसार ऊपर के भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् आदि सात लोक हैं तथा अतल आदि सात नीचे भूमि विद्यमान हैं। ये चौदहों लोक क्रमशः प्राणियों के कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं।

[१०४] एवं भूतारोपं प्रपञ्च्य भौतिकारोपमाह एतेभ्य इति। भूरादयः प्राणिनां कर्मज्ञानफलभोगस्थानविशेषा यथा पाठक्रममुपर्युपरि वर्तमानाः सप्त भूमेरधोऽधश्च पाठक्रमेण वर्तमाना अतलादयः सप्तेत्येवं चतुर्दश लोकाः। एत

एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवीतद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते। अस्य च परिमाणं श्रुतौ सङ्कीर्तितं "द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति तां पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति" इति (बृह० ३।३।२)।

---

१०५. चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि ॥

अनुवाद—जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज नामक चार प्रकार के शरीर हैं।

विद्योत्तमा—चतुर्विध शरीराणि—अमरकोश भी इनका (चार प्रकार के शरीरों का) उल्लेख इस प्रकार करता है—'नृगवाद्या जरायुजाः। स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः पक्षिसर्पादयोऽण्डजाः। उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः।'

---

१०६. जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि ॥

अनुवाद—जरायु से उत्पन्न होने वाले मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं।

---

१०७. अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि ॥

अनुवाद—अण्डों से उत्पन्न होने वाले द्विज (पक्षी) तथा सर्पादि अण्डज हैं।

---

१०८. उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि लतावृक्षादीनि ॥

अनुवाद—भूमि को उद्भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्षादि उद्भिज्ज हैं।

---

१०९. स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकमशकादीनि ॥

अनुवाद—पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ तथा मच्छरादि स्वेदज हैं।

[१०५-१०९] शरीराणां चातुर्विध्यं स्पष्टयति **शरीराणि** इति। यथोद्देशक्रमं शरीराणि लक्षयति जरायुजानीत्यादिना। ननु वैशेषिकाः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेर-

प्रत्यक्षत्वात्पञ्चात्मकत्वं न विद्यत इति वदन्तोऽप्रत्यक्षाभ्यां वाय्वाकाशाभ्यां सह पृथिव्यादिभिरारभ्यमाणानां शरीराणामप्यप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गान्न पाञ्चभौतिकं शरीरमित्याहुस्तत्कथं पञ्चभ्यो भूतेभ्यश्चतुर्विधभूतग्रामस्योत्पत्तिरुच्यत इति चेदत्राहुः। अस्ति हि शरीरे सर्वेषामपि भूतानां कार्यसम्प्रतिपत्तिरवकाशव्यूहनपचनक्लेदनकाठिन्यानां सर्वजनानुभवसिद्धत्वात्। अतस्तत्कारणतया पञ्चापि भूतान्येकस्मिन्देहे सन्तीति स्थिते यदि तेषां भूतानां देहावयवत्वाभावो वृत्तिलाभमात्रतैव स्यात्तदा तदपगमानपगमाभ्यां देहस्यापचयोपचयौ न स्याताम्। दृश्येते च तयोः सतोरुपचयापचयावतस्तन्तुपटयोरिवावयवावयवित्वमेव पञ्चभूतदेहयोर्युक्तम्। पार्थिवे कार्येऽपार्थिवानां भूतानां वृत्तिलाभमात्रत्वे तु तदुपगमापगमाभ्यां तस्योपचयापचयायोगात्। न हि वस्त्रस्यानारम्भकसलिलद्रव्यार्द्रीकृतस्य तदवस्थायामुपचयस्तदपगमे वापचयोऽस्ति तदायामविस्तारयोस्तदवस्थास्वदर्शनात्। तथा च जलदृत्योरपि पावकपवनोपगमापगमाभ्यां परिमाणान्यथात्वं न दृश्यते। तथा च यदि भस्त्रादाविव पार्थिवे देहे भूतान्तरस्य वृत्तिमात्रता स्यात्तर्हि भस्त्रादिदेहयोरविशेषेण व्यूहनादीनां सत्त्वमसत्त्वं वा तुल्यवत्प्रसज्येतादृष्टवदात्मनः संयोगतज्जन्यप्रयत्नादिकारणान्तरस्याप्युभयत्र समानस्यापादयितुं शक्यत्वात्। न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेः शरीरस्याप्रत्यक्षत्वं शङ्कनीयं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षावयववृत्तीनामवयविनामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। न च स्पर्शशून्यत्वादेकद्रव्यत्वाच्चाकाशस्यारम्भकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यमारम्भवादस्यानङ्गीकारादेकस्यापि दुग्धावयविनो दध्यारम्भकत्वदर्शनात्। न च दुग्धावयवैरिव दध्यारभ्यत इति वाच्यं तथा सति दधिदुग्धयोर्गन्धरसादिवैषम्यं न स्याद्दुग्धस्येव सतः परिणामो दधीत्यभ्युपगमे स्याद्गन्धादिवैषम्यम्। स्पर्शशून्यमपि द्रव्यं यथा गुणारम्भकं दृष्टं तथा द्रव्यारम्भकमप्यस्तु। श्रुतिरपि शरीरस्य सङ्कीर्णद्रव्यारब्धतां श्रावयति "अन्नमशितं त्रेधा विधीयत" इत्यादौ (छा० ६।५।१)। याज्ञवल्क्योऽप्याह—

"पञ्चधातून्स्वयं षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुः"। इति

(याज्ञवल्क्यस्मृति ३।७२)।

वस्तुतस्तु पञ्चानां भूतानां पञ्चात्मकत्वस्य दर्शितत्वादारम्भवादस्य निराकृतत्वाच्च नात्रोदयनाद्युक्तदोषशङ्कावकाशोऽपीति गमयितव्यं तस्मात्सिद्धं शरीरं पाञ्चभौतिकमिति ॥

११०. अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा व्यष्टिरपि भवति ॥

अनुवाद—यहाँ पर भी चतुर्विध स्थूलशरीर, एकत्व या अनेकत्व के ज्ञान का विषय होने के कारण वन या सरोवर की भाँति व्यष्टि भी कहे जाते हैं।

[११०] अत्रापि इति स्पष्टार्थः।

---

१११. एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनराभिमानित्वाद्विविधं राजमानत्वाच्च ॥

अनुवाद—यह समष्टि से उपहित चैतन्य, सर्वमनुष्याभिमानी तथा विविधरूप से शोभायमान होने के कारण वैश्वानर तथा विराड् कहा जाता है।

विद्योत्तमा— १. सर्वनराभिमानित्वाद्—अभिमानी शब्द का वेदान्त में अधिष्ठाता अर्थ किया जाता है। यहाँ नर शब्द केवल मनुष्यों का ही नहीं—प्रत्युत समस्त प्राणियों का उपलक्षणभाग है तथा 'सर्व' शब्द से 'विश्व' अभिप्रेत है। समस्त प्राणियों के शरीर समूह में 'यह मैं हूँ' इस भाँति अभिमान रखने के कारण उसका वैश्वानरत्व है। जैसा कि सुबोधिनी टीका इसकी व्याख्या में बताती है—

'सर्वप्राणिनिकायेष्वभिमानवत्त्वात् भिमानरत्वम्।'

वैश्वानर, विराट् और पुरुष शब्द क्रमशः छान्दोग्य, तथा श्वेता० उपनिषदों में आये हैं। अतएव प्रामाणिक हैं।

२. विविधं राजमानत्वात्—विविध रूपों में (देव-मनुष्य, पशु, गिरि, नदी तथा समुद्रादि के रूप विराजमान होने के कारण **'विराट्'** कहा जाता है।

[१११] स्थूलसमष्ट्युपहितस्य चैतन्यस्य व्यपदेशभेदानाह **एतत्समष्ट्युपहितं** इति। चत्कारात्पुरुषादिशब्दग्रहः। **उच्यते**। "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (छा० ५।१८।१) "सैषा विराडन्नादी" (छा० ४।३।८) "पुरुष एवेदं" (श्वेता० ३।१५) इत्यादिश्रुतिभिरिति शेषः। तत्र हेतूनाह सर्वनरेति। सर्वशब्दो विश्वपदपर्यायः। विश्वनराभिमानित्वाद्वैश्वानरः। विविधं राजमानत्वाद्विराट्। चकारात्पूर्णत्वात्पुरुष इति च द्रष्टव्यम्।

११२. अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते ॥

अनुवाद—इनकी यह समष्टि स्थूलशरीर, (माता पिता के खाये) अन्न (से उत्पन्न होने के कारण) का विकार होने के कारण अन्नमयकोश, स्थूल भोग का आश्रय होने के कारण स्थूलशरीर तथा (विषयभोगी होने के कारण) जाग्रत् कहा जाता है ।

विद्योत्तमा—जाग्रत्—इन्द्रियों के द्वारा विषयों की प्राप्ति होने से इसको जाग्रत् कहा जाता है । सुबोधिनी टीका भी इसी का समर्थन करती है—

'इन्द्रियैरर्थोपलब्धेश्च जाग्रदवस्थात्वं घटते ।'

जागरणावस्था की इसी परिभाषा को शङ्कराचार्य भी मानते हैं । वे कहते हैं—'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम् ।'

[११२] उपहितस्य व्यपदेशानुक्त्वोपाधेरपि तानाह अस्यैषेति । 'अन्नं वै विराट्' (तैत्ति० ब्रा० १।६।३।४) इतिश्रुतेरन्नविकारत्वम् । स्थूलभोगेति-स्पष्टो भोगः ।

---

११३. एतद् व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात् ॥

अनुवाद—(स्थूल शरीरों की) इस व्यष्ट्युपाधि से उपहित चैतन्य, सूक्ष्म शरीरों को बिना त्यागे ही स्थूलशरीरों में प्रवेश करने के कारण विश्व कहलाता है ।

विद्योत्तमा—१. स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्—यहाँ स्थूल शरीर के बाद आदि शब्द निरर्थक है, क्योंकि शरीर के बाद अन्य कोई स्थूल उपाधि ही शेष नहीं रहती । तथा प्रविष्टत्वात् का अर्थ है सम्पूर्ण शरीर में रहने के कारण ही (जीव) विश्व कहलाता है । रामतीर्थ ने 'आदि' शब्द को सार्थक सिद्ध करने के लिये अपनी टीका विद्वन्मनोरञ्जनी में बड़ा प्रयत्न किया है—

"सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तदगुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन् प्रविष्टत्वात् ।"

अर्थात् सूक्ष्मशरीर कारणशरीर है उसे बिना त्यागे स्थूलशरीरादि में कारण की अपेक्षा स्थूलशरीर लिङ्गशरीर आदि में परमस्थूलशरीर (अन्नमयदेह) के उस (लिङ्गशरीर युक्त) परमस्थूलशरीर में प्रविष्ट होने वाला होने से वह 'विश्व' संज्ञा से अभिहित होता है।

२. विश्व—प्रविष्टत्वात् तथा विश्व दोनों यद्यपि एक ही 'विश्' धातु से निष्पन्न है किन्तु प्रविष्टत्वात् की विश् 'धातु' 'विश्वभाव' को नहीं कहती बल्कि वह विश्व (सम्पूर्ण) शरीरों में अभिमानी होने के कारण 'विश्व' कहाती है। रामतीर्थ 'सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवति' कहकर इसे स्पष्टरूपेण समझाते हैं—'जीव तीन उपाधियों वाला है। सुषुप्ति काल में उसकी उपाधि केवल अज्ञान होती है, स्वप्नावस्था में जागरणावस्था का वासनामय लिङ्गशरीर उपाधि होता है तथा जागरणकाल में सूक्ष्मशरीर से संसृष्ट स्थूलशरीर उपाधि होता है तथा ऐसा होने से जीव पहले-पहले की उपाधि से विशिष्ट बाद-बाद की उपाधियों में प्रविष्ट होता है। इसीलिये सम्पूर्ण शरीरों में प्रविष्ट होने वाला होने से स्थूलशरीराभिमानी जीव की 'विश्व' संज्ञा होती है। प्रो॰ हिरियन्ना ने जीव को विश्वत्व से विज्ञापित कहा है—पर यह ठीक नहीं है।

[११३] एवं समष्टिस्थूल—तदुपहितचैतन्ययोर्व्यपदेशभेदं दर्शयित्वा व्यष्टिस्थूलतदुपहितयोरपि तमाह एतद्व्यष्टीति। व्यष्टिस्थूलशरीरोपहितस्य विश्वशब्दवाच्यत्वे हेतुमाह सूक्ष्म इति। सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिङ्गशरीरं तदादिर्यस्य परमस्थूलशरीरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन्प्रवेष्टृत्वात्। तथा हि जीवस्य त्रय उपाधयः। सुसुप्त्यादौ बुद्ध्यादिसंस्कारोपरञ्जितमज्ञानमात्रमुपाधिः। स्वप्ने जाग्रद्वासनामयं लिङ्गशरीरमुपाधिः। जाग्रदवस्थायां तु सूक्ष्मशरीरसंसृष्टस्थूलशरीरमुपाधिः। तथा च पूर्वपूर्वोपाधिविशिष्टस्यैवोत्तरोत्तरोपाधिप्रवेशात्सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञेति। यद्वा सूक्ष्मशरीरं लिङ्गशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरं विराड्व्यष्टिस्तदादिर्यासां चक्षुरादिवृत्तीनां तत्तद्विषयाकाराणां च तत्प्रवेष्टृत्वादिति हेतुयोजना। स्थूलशरीरमपरित्यज्येति क्वचित्पाठे स्थूलशरीरे वर्तमानस्यैव सूक्ष्मशरीरकारणशरीरयोरप्यनुगतत्वादिति हेत्वर्थोऽनुसन्धेयः। सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद्विश्व इत्युक्तं भवतीति भावः।

—: ० :—

११४. अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते ॥

अनुवाद—इसकी भी यह व्यष्टि स्थूलशरीर, अन्नविकार होने के कारण अन्नमयकोश तथा जाग्रत् कही जाती है।

[११४] अस्यापि इति पूर्ववत्। एषेति व्यष्टिरुच्यते।

—: ० :—

११५. तदानीमेतौ, विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धानग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दांश्चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतो 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञ' इत्यादि श्रुतेः ॥

अनुवाद—उस समय में (जाग्रत अवस्था में) विश्व और वैश्वानर दिक्, वायु, सूर्य वरुण तथा अश्विनी कुमारों से क्रमशः नियमित श्रोत्रादि (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण) पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्दस्पर्श रूप, रस तथा गन्ध का तथा अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति द्वारा क्रम से नियमित वाणी, हाथ, पैर, पायु तथा उपस्थ पाँच इन्द्रियों से क्रमशः बोलना, लेना, चलना, विसर्जन एवं आनन्द का तथा चन्द्र, ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु द्वारा क्रमशः निबन्त्रित मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमशः सङ्कल्प, निश्चय, गर्व, स्मरणरूपी सब स्थूल विषयों की अनुभूति करते हैं। इस विषय में निम्न श्रुविवचन प्रमाण है—'जाग्रत अवस्था युक्त (चैतन्य) ही बाह्य विषयों से अवगत है।'

विद्योत्तमा—१. दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः—भागवत में बताई गई कल्पना के अनुसार इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं की कल्पना मानी गई है।

२. तदानीम्—तदानीम् का तात्पर्य इससे पूर्वप्रसङ्गानुकूल 'जागरण अवस्था है। पञ्चमहाभूतों के पञ्चीकृत हो जाने तथा स्थूल-संसार की सृष्टि हो जाने पर वैश्वानर जाग्रत् दशा वाला होता है और जब इन्द्रियों द्वारा विषयों की प्राप्ति हो जाती है, वह विश्व की जागरणावस्था है।

३. **अन्तरिन्द्रिय चतुष्केण**—आन्तरिक विचारों की कारणभूत इन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय कहलाती है तथा 'तैरन्तःकरणं सर्वैवृत्तिभेदेन तद् द्विधा। मनोविमर्शरूपस्यादबुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका।' 'अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरश्चित्तम्।' अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिरहंकारः के अनुसार अन्तरिन्द्रियाँ चार हैं (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)।

४. **जागरित स्थान**—प्रस्तुत मन्त्र माण्डूक्योपनिषद् का तीसरा मन्त्र है जिसमें वैश्वानर का स्थान जगत् कहा गया है।

[११९] पूर्ववद्विश्ववैश्वानरयोरपि जाग्रत्स्थित्यवस्थापन्नं भोगविशेषं सप्रकारं प्रपञ्चयति **तदानीमि**त्यादिना। दिगादिपञ्चदेवतानियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन यथापाठक्रमं शब्दादिगन्धान्तान्स्थूलविषयाननुभवत इति प्रत्येकं योजनीयम्। अग्न्यादिदेवतापञ्चकनियन्त्रितेन वागादिपञ्चकेन वचनाद्यानन्दान्तांस्तथा चन्द्रादिदेवताचतुष्टयनियन्त्रितेन मन आदि चतुष्केण सङ्कल्पादिचैत्यान्तांश्चतुरः सर्वानेतानिति। यथायथं यथोक्तक्रमानुरोधेन सर्वानेतान्स्थूलभोगान्विषयाननुभवत इत्यर्थः। अत्रापि प्रमाणमाह **जागरित** इति। आदि शब्दात् "स्थूलभुग्वैश्वानर" (माण्डूक्य ३) इति वाक्यशेषग्रहः।

इदमत्र बोद्धव्यम्। जाग्रदवस्थायां हि प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारा भवन्ति तत्र प्रमाणैर्योऽर्थं प्रमिणोति स प्रमाता येन प्रमिणोति तत्प्रमाणं यत्प्रमीयते तत्प्रमेयमिति सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। तत्र यः प्रमाता जीवश्चेतनः स विषयं प्रमिण्वन् कया प्रत्यासत्त्या प्रमिणोतीति विचारणीयम्। आत्ममनइन्द्रियविषयाणां क्रमेण संयोगपरम्परयेति चेन्न विषयसंयुक्ततत्संयुक्तेष्वपि संयोगपरम्परया युगपत्सर्वावभासप्रसङ्गात्। यावदिन्द्रियसम्बन्धस्तावदेव हि भासत इति नातिप्रसङ्ग इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्यापीयत्तानवधारणात्। इन्द्रियसन्निकर्षानन्तरं योऽर्थः स्फुरति तावन्मात्रं सन्निकृष्यत इति चेन्नेन्द्रियसन्निकर्षस्येयत्तावधारणात्स्फुरणस्य विषयनियमस्तस्मिन्सतीन्द्रियसन्निकर्षेयत्तावधारणमिति परस्पराश्रयात्। किञ्चोक्तसन्निकर्षस्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रे क्लृप्तत्वात्तदनन्तरं तस्यावस्थाने कल्पकाभावान्न ज्ञानस्य विषयेण सह सम्बन्धः स्यात्। तथा च मयेदं विदितमिति स्वात्मनि सम्बन्धानुसन्धानाभावप्रसङ्गः। न चाश्रयद्वारा सम्बन्ध इति वाच्यं ज्ञानस्य सर्वगतात्माश्रयत्वे युगपत्सर्वविषयसम्बन्धात्सर्वावभासप्रसङ्गः।

देहावच्छिन्नात्मप्रदेशाश्रितत्वे देहस्य बाह्यविषयासम्बन्धान्न बाह्यं किञ्चिदपि भावात्। ननु सम्बन्धाभावेऽपि ज्ञानज्ञेययोरुद्दिष्टे विषये ज्ञानमतिशयं जनयतीति नाव्यवस्थेति चेन्नानुद्दिष्टेष्वपि दुर्गन्धादिषु ज्ञानकृतातिशयदर्शनात्। अदृष्टवशात्किञ्चिदेव भासत इति चेन्न तस्य दृष्टसामग्रीसम्पादकत्वेनान्यथासिद्धत्वादगतिकत्वाच्च। तस्मान्न किञ्चिदेतत्। अतो वक्तव्या जीवस्य विषयग्रहणव्यवहारे व्यवस्थेति। तदुच्यते। न तावदस्मन्मतेऽनुपपत्तिरस्ति यतो जीवस्य सर्वगतत्वासर्वगतत्वपक्षयोरप्यन्तःकरणकृता व्यवस्था सम्भवति। तथाह्यपरिच्छिन्नपक्षे तावदन्तःकरणमेव मनोबुद्ध्यादि शब्दवाच्यं प्रमातृत्वादिव्यवहारापादकम्। यतोऽविद्यावृततयासर्वत्राप्रकाशमानमप्यात्मचैतन्यमन्तःकरणंसंसृष्टं सदवभासते दर्पणद्रव्यसंसृष्टरविरश्मिवत्। तच्चान्तःकरणमदृष्टादिसहायं विषयसंवेदनवेलायां तडागकुल्याक्षेत्रगतोदकप्रवाहवद्देहतद्बाह्यदेशतद्गतविषयानभिव्याप्यावतिष्ठते। तत्र च तिसृष्वप्यवस्थास्वात्मचैतन्यं तदात्मनैवाभिव्यज्यते। तत्र देहमध्यान्तःकरणभागावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृसंज्ञां लभते। देहविषययोर्मध्ये दीर्घप्रभाकारेणेन्द्रियद्वारानिर्गतान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमाणसंज्ञाम्। विषयमभिव्याप्य विषयाकारतयावस्थितान्तःकरणभागावच्छिन्नं प्रमेयसंज्ञाम। इति प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवस्थोपपत्तिः। एवमभ्युपगमे येन विषयेण सहेन्द्रियस्य सन्निकर्षो दूरे वान्तिके वावतिष्ठमानेन तत्रैव तदाकारमेवान्तःकरणं परिणमते नान्यत्र नान्याकारमिति च लभ्यते। तदनुरक्तचैतन्यात्मनश्चैकत्वान्मयेदं विदितमिति सम्बन्धावभासश्चोपपद्यते नान्यथा। परिच्छिन्नात्मपक्षेऽपि जीवत्वोपाध्यन्तःकरणस्य पूर्वोक्तप्रकारेणावस्थाभेदसम्भवे उपाध्यनुगामित्वादुपहितस्य स्वोपाध्यन्तःकरणं यद्यदात्मनावतिष्ठते तत्तदात्मना प्रत्यगात्मचैतन्यमप्यवभासमानं ग्राह्यग्रहणग्राहकभेदव्यवस्थामनुभवत्यग्निरिवायःपिण्डादिसमारूढ इत्यनवद्यम्। न चेयं कल्पना तार्किककल्पनावत्पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षामूला किन्तु श्रुतिमूला। तथा च श्रुतयः। "स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सधीः स्वप्नो भूत्वेवं लोकमतिक्रामति" (बृह० ४।३।७) "नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः" (श्वेता० ३।१८) "आसीनो दूरं व्रजति" (कठ० २।२१) "मनोमयो विज्ञानमय" (बृह० ४।४।५) इत्यादयः। उक्तं च भगवत्पादैः सर्वश्रुत्यर्थसङ्ग्रहे दक्षिणामूर्तिस्तोत्रेः—

"नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्यन्दते ।
जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जग-
त्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये" ॥

युक्तिरपि मनसो बाह्यविषयदेशगमनाभावे इन्द्रियसन्निकर्षपरम्परया देहान्तरे च विषयाकारतास्वीकारे बहिरेतावति दूरेयं विषयो मयोपलब्ध इति प्रतिसन्धानं न स्यात् । अनेकायामविस्तीर्णदेशतन्निष्ठरथगजाद्याकारभावस्यान्तर्हृदयेऽनुपपत्तेः । न च स्वप्नवदुपपद्यत इति वाच्यं स्वप्नस्य मायामयस्योक्तत्वात् । जाग्रदपि मायामयमेवेति चेत्सत्यं तथापि स्वप्नात्व्यवहारभेदसिद्धये तयोः कियदप्यस्ति वैषम्यं सति प्रमातरि बाध्यमानत्वाबाध्यमानत्वाभिमानादिलक्षणम् । नन्वखण्डब्रह्माकारा वृत्तिरन्तरेव जायत इति चेद्बाढं सा हि देहाद्यावरणमुपमर्दयन्ती जायते बाह्यविषया तु नैवमिति वैषम्यं स्यात् । किञ्च यदि विषयेन्द्रियसम्बन्धमात्रमन्तःकरणस्य विषयाकारताहेतुस्तदा दूरवर्तिविषयगतपरिमाणरूपसंख्यादीनामपि तदाकाराकारितेऽन्तःकरणे यथावदवभासप्रसङ्गः । न च दूरलक्षणाद्दोषात्तथा नावभासत इति वाच्यं तस्येन्द्रियसम्बन्धमात्रे प्रतिबन्धकत्वाभावात् । ननु तवापीन्द्रियसंसृष्टाकारता मनस इति स्थिते कथं दूरस्थविषयेयत्ताद्याकारता मनसो न भवेदिति चेन्नैवं मम तु मनसो बहिरस्वातन्त्र्याद्यावद्भिरवयवैरवयविभिर्वा चक्षुःसन्निकर्षस्तावन्मात्राकारमेव मनः परिणमत इति श्लिष्यते । तव तु पदार्थसन्निकृष्टेन्द्रिये सति तद्गतभूयस्त्वाल्पत्वदृढादृढत्वविशेषानादरेऽप्यन्तस्तदाकारवृत्त्युदयोपपत्तेर्विषयेयत्तादेरपि स्फुरणं प्रसज्येतेति वैषम्यात्तस्मादस्ति प्रत्यक्षव्यवहारे बाह्यमनोवृत्तिर्विषयाकारेति स्थितम् । परोक्षव्यवहारे तु विशिष्टशब्दलिङ्गादिबलनिबन्धनात्तत्तदर्थाकारा धीरन्तरेव समुन्मिषति विषयासत्तामात्रस्यैव तत्र स्फुरणात्तद्गतविशेषादेरस्फुरणाच्चेति दिक् । तथा च स्वप्नावस्थायामात्मा बुद्ध्युपाधिः स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये जागरितमागच्छन्पूर्वगृहीतेषु करणेषु पुनः स्वस्वगोलकस्थानेषु तयैव बुद्ध्या प्रसारितेषु सत्सु स्वयं तद्बुद्ध्यनुगतस्तत्तद्गोलकादिदेशं गच्छन्स्वोपाध्यन्तःकरणेन्द्रियसचिवस्तत्तदिन्द्रियविषयाननुमेयांश्च स्थूलान् व्यावहारिकान्पदार्थाननुभवति । तदिदमस्य जागरितम् । तदुक्तं "इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितं" इति (शंकरस्य पञ्चीकरण) । अयमेव विश्ववैश्वानरात्मनः स्थूल भोग इति ।

—: ० :—

११६. अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः ॥

अनुवाद—यहाँ पर भी इन दोनों स्थूल व्यष्टि और समष्टि में तथा इन दोनों से उपहित विश्व और वैश्वानर में वन और वृक्ष तथा उससे आच्छन्न आकाश के समान एवं जलाशय व जल तथा उसमें प्रतिबिम्बित आकाश की तरह पूर्वोल्लेख के अनुसार ही अभिन्नता है।

विद्योत्तमा—विश्व तथा वैश्वानर रूप स्थूल शरीरों से आवृत चैतन्य ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणों के द्वारा स्थूल विषयों का भोग करता है। इन दोनों 'में' भी भेद केवल उपाधियों के द्वारा ज्ञात होता है। तात्विक वस्तु तो दोनों में वही एक चैतन्य है। —(डॉ॰ उमेश मिश्र)

[११६] अत्राप्यनयोः स्थूल इत्यादि पूर्ववत्।

---

११७. एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥

अनुवाद—इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच महाभूतों से स्थूलप्रपञ्च उत्पन्न होता है।

विद्योत्तमा—जड़ प्रकृति का यह स्थूलतम स्वरूप है। इस प्रकार कारण, सूक्ष्म तथा स्थूलप्रपंचों के एक दृष्टि के विषय होने से समष्टि रूप में एक महान् प्रपंच होता है। इन प्रपंचों में रहने वाले 'ईश्वर-प्राज्ञ', 'सूत्रात्मा-तैजस' तथा 'वैश्वानरविश्व' इन सब में कोई वास्तविक भेद नहीं है। देखने में जो भेद हैं, वह केवल उपाधियों के कारण हैं।

[११७] स्थूलप्रपञ्चाध्यासं सावस्थमुपपादितमुपसंहरति एवमिति।

महाप्रपञ्च—

११८. एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति। यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वावान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः ॥

अनुवाद—जैसे—पृथक्-पृथक् वनों (वनभागों) का समुदाय एक महान् वन बन जाता है तथा जैसे भिन्न-भिन्न जलाशयों का समुदाय एक महान्

सरोवर हो जाता है, उसी भाँति इन स्थूल, सूक्ष्म और कारणप्रपञ्चों का भी समुदाय (उपाधि) एक महान् प्रपञ्च बन जाता है।

विद्योत्तमा—एतेषां···जलाशयः—जैसे अनेक आम्रवृक्षों के समूह आम्रवन, अनेक महुये के वृक्षों का समूह महुआवन तथा अनेक पलाशवृक्षों का समूह पलाशवन को सामूहिक रूप से कहने की विवक्षा होने पर उसे महावन कहा जाता है, उसी प्रकार करणसृष्टि अज्ञानों की समष्टि हैं—सूक्ष्मसृष्टि सूक्ष्मशरीरों का समुदाय है तथा स्थूल सृष्टि स्थूल शरीरों का समूह है इन तीनों को सामूहिक रूप से कहने की इच्छा से इसे एक महान् सृष्टि कहेंगे यही विश्वप्रपञ्च कहलाता है, क्योंकि स्थूल सृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर उसकी कारणरूपा सूक्ष्म तथा कारणसृष्टि भी स्थित रहती है।

———

११९. एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्न-काशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिबिम्बाकाशवच्चैकमेव ॥

अनुवाद—इनकी उपाधि से उपहित वैश्वानर से ईश्वरपर्यन्त (कारण-प्रपञ्च) चैतन्य भी अवान्तर वनों से आच्छन्न आकाश या अवान्तर सरोवरों में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति एक ही होता है (भिन्न नहीं)।

विद्योत्तमा—एतदुपहितं···एकमेव—जैसे एक ही महाकाश से आच्छन्न आम्रवन तथा पलाशवन में आच्छन्न आकाश में पार्थक्य प्रतीत होता है तथा एक ही महाकाश दो भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने पर अलग-अलग प्रतीत होता है। किन्तु यथार्थतः अलग-अलग वनों से आच्छन्न तथा पृथक्-पृथक् तालाबों में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही रहता है, ठीक उसी प्रकार एक ही चैतन्य की कारणोपाधि से उपहित होने पर ईश्वर तथा प्राज्ञ और सूक्ष्मोपाधि से उपहित होने पर हिरण्यगर्भ और तैजस तथा स्थूलसृष्टि की उपाधि से युक्त होने पर वैश्वानर और विश्व कहलाने के कारण पृथक्-पृथक्-प्रतीत होता है जबकि वस्तुतः वनस्थित तथा जल प्रतिबिम्बित आकाश के समान उपाधि भेद के कारण चैतन्य भी भिन्न-भिन्न नहीं होता अपितु एक ही है। इसलिये तात्विक दृष्टि से ये सब एक ही (अभिन्न हैं)।

———

१२०. आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायः पिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति ।

अनुवाद—इस महाप्रपञ्च और उससे उपहित चैतन्यों से तपे हुए लोहे के खण्ड के समान अनुपहित शुद्ध चैतन्य अभिन्न है 'यह सब ब्रह्म ही है' यह जो कहा जाता है वह इस कथन का अभिधा से प्राप्त वाच्यार्थ है तथा वही भिन्न होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है ।

विद्योत्तमा—आभ्यां भवति—जैसे लोहे के गोले को आग में डाल देने से वह लाल हो जाता है तथा उससे जलने पर 'मैं लोहे से जल गया' इस प्रकार कहा जाता है लेकिन वास्तव में दाहकताशक्ति अग्नि में होती है, लोहे में नहीं तथा आग के संसर्ग से लोहा तथा आग दोनों का तादात्म्याध्यास होता है उसी भाँति महाप्रपञ्च तथा उससे अवच्छिन्न चैतन्य के साथ अन्योन्यतादात्म्याध्यासापन्न जो उपाधिशून्य (शुद्ध) है वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वाच्यार्थ है तथा उक्त महाप्रपञ्च और उससे अविच्छिन्न चैतन्य के अन्योन्य तादात्म्याध्यास से शुद्ध चैतन्य को पृथक् मानने पर वही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का लक्ष्यार्थ हो जाता है । 'अयो दहति' में अयोगत अग्नि की लक्षणा से 'लोहे की अग्नि जलाती है' यह लक्ष्यार्थ मात्र उसी भाँति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की चैतन्यांश में लक्षणा के द्वारा सर्वप्रपञ्च तथा चैतन्य का एकत्व सिद्ध होगा ।

[११८-१२०] उक्तं प्रपंचत्रयं तदुपहितचैतन्यत्रयं च पूर्ववत्सदृष्टांतमेकीभावमापादयाति एषां इत्यारभ्य आभ्यां इत्यतः प्राक्तनेनग्रन्थेन । स्पष्टार्थोऽयं ग्रन्थः । फलितमाह आभ्यामिति ।

---

१२१. एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः ॥

अनुवाद—इस प्रकार वस्तु (ईश्वर चैतन्य) में सामान्य रूप से अवस्तु (महाप्रपञ्च) का आरोपरूपी अध्यारोप वर्णित किया गया ।

विद्योत्तमा—**अनुपहित चैतन्य**—महाप्रपञ्च और तदुपहित चैतन्य से भिन्न है । अनुपहित चैतन्य के एक अंश में अज्ञान की कल्पना है, जिससे महाप्रपञ्च की उत्पत्ति होती है । पञ्चदशी में आया है—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।
इति कृष्णऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥

[१२१] तत्पदार्थविषयमध्यारोपमुपसंहरति एवमिति ।

आत्मा-संबंधी विविधवाद—

१२२. इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते ॥

अनुवाद—अब प्रत्यग् (अन्तरात्मा चैतन्य) में 'यह आत्मा है' 'यह आत्मा है' यह आरोप विशेष रूप से आरोप कहा जा रहा है ।

विद्योत्तमा—प्रत्यगात्मनि—जो बुद्धि, मन, इन्द्रियसमूह, शरीर तथा दृश्य जगत् का साक्षी तथा द्रष्टा होने के कारण इन सबकी अपेक्षा आन्तरिक है वह चैतन्य प्रत्यगात्मा कहलाता है। 'प्रत्यग्' का तात्पर्य है आन्तरिक तो इस प्रकार प्रत्यगात्मा का अर्थ हुआ। 'अन्तरात्मा' इसी 'अन्तरात्मा' अर्थ में 'प्रत्यगात्म' शब्द कठोपनिषद् में प्रयुक्त हुआ है।

'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

[१२२] अधुना त्वम्पदार्थविषयमध्यारोपं बहुवादिमतोपन्यासेन दर्शयति इदानीम् इति ।

---

१२३. अतिप्राकृतस्तु 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति ॥

अनुवाद—अतिसामान्य जन 'पुत्र ही आत्मा है' इत्यादि श्रुत्यनुसार अपने समान ही अपने पुत्र पर भी प्रेम देखने के कारण पुत्र के नष्ट-पुष्ट हो जाने पर 'मैं ही नष्ट या पुष्ट हो गया' इत्यादि अनुभव करने के कारण पुत्र को ही आत्मा कहते हैं ।

विद्योत्तमा—१. अतिप्राकृतः—का अर्थ है अत्यधिक साधारण (अनात्मज्ञ)। कुछ व्याख्याकार कहते हैं—'जब सभी मनीषी तथा सामान्य जन एक मत से पुत्रादि को ही आत्मा माने' सम्भवतः यही अध्यात्म चिन्तन के दर्शन के विकास की प्रथमावस्था कही जा सकती है। किन्तु स्थूलता तथा दूरी के क्रमा-

नुसार ही यहाँ अतिप्राकृतः (सबसे स्थूल होने के कारण) कहा गया है। कुछ टीकाकार मोटी बुद्धि वाले मनुष्य अर्थ करते हैं।

२. **स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्**—यह वचन पुत्रात्मवाद समर्थक है। अपने पुत्रों के प्रति मनुष्य अपनी ही भाँति प्रेम रखता है किन्तु कभी तो वह अपने से बढ़कर हो जाता है, इसी से मनुष्य स्वयं भूखा रहकर अपने पुत्रों को खिलाकर प्रसन्न होता है। इससे पुत्रों के प्रति चरम प्रेम सिद्ध हो जाता है तथा परम प्रेम का पात्र ही आत्मा होता है, इसलिये पुत्रादि को आत्मा कहा गया है।

"Three kinds of proofs are given above, viz, scriptural evidence, inference and directperception.' —निखिलानन्द

[१२३] तत्रारुन्धतीप्रदर्शनन्यायेन मुञ्जादिषीकाग्रहणन्यायेन वा प्रत्यञ्चं देहादिविविक्तंचिदेकतानमात्मानं दिदर्शयिषुरतिमूढमतेर्मतं तावदाह **अतिप्राकृत** इति। अतिप्राकृतस्तु पुत्र आत्मेति वदन्तीत्यन्वयः। कुत इत्यपेक्षायां श्रुतियुक्त्यनुभवाभासान् क्रमेण प्रमाणयति आत्मा वा इत्यादिना। सर्वास्मन्निवेति युक्तिकीर्तनं लोके हि पुत्रिण इष्टमिष्टं खाद्यादि स्वात्मवचनेनापि पुत्रेषु समर्पयन्तस्तेषु परमप्रेम कुर्वन्तस्तेषामात्मत्वमेव प्रकटयन्तीति भावः। पुत्रे नष्ट इत्याद्यनुभवोक्तिः॥

---

१२४. चार्वाकस्तु 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति।'

अनुवाद—चार्वाक मतानुयायी तो, 'वह पुरुष अन्न रस का विकार है इत्यादि श्रुतिवचनानुसार जलते हुए घर में से अपने पुत्र को छोड़कर अपने शरीर के बाहर निकल आने को देखकर 'मैं मोटा' 'मैं पतला' इत्यादि अनुभव के आधार पर स्थूल शरीर को आत्मा कहते हैं।

विद्योत्तमा—१ **चार्वाक**—भारतीय भौतिकवादियों को चार्वाक की संज्ञा दी गई है। उन्हें बृहस्पति का शिष्य भी कहा जाता है। ये आव्य को नहीं मानते। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार चिर धातु से व्युत्पन्न मानकर

खाना-पीना-मस्ती से रहना के उपदेष्टा लोगों को चार्वाक बताते हैं। पिटने के अनुसार (चारु + वाच्) जिनके वचन हमें मधुर प्रिय लगते हैं वे चार्वाक हैं।

२. **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः**—यह वाक्य पुत्रात्मवाद का खण्डन तथा स्थूलदेहात्मवाद का समर्थन करता है। अन्नरसमयः का अर्थ है–अन्नरस से उत्पन्न होकर उसी से धीरे-धीरे बढ़ने के कारण यह अन्नरस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पुरुष शब्द लोक में आत्मा के लिये तथा इस श्रुति वचन में अन्नरसमय देह के लिये प्रयुक्त हुआ है अतः स्थूल देह ही आत्मा है यह सिद्ध हो गया।

३. **प्रदीप्तगृहात्'''निर्गमदर्शनात्**—जलते हुए घर से अपने पुत्र को छोड़कर स्वयं निकल आने से अपने की अपेक्षा पुत्र के प्रति कम प्रेम दीख पड़ने से स्थूल शरीर ही आत्मा है यह प्रमाणित हो जाता है जैसा कि श्रुति-वचन भी है—'आत्मा वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।' (अर्थात् पुत्रों के प्रयोजनार्थ पुत्र प्रिय नहीं होते अपितु, अपने प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते हैं)। इसी प्रकार 'तदेतत्प्रियः पुत्रात्प्रेयी वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा।'

[१२४] मतान्तरमाह **चार्वाक** इति। स्थूलशरीरमात्मेति वदन्तीत्यन्वयः। अत्रापि श्रुत्यादि प्रमाणं वदन्प्रागुपन्यस्तपक्षे दूषणं सूचयति स वा एष इत्यादिना। एवमेवोत्तरेष्वपि पक्षेषु प्रमाणादिग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम्। स वै य ओषधीनां रेतोरूपेण परिणतानां परिणायः प्रसिद्ध एव प्रत्यक्षः पुरुषः शिरःपाण्याद्यात्मकोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारोऽन्नरसेनैवोपचीयमानत्वादिति श्रुतेरर्थः। इह पुरुषशब्दस्य लोक आत्मनि प्रयोगात्तस्य च श्रुतावन्नरसमये देहे प्रयुक्तत्वाद्देह आत्मेति गम्यत इत्यभिप्रायः। परमप्रेमगोचरत्वमात्मन्येव विश्रान्तमितस्य सर्वस्यापि तच्छेषत्वेनैव प्रियत्वात्।" तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" (बृह० १।४।८) इति श्रुतेश्च। सा च प्रीतिः पुत्रादपि देहेऽधिकतरा निरतिशया च दृष्टा। अन्यथा दह्यमाने गृहादौ हन्तृषु चोपस्थितेषु पुत्रं परित्यज्य स्वस्य पलायनानुपपत्तेरिति युक्त्यर्थः। अहम्प्रत्यय आत्मानमवगाहत इति सर्ववादिनामविवादः। स च कृशोऽहमित्यादिना देहावलम्बनोऽनुभूयतेऽतो देह एवात्मेत्यर्थः॥

१२२. अपरश्चार्वाकः 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयु' इत्यादि-श्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽह-मित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति॥

अनुवाद—अन्य (लोकायत) चार्वाक लोग 'वे प्राण (इन्द्रियाँ) प्रजापति के पास जाकर कहने लगीं' श्रुत्यानुसार इन्द्रियों का अभाव होने पर शरीर चलनाभाव होने से 'मैं काना' 'मैं बहिरा' इत्यादि अनुभूतियों के कारण इन्द्रियों को आत्मा कहते हैं।

विद्योत्तमा—१. तेल···अचुः—उपनिषदों तथा वेदान्त में 'प्राण' शब्द बहुर्थक है, लेकिन यहाँ प्रकरणवश इसका अर्थ इन्द्रिय है। वाक् आदि का प्रजापति के पास जाकर पूछने में इन्द्रियों का चेतनत्व परमावश्यक है, अतः यहाँ अर्थापत्ति से 'इन्द्रिय' ही उचित अर्थ है।

२. इन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्—प्रत्येक मनुष्य अपने को चेतन अनुभव करता है, अतः आत्मा अवश्य ही चेतन होगी। शरीर सुषुप्तिकाल में चेष्टाविहीन जड़ हो जाता है, अतः शरीर, आत्मा नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ ही चेतन हैं यह 'तेह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः' से विदित हो जाता है। साथ ही चैतन्य से होने वाली शारीरिक चेष्टा–इन्द्रियों के होने पर ही होती है तथा सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों के न होने पर बन्द हो जाती है अतः इन्द्रियों का चेतनत्व सिद्ध है।

३. काणोऽह······अनुभवाच्च—काना होना या बहिरा होना ये सब इन्द्रियों का धर्म है। लेकिन इन धर्मों को 'मैं काना हूँ' मैं बहिरा हूँ' आदि में 'मैं' (आत्मा) का धर्म माना जाता है अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा है, शरीर का आत्मा होना गौण है।

४. यहाँ सन्दर्भ में प्रस्तुत, विविध मत विचारों के बौद्धिक स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं। उनकी कोई समय सम्बन्धी पूर्वापरता नहीं है। अरुन्धती प्रदर्शन न्याय से—पहिले स्थूलवस्तु का दर्शन कराकर, फिर उसके आधार पर सूक्ष्म-वस्तु का दर्शन यहाँ कराया गया है। आचार्य शंकर कहते हैं—'यथारुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामसुख्यां प्रथमम् अरुन्धती इति ग्राहयित्वा तां प्रत्ययारन्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राह्यति तद्वत्'।

५. "The Charvakas, otherwise Called Sunyavadians or Lokayatikas were one of the ancient heretical sects of Hindus. Professor Wilson says of them that they condemned all ceremonial ritess, ridiculed even the Sraddha, and Called the authors of the Vedas foolse, knaves and buffoons."

६. Colebrooke, too, calls their doctrine "Undisguised materialism." According to this scholar, their principal tenets were (a) the identity of the soul with the body (b) the reaction of 'Akasa' as an element. (c) the acknowledgement of preception alone are a means of proof. —सर्वदर्शनसंग्रह

[१२५] लोकायतानां चार्वाकविशेषाणां मतभेदानाह **अपरश्चार्वाक** इत्यादिना बौद्धस्त्वित्ययः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। अन्वयादि पूर्ववत्। प्राणानां वागादीनां प्रजापति गमनं तं प्रति प्रश्नकरणं चाचेतनत्वे न सम्भवतीत्यनुपपत्त्या तेषां चैतन्यमवश्यम्भावीति श्रुतार्थापत्तिरिह मानं न श्रुतिरिवेति द्रष्टव्यम्। इन्द्रियाणामभावे उपरमे स्वापादौ देहचलनस्य चैतन्यकार्यस्यादर्शनात्तदनुपरमे च तद्दर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यामिन्द्रियाण्येव चेतनानि न देह इति निश्चीयते। न च तेषां करणत्वेनापि ज्ञानान्वयव्यतिरेकोपपत्तौ तदाश्रयत्वकल्पनमयुक्तमिति वाच्यमाश्रयसिद्ध्युत्तरकालीनत्वात्करणत्वकल्पनायास्तस्य चाश्रयत्वस्य देहेऽव्याप्यसिद्धेर्नान्यथोपपत्तिः। अत इन्द्रियाण्येवात्मनः करणत्वादेश्चाहमालम्बनत्वमबाधितम्। देहे तु मम प्रत्ययबाधितत्वाद्भाक्तमिति भावः।

---

१२६. अपरश्चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभाव इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति ॥

अनुवाद—अन्य (प्राणात्मवादी) चार्वाक जन 'आन्तरिक आत्मा (इनसे) अतिरिक्त प्राणमय है' इत्यादि श्रुतिकथनानुसार प्राणों का अभाव हो जाने पर इन्द्रियों के कार्य में असमर्थ हो जाने के कारण 'मैं भूखा', 'मैं प्यासा' इत्यादि अनुभव करके 'प्राण ही आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

१. **विद्योत्तमा—प्राणभाव इन्द्रियादि चलनायोगात्**—प्राण शब्द 'प्राण' के लिये आया है। इन्द्रियों की स्थिति प्राण पर आश्रित होने के कारण इन्द्रियाँ प्राण नहीं हो सकतीं। प्राण के क्षीण हो जाने पर, विद्यमान होने पर भी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं और प्राण के संचार होने पर वे पुनः अपने विषयों को ग्रहण करने लगती हैं इससे 'प्राण' ही आत्मा है।

२. **अहम् अशनायावान् अनुभवाच्च**—भूख तथा प्यास गणों के धर्म हैं, ये ही अहम् (आत्मा) को प्रतीत कराते हैं जैसा कि विद्वन्मनोरञ्जनी कहती है—'अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात्।' इसलिये प्राण ही आत्मा है। यह भूख और प्यास का अनुभव 'मैं भूखा हूँ' 'मैं प्यासा हूँ' आदि रूपों में प्राणों के आधार से ही है।

[१२६] मुख्यप्राणात्मवादिमतमुत्थापयति **अपर** इति। अन्योऽन्नमयादात्मन इति योजना। स चान्नमयादन्तरोऽभ्यन्तर इत्यर्थः। **प्राणाभावे** प्राणस्य स्वस्थितिनिबन्धनान्नाद्यलाभेन कृशीभावे सतीन्द्रियाणां विद्यमानानामपि स्वस्वविषये प्रवृत्त्यदर्शनात्सति च तस्मिन्पुष्टे तद्दर्शनात्प्राण एवात्मा न प्राणाधीनस्थितिकानीन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणां चैतन्यान्वयव्यतिरेकः करणत्वेनाप्युपपद्यत एव। तेषामेव कर्तृत्वे करणाभावप्रसङ्गः। किञ्चैकस्मिञ्छरीरे इन्द्रियाणां सम्भूय भोक्तृत्वं प्रत्येकं वा। द्वितीयेऽपि युगपत्क्रमेण वा। नाद्यः। रूपादौ चक्षुरादिभोग्ये जिह्वादीनां भोक्तृत्वादर्शनात्। न हि सम्भूयेन्द्रियाण्येकं कार्यं निर्वर्तयन्ति तेषां प्रतिनियतासाधारणविषयभेदस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। न द्वितीयः। उक्तेन प्रकारेण यौगपद्यासम्भवात्। प्रत्येकं क्रमेण भोक्तृणीन्द्रियाणीति तृतीयेऽपि पक्षे तेषां प्रत्येकं स्वातन्त्र्ये कदाचिदनैकमत्ये सति विरुद्धादिक्रियैस्तैरधिष्ठितं शरीरं विदीर्येत। अस्वातन्त्र्ये यदधीनत्वं तेषां तस्यैवात्मत्वं युक्तं स्वामिभृत्यन्यायस्य शरीरैक्येऽनुपपत्तेः। प्राण एव तु मुख्यः सर्वेषामिन्द्रियाणामाश्रय इति युक्तमतः स एवात्मा स्वापप्रबोधयोरविच्छिन्नस्वभावः। प्रत्येकमिन्द्रियाणामात्मत्वेऽन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेरिह च यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं स इदानीं गन्धं जिघ्रामीति प्रत्यभिज्ञा दृश्यते। तस्मान्नेन्द्रियाण्यात्मान इति भावः। अशनायापिपासयोश्च प्राणधर्मत्वं प्रसिद्धमन्नपानयोरलाभे प्राणविच्छेददर्शनात्। तादृग्धर्मकश्च प्राणोऽहम्प्रत्ययविषय इति प्राण आत्मेत्यनुभव इत्यर्थः॥

१२७. अन्यस्तु चार्वाकः 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं सङ्कल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति ॥

अनुवाद—अन्य (मनआत्मवादी) चार्वाक 'आन्तरिक आत्मा मनोमय है' इत्यादि श्रुति के अनुसार मन के सुप्त हो जाने पर प्राणादि का अभाव हो जाने से 'मैं सङ्कल्पवान् हूँ' 'मैं विकल्पवान् हूँ' इत्यादि अनुभव होने के कारण 'मन आत्मा है' ऐसा कहते हैं।

विद्योत्तमा—मनसि सुप्ते प्राणादेः अभावात्—सुषुप्ति अवस्था में मन के सो जाने पर प्राणादि का भी अभाव हो जाता है (ज्ञान नहीं रहता)। इस प्रकार मन के जागृत रहने पर प्राणादि की सत्ता की अनुभूति होती है। इस अन्वयव्यतिरेक से प्राणादि का अस्तित्व मन पर आश्रित होने के कारण 'मन' ही आत्मा है। विद्वन्मनोरञ्जनी भी इसकी व्याख्या करती है—'मनसि सुप्ते' विलीने प्राणादेरभावाद् दृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्यध्यारोपितत्वाद् इन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्योर्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः।' (मन ही आत्मा है)।

[१२७] मनआत्मवादिमतमुत्थापयति अन्यस्तु इति। प्राणमयादन्योऽन्तरआत्मेति यावत्। मनसि सुप्ते विलीने प्राणादेरभावाद्दृतिवच्छ्वासोच्छ्वासदर्शनस्य द्रष्टृदृष्यध्यारोपितत्वादिन्द्रियाभावेऽपि स्वप्नस्मृत्यार्मनसि सम्प्रतिपत्तेर्मन एवात्मेत्यर्थः। यद्वा प्राणदेरभावादिति तद्व्यापारोपरमे सुषुप्त्यादौ तस्याभावमुपचर्येदमुच्यते। तथा चेन्द्रियेषूपसंहृतव्यापारेषु प्राणे चोपसंहृतप्राणनापाननेतरवृत्तौ मनसैव केवलेन स्वप्नादेरुपलम्भान्मन एवात्मेत्यर्थः। मनसश्च सङ्कल्पादिधर्मवत्वं प्रसिद्धमित्यनुभवोक्तिः स्पष्टार्था।

—: ० :—

१२८. बौद्धस्तु 'अन्योऽन्तर आत्मा 'विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कर्त्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति ॥

अनुवाद—बौद्ध लोग 'आन्तरिक आत्मा विज्ञानमय है (बुद्धि है)' इत्यादि श्रुति के अनुसार कर्त्ता के अभाव होने पर करण की शक्ति का अभाव

हो जाने से 'मैं कर्त्ता' 'मैं भोक्ता' इत्यादि अनुभवों से 'बुद्धि आत्मा है' ऐसा कहते हैं। यह मत योगाचार मतावलम्बी विज्ञानवादियों का है।

विद्योत्तमा—कर्त्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावाद्—कुम्हार को कर्त्ता के अभाव में घट बनाने की सामर्थ्य नहीं प्राप्त होती उसी प्रकार अधिष्ठाता विज्ञान के बिना मनादि इन्द्रियों में चिन्तन आदि चेष्टा की सामर्थ्य नहीं हो सकती। मन तो कुम्हार के चाक के समान करण मात्र है, उसका प्रयोग कर्त्ता विज्ञान (कुम्हार के सदृश) है। यदि विज्ञान (कुम्हार) न हो तो मन (चाक) कुछ भी क्रिया (घट बनाने में) करने में समर्थ नहीं हो सकता अतः वही कर्त्ता विज्ञान आत्मा है।

[१२८] योगाचारमतमुत्थापयति बौद्धस्तु इति। मनोमयादन्योऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा विज्ञानमयः क्षणिकविज्ञानमय इति बौद्धाभिप्रायः। बुद्धिः क्षणिकविज्ञानमात्मेत्यत्रानुभवमाह अहं कर्तेति। मनस एव कर्तृत्वं स्यात्किंविज्ञानेनेत्याशङ्क्य मनसः करणपक्षपातित्वान्न कर्त्रनुभवगोचरत्वमित्यभिप्रेत्य युक्तिमाह कर्तुरभाव इति। मनसः कर्तृत्वे सर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयैर्युगपत्सम्बन्धे युगपज्ज्ञानोदयप्रसङ्गः कर्तुर्मनसः सर्वैरिन्द्रियैरधिष्ठातृत्वेन युगपत्सन्निहितत्वादपेक्षणीयान्तरानभ्युपगमाच्च। न चैवं दृश्यते तस्मान्मनसोऽन्यः कर्ता। मनस्तु विज्ञानक्रमहेतुः साधारणं करणमेवेत्यर्थः। एवं वेदबाह्यवादानुपन्यस्य विज्ञानमयकोशपर्यन्तमात्मनः प्रत्यक्त्वमवगमितम्। न च क्षणिकविज्ञानस्यैवात्मत्वमध्यवसातुं शक्यं ज्ञानेच्छाप्रयत्नसंस्कारस्मृतीनामेकाश्रयत्वनियमात्तेषां च क्रमिकत्वात्क्षणिकविज्ञानाश्रयत्वानुपपत्तेः। ज्ञानादीनामेकाश्रयत्वाभावे तु वस्तुनि दृष्टे पूर्वदृष्टसजातीयत्वादिलिङ्गवशादिष्टसाधनताद्यनुमानपूर्वकं प्रवृत्त्याद्यभावः प्रसज्येत। अन्यदृष्टेऽन्यस्मरणानुपपत्तेः। उक्तं च न्यायकुसुमाञ्जलौ—

"नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्।
वासनासंक्रमो नास्ति न च मत्यन्तरं स्थिरे॥" इति।

---

१२९. प्रभाकरतार्किकौ तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽनन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः।

अनुवाद—प्रभाकर (मीमांसक) और तार्किक लोग 'आन्तरिक आत्मा आनन्दमय है' इत्यादि श्रुतिवचनानुसार बुद्धि आदि का अज्ञान में लीन

होना देखकर 'मैं अज्ञानी हूँ' 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अनुभवों के बल पर 'अज्ञान आत्मा है' ऐसा बताते हैं।

विद्योत्तमा—बुद्ध्यादीनाम्'''अनुभवात्—सुषुप्तिकाल में बुद्धि आदि को अज्ञान रूप आत्मा में विलय दर्शन होने के कारण अज्ञान ही आत्मा है। मन एवं इन्द्रियों के विश्रान्त हो जाने पर किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता अतः उस अवस्था में आत्मा स्वगुणमुक्त होता है। इस भाँति प्रभाकर तथा तर्किकों के मतानुसार उस काल में वह ज्ञान हो ही नहीं सकता यह सिद्ध है। 'मैं अज्ञानी हूँ' 'मैं ज्ञानी हूँ' इनसे यह विदित हो जाता है कि आत्मा में ज्ञान की स्थिति और अज्ञान का अभाव होता ही रहता है। इससे बौद्धों का विज्ञान को आत्मा मानना खण्डित हो जाता है तथा ये तार्किक और प्रभाकर आनन्द को मानते हैं।

[१२९] क्षणिकपक्षे बन्धमोक्षयोरपि वैयधिकरण्यमित्यादिबहुदुष्टत्वादनादरणीयः क्षणिकविज्ञानात्मपक्ष इत्यभिप्रेत्य वेदवादिपक्षमाश्रित्य विज्ञानादप्यन्तरमात्मानं निर्दिधारयिषुस्तावत्तत्रापि स्थूलदर्शिमतभेदमाह प्राभाकर० इत्यादिना। प्राभाकर तार्किकावज्ञानमात्मेति वदत इत्यन्वयः अज्ञानं क्षणिकविज्ञानादन्यत्तदधिकरणं द्रव्यरूपमात्मतत्वमितिवदत इत्यर्थः। विज्ञानमयादप्यन्तरे आत्मनि श्रुतिं प्रमाणयति अन्योऽन्तर आत्मेति। विज्ञानमयादानन्दमयोऽन्य इति यावत्। न चानन्दमयः परमात्मेति त्वम्पदार्थमध्ये न तस्योदाहरणं युक्तमिति वाच्यमन्नमयादिविकारप्रायपठितमयट्श्रुतिविरोधात्प्रियशिरस्त्वादिवचनविरोधाच्च। एतच्च भाष्यकारैः "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।१२) इत्यस्मिन्नधिकरणे निर्णीतम्। तस्माद्युक्तमेव त्वम्पदार्थमध्य आनन्दमयश्रुत्युदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। सुषुप्तौ बुद्ध्यादीनां ज्ञानसुखदुःखेच्छादीनामज्ञाने ज्ञानभिन्न आत्मनि लयदर्शनादभावदर्शनान्न ज्ञानमात्मेति युक्तिमाह बुद्ध्यादीनामिति। सर्वज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ सम्प्रतिपन्नत्वात्सुषुप्तिजागरितयोरप्यात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानान्न ज्ञानमात्मा किन्तु तदन्य एवेति भावः। अनुभवमाह अहमज्ञ इति। अहमज्ञो ज्ञानहीनोऽहं ज्ञानी ज्ञानवानित्यनुभवोऽपि ज्ञानात्मनोर्धर्मधर्मिभावेन भेदं द्रढयतीत्यर्थः॥

---

१३०. भाट्टस्तु 'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यं आत्मेति वदति॥

अनुवाद—कुमारिलभट्टानुयायी 'प्रज्ञानघन और आनन्दमय आत्मा है' इत्यादि के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में प्रकाशाप्रकाश दोनों के सद्भाव के कारण मैं अपने को नहीं जानता इत्यादि अनुभवों के कारण अज्ञानोपाधियुक्त चैतन्य को आत्मा कहते हैं।

विद्योत्तमा—१. भाट्टाः—मीमांसाशास्त्र के दो विख्याताचार्य हुए कुमारिल भट्ट और प्रभाकर। प्रभाकर का मत पहले दिया जा चुका है। भाट्ट से तात्पर्य यहाँ कुमारिल भट्ट आचार्य के मतानुयायी लोगों से है।

२. प्रज्ञानघन एवानन्दमयः—'आनन्दमय' का अर्थ है 'आनन्दप्रचुर'। इस श्रुतिवाक्य का भाष्य शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं—'स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव। एव-शब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यार्थः मनसो विषयविषयताकारस्पन्द-नायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव।'

अर्थात् स्वप्न और जाग्रत अवस्था में होने वाले मन के स्पन्द प्रज्ञान हैं, वे जिस अवस्था में घनीभूत जैसे हो जाते हैं, वह सुषुप्ति की अवस्था अविवेकी होने के कारण प्रज्ञानघन कही जाती है। जैसे रात में अन्धकारवश सारी चीजें अविभज्यमान लगती हैं तथा सब कुछ घनीभूत प्रतीत होता है उसी भाँति यह सुषुप्ति 'प्रज्ञानघन' अवस्था है। उस समय प्रज्ञानातिरिक्त अन्यजा-तीय वस्तु नहीं रहती है इसलिये मन का विषयविषयीभाव से स्फुरणायासदुःख का अवस्था में अभाव होने से यह प्राज्ञ 'आनन्दमय' (आनन्द प्रचुर) है 'आनन्द' ही नहीं है। अतः आत्मा का ज्ञानाज्ञानरूप होना प्रमाणित होता है।

३. सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावात्—सुषुप्तिकाल में ज्ञान और अज्ञान उभय विद्यमान होने से आत्मा में भी ज्ञानाज्ञान दोनों का ही अस्तित्व रहता है। सुषुप्ति में ज्ञानास्तित्व का कारण है सुषुप्ति में उठने के बाद 'मैं खूब अच्छी तरह सोया' यह अनुभव सुषुप्तिकाल में अनुभव प्राप्त ज्ञान का ही विमर्शमात्र है। इसी के साथ ही साथ 'ऐसा सोया कि कुछ जान भी नहीं सका' में अज्ञानास्तित्व स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार सुषुप्ति में प्रकाशज्ञान तथा अप्रकाशज्ञान दोनों का अस्तित्व स्पष्टरूपेण प्रमाणित है।

[१३०] मतान्तरमाह भाट्ट इति । भाट्टस्त्वज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदतीत्यन्वयः । अज्ञानोपहितत्वमज्ञानसंवलितत्वं ज्ञानाज्ञानरूपत्वं तदपि द्रव्यबोधरूपत्वमिति यावत् । तत्र माण्डूक्यश्रुतिं प्रमाणयति प्रज्ञानघन इति । प्रज्ञानघनः प्रज्ञानैकरसः । एवकारेण रसान्तरसम्बन्धं वारयति । आनन्दमय इत्यानन्दप्रचुरो नानन्दविकारः । प्राचुर्यार्थे मयट् (पाणि० ५।४।२१) अन्तनिर्देशादीषदानन्दस्वभावतापि द्रव्यांशकृतात्मनि गम्यत इति भावः । युक्तिमाह सुषुप्ताविति । सुषुप्तौ प्रकाशाभावे सुषुप्तिरसाक्षिकेति सुखमहमस्वाप्समित्युत्थितस्य परामर्शो न स्यान्न तदेन्द्रियमनसां व्यापारोऽस्ति येन तज्जन्यज्ञानेनापि तत्परामर्शः स्यात् । नाप्यविद्या प्रकाशिका जडत्वात् । परिशेषादात्मैव बोधांशः प्रकाशक इति प्रकाशसद्भावसिद्धिः । न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शादात्मन्येव सुषुप्तावशेषविज्ञानाभाववत्त्वमपि कल्प्यतेऽतस्तत्राप्रकाशो द्रव्यांश्चास्तीति भावः । ननु सुषुप्तावेवात्मनो ज्ञानाज्ञानरूपत्वं नावस्थान्तर इत्याशङ्कामनुभवाभिनयेन प्रत्याचष्टे मामहमिति । अहमित्यात्मनि कर्तरि भासमानेऽपि मां न जानामीत्यनुपसंहृतविशेषस्य तस्यैव कर्मत्वमपि तस्मिन्नेव ज्ञाने भासत इत्यवस्थान्तरेऽपि द्व्यात्मक आत्मेत्यभिप्रायः । ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेऽपि न ततोऽत्यन्तभेदस्तादात्म्याङ्गीकारात् । समवायस्य च समवायिभ्यां सह सम्बद्धत्वासम्बद्धत्वविकल्पासहत्वेनाप्रामाणिकत्वादिति भावः ॥

---

१३१. अपरो बौद्धः 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभावाच्च शून्यमात्मेति वदति ॥

अनुवाद—दूसरे (माध्यमिक मतावलम्बी) बौद्ध 'पूर्व में असत् ही था' इत्यादि श्रुति-कथनानुसार सुषुप्ति अवस्था में सबका अभाव होने से 'मैं सुषुप्ति अवस्था में न था' उठने पर ऐसा निजाभावपरामर्शविषयक अनुभव होने से शून्य को आत्मा कहते हैं ।

विद्योत्तमा—१. 'शून्यमात्माति वदति—माध्यमिकमतावलम्बी बौद्ध आत्मा की सत्ता में विश्वास नहीं करते । वे इसका लक्षण पूछे जाने पर शून्य कोटि बताते हैं । शून्य अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का सर्वथाभाव तदनुसार आत्मा सबका अभावरूप है ।

२. **अहं सुषुप्तौ नासम्**—अपनी सत्ता का भी भान न कराने वाली सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार की अनुभूति न होने से आत्मा के अभाव का ही निश्चय किया जाता है।

३. **असदेवेदमग्र आसीत्**—इसके बाद वाले श्रुतिवाक्य के द्वारा (ऐसा कैसे हो सकता है) भला 'असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है' इस वाक्य के द्वारा इस पूर्व मत का निषेध हो जाता है किन्तु बौद्ध जन ने इस वाक्य से अपना स्वार्थ सिद्ध करके बिना पूर्वापर को सोचे उसे झट से सिद्धान्तरूपेण उद्धृत कर दिया लेकिन श्रुतियों का यह मत कदापि अभिमत नहीं है।

'The Bouddhas are said by Brahmanical controversialists to have been divided into four sects, styled Madhyamikas, Yogacharas, Sautrantnikas and Vaibhashikas. Those referred to in the text would be the fist two.' —Jacob.

[१३१] माध्यमिकमतमुत्थापति अपरो बौद्ध इति। इदं नामरूपात्मकं जगदग्रे सृष्टेः प्राक्कालेऽसच्छून्यमेवासीदिति बौद्धाभिप्रायेण श्रुतेरर्थः। युक्तिमाह सुषुप्ताविति। तामेव स्वानुभवोपन्यासेन द्रढयति अहमिति। अतः शून्यमात्मा सर्वाभावरूपो न द्रव्यबोधात्मक इति भावः॥

---

१३२. एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते॥

अनुवाद—इन पुत्रादियों (पुत्रादि से लेकर शून्य पर्यन्त सब) में अनात्मत्व (आत्मा न होना) प्रतिपादित किया जा रहा है।

विद्योत्तमा—एतेषां···उच्यते—इस आत्मत्व अंश के प्रदर्शन का प्रयोजन है पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त किसी का भी वास्तविक आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। इनमें पहले पहले के मत उत्तर उत्तर के मतवादियों के द्वारा खण्डित किये गये हैं। प्रत्येक वादी द्वारा पूर्वोक्त मत खण्डित किया गया है। अन्तिम शून्यात्मवाद को वेदान्तमत से खण्डित किया गया है।

उपर्युक्त बौद्धों के चारों वाद हिन्दु-दर्शन में समय-समय पर विद्यमान थे, किन्तु यह कहना कठिन है कि वेदान्तसार में कहे गये बौद्ध सिद्धान्त बौद्धों ने कहाँ और कब प्रतिपादित किये। बौद्धों का तो सिद्धान्त है कि आत्मा है ही नहीं। राइस, डेविड्स का कथन है—

'Budha repeatedly, denies that there is any self or ego,'

१३३. एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु, पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव ॥

अनुवाद—इन अतिसाधारण लोगों द्वारा उदाहरणस्वरूप कहे गये श्रुतिवचनों, युक्तियों तथा अनुभवाभासों में पूर्वपूर्वोक्त श्रुतियों, युक्तियों व अनुभवाभासों को उत्तरोत्तर श्रुतिवचनों, युक्तियों एवं अनुभवाभासों द्वारा पुत्रादियों का आत्मत्व (आत्मा होना) बाधित हो जाने से पुत्रादिकों का आत्मा न होना स्पष्ट ही है।

विद्योत्तमा—एतै···स्पष्टमेव—इन लोगों ने अपने मतों को प्रमाणित करने के लिये जिन श्रुतियों को उद्धृत किया है वे उन अर्थों में नहीं उद्धृत की गई हैं जो उनको अभीष्ट है अतः वे श्रुतियाँ श्रुतियों की प्रतीतिमात्र हैं तथा जो इन्होंने युक्ति दी है वे भी हेत्वाभासादि से दूषित होने के कारण युक्त्याभास तथा उनके द्वारा दिया गया अनुभव भी एकाङ्गी होने से अनुभवाभास है, अतः श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभवाभास से पुत्रादि का आत्मा होना प्रमाणित नहीं हो सकता है।

[१३२–३३] एवं प्रत्यगात्मत्वाधिष्ठानं मतभेदेनोपन्यस्त दूषयितुमारभते एतेषां इति। तत्र तावत्पूर्वपूर्ववादिमतमुत्तरोत्तरवादिमतेन दूषितमिति। पुत्रादि शून्यपर्यन्तस्यानात्मत्वं तैरेव वादिभिः स्फुटीकृतमित्याह एतैरिति।

---

१३४. किञ्च प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्य्यन्तस्य जडस्य चैतन्यभास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखिलमनात्मैव ॥

अनुवाद—और 'आन्तरिक आत्मा अस्थूल, अचक्षुर, अप्राण, अमना, अकर्त्ता, चैतन्य प्रकाशस्वरूप नित्य हैं' इत्यादि प्रबल श्रुतियों के विरोधी होने के कारण पुत्रादि से शून्य पर्यन्त सबके जड़ तथा चैतन्याभासमात्र होने से घटादि के

सदृश अनित्य होने के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' विद्वानों के अनुभव के प्राबल्य से तथा उन-उन श्रुतिवचनों, युक्तियों व अनुभवाभासों से बाधित होने के कारण पुत्रादि से शून्यपर्यन्त सब आत्मा नहीं हैं, अपितु प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है।

पुत्रादि के आत्मत्व में साधक श्रुतियों के साथ-साथ इनके आत्मत्व में बाधक श्रुतियों का विवरण निम्नलिखित है—

साधकश्रुतियाँ	बाधकश्रुतियाँ
१—आत्मा वै जायते पुत्रः। (कौशी० उ० २।११)	१—कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत। (कठ० उ० ४।१)
२—स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तै० उ० २।१।१)	२—अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्। (बृह० उ० ३।८।८)
३—ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः। (छा० उ० ५।१।७)	३—अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। (मुण्ड० उ० १।१।६)
४—अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। (तै० उ० २।३।१) अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।	४—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। (मुण्ड० उ० २।१।२)
५—अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। (तै० उ० २।४।१)	५—अनन्तश्च आत्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता। (श्वेत० उ० १।९)
६—अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। (तै० उ० २।५।१) प्रज्ञानघन एवानन्दमयः	६—न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम्। (कै० उ० २१) चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।
७—असदेवेदमग्र आसीत्। (छा० उ० ६।२।१)	७—सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। (छा० उ० ६।२।१)

विद्योत्तमा—कुछ श्रुतियों के अनुसार पुत्रादि आत्मा है, कुछ श्रुतियाँ इनका विरोध करती हैं। इसलिये पुत्रादि की आत्मा होना की बाधक श्रुतियाँ ही प्रामाणिक हैं तथा पुत्रादि की आत्मत्वसमर्थक श्रुतियाँ प्रामाणिक नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुतियाँ वेदवाक्य हैं, वेदवाक्य अप्रामाणिक हो

ही नहीं सकता तो इसका समाधान यह है कि पुत्रादि की आत्मत्वसाधक श्रुतियाँ अप्रामाणिक हैं ऐसा नहीं बल्कि 'अस्थूलम् , अमना, अकर्त्ता' आदि श्रुतियों के विरोध से उनका स्वार्थ से कोई तात्पर्य नहीं बल्कि स्थूलारुन्धती न्याय से पूर्व श्रुतियों के निराकरण द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु के अवगत कराने में उनका तात्पर्य है। अरुन्धती अतिसूक्ष्म तारा है उसे जो नहीं पहचानता उसको इतने तारागणों में यह पहचानना सामान्य बात नहीं इसलिये उसके लिये युक्ति बताते हैं कि पहले उस व्यक्ति को चन्द्रमा दिखाकर उससे कहते हैं कि यही अरुन्धती है इसके बाद कहते हैं कि चन्द्रमा का निकटवर्ती तारा अरुन्धती है फिर कहते हैं कि उस (तारे) से भिन्न किन्तु उसके समीप के सात तारों को अरुन्धती कहते हैं। तत्पश्चात् उन सातों में से तीन को अरुन्धती कहकर उन तीनों में से बीच वाले को अरुन्धती कहकर उनमें भी अतिसूक्ष्म तारे को अरुन्धती कहकर पहचनवाते हैं। यहाँ अरुन्धती को समझाने के लिये चार वाक्यों को आधार बनाते हैं—

(१) तारा (२) सात तारे (३) तीन तारे (४) तीनों में बीच वाला तारा। लेकिन पारस्परिक विरोधी अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण वे सब अप्रामाणिक नहीं होते क्योंकि समझाने वाले की समझने की सामर्थ्यानुसार सोपान (सीढ़ी) आरोहण न्याय से उत्तरोत्तर समझाये जाने पर पूर्व-पूर्व का परित्याग करके फिर सबका तात्पर्य अरुन्धती प्रतिपादन में ही संकलित हुआ है। ठीक इसी प्रकार वेदान्त में भी 'अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः, आनन्दमयः, विज्ञानमयः, आत्मा' आदि परस्पर विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादक वाक्य उद्धृत किये गये हैं, लेकिन समझने वाले की सामर्थ्यानुसार क्रमशः पूर्व पूर्व का परित्याग करके उत्तरोत्तर परम सूक्ष्म ब्रह्म का प्रतिपादन ही सबका अभीष्ट है। अतः सभी वेदवाक्य साक्षात् रूप से अथवा परम्परा से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन कर्त्ता होने के कारण सभी प्रामाण्य है कोई विरुद्ध नहीं। अतः यह सिद्ध होता है कि देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि इत्यादि से विलक्षण आत्मा कर्मफलों को भोगता है और विशुद्ध चैतन्य इससे भिन्न है। किन्तु उसके साथ इस जीव आत्मा (कर्मफल भोक्ता) की एकता है यथा—(१) 'एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।' (२) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'

इस प्रकार का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन स्वरूप वह आत्मा स्वयं प्रकाशस्वरूप है—घटादि जड़ पदार्थों के प्रकाशन के लिये प्रकाश आवश्यक है पर आत्मा के चेतन होने के कारण इसको प्रकाशित करने के लिये कोई भी प्रकाश आपेक्षित नहीं है।

[१३४] ननु कथं वावदूकविवाददर्शनमात्रेण पुत्रादीनां शून्यपर्यन्तानामनात्मत्वमवधारयितुं शक्यते श्रुतियुक्त्यनुभवानां प्रत्येकमुपन्यस्तत्वादित्याशङ्क्य सत्यमुपन्यस्तास्तैः श्रुत्यादयः किन्तु ते सर्व एवाभासाः पुत्रादिशून्यपर्यन्तातिरिक्तप्रत्यगात्मस्वरूपसमर्पकप्रबलश्रुतियुक्त्यनुभवविरोधादित्याह किञ्चेति। न केवलं परस्परविगीतत्वादेव पुत्रादीनामनात्मत्वं किन्तु प्रबलश्रुत्यादिभिः पूर्वेषां श्रुत्यादीनां बाधितत्वादपीति योजना। तत्र "आत्मा वै पुत्रनामासि" इतिश्रुतेः प्रत्यक्श्रुत्या बाधः। प्रत्यक्त्वं नाम सर्वान्तरत्वम्। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय" इतिश्रुतेरस्थूलश्रुत्याबाधः। "ते ह प्राणाः प्रजापतिं" इत्यादिश्रुतिसामर्थ्यसिद्धेन्द्रियात्मत्वस्याचक्षुरित्यादिनाबाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" "अन्योऽन्तर आत्मा मनोमय" इत्यनयोरप्राणोऽमना इत्याभ्यां बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय" इत्यस्याः श्रुतेरकर्तेत्यनेन बाधः। "अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय" इत्यस्याश्चैतन्यमित्यनेन बाधः। "प्रज्ञानघन एवानन्दमय" इत्यस्याश्चिन्मात्रमित्यनेन बाधः। "असदेवेद" इत्यस्याः सदित्यनेन बाध इति प्रत्येकं योजनीयम्। अत्रोदाहृतश्रुतीनामित्थमक्षरविन्यासाः क्रमेण द्रष्टव्याः। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" (कठ० ४।१)। "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृह० ३।८।८)। "अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्" (मुण्ड० १।१।६) "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (२।१।२)। "अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता" (श्वेता० १।९)। 'न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्" (कैवल्य० २१)। "चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः" (कैवल्य १८)। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१)। "सत्यं स आत्मा" (छा० ६।८।७) इति। आदिशब्दात् "एष स आत्मा सर्वान्तरः" (बृह० ३।४।१) "अशरीरं शरीरेषु" (कठ० २।२२) "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः" (बृह० ४।४।१८) "केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः" (केन १) "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० २।४।१) "न करोति न लिप्यते" (गीता १३।३१) "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" (श्वेता०

६।११) "कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृह० ४।५।१३) "सन्तमेनं ततो विदुः" (तैत्ति० २।६।१) इत्याद्याः श्रुतयः संगृह्यन्ते ॥

इदमत्रानुसन्धेयम् । पुत्रात्मश्रुतिस्तु देहावलम्बिनीति तस्या गौणार्थत्वं स्पष्टमेव । "ते ह प्राणा" इतिश्रुतिरर्थवादत्वान्न स्वार्थपरा । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तश्रुतेर्मुञ्जादिषीकावत्सर्वान्तरब्रह्मपुच्छशब्दवाच्यात्मप्रतिपत्त्युपायार्थत्वेनोपन्यस्तत्वान्न तस्याः स्वार्थपरत्वम् । प्रत्यगादीनां सिद्धान्त्युपन्यस्तश्रुतिवचनानां तु वक्ष्यमाणोपक्रमादिलिङ्गैरात्मयाथात्म्यपरत्वमिति युक्तं प्राबल्यमिति ॥

पुत्रादिशून्यपर्यन्तं न नित्यं जडत्वाद्घटादिवत् । नित्यश्चात्मा तदनित्यत्वेऽकृताभ्यागमकृतविनाशप्रसङ्गात् । अतो न पुत्रादीनामात्मत्वमिति युक्तिमाह अस्य इति । जडत्वमुपपादयति **चैतन्यभास्यत्वेन** इति । न चात्मनोऽपि चैतन्यभास्यत्वं कर्मकर्तृभावविरोधात् । कर्तृत्वं हि क्रियां प्रति गुणभावः कर्मत्वं तु प्राधान्यम् । तथा चैकस्यां क्रियायामेकस्यात्मनो युगपद्विरुद्धधर्माश्रयत्वे वैरूप्यप्रसङ्गः । नापि ज्ञानाश्रयत्वेनात्मनो भावं सम्भवति ज्ञानभिन्नस्य ज्ञानकर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमात् । नापि नित्यानुमेयोऽसंदिग्धत्वात् । न हि कदाचिदात्मन्यहमस्मि नास्मि चेति संदेहः कस्यचिद्दृश्यते । परिशेषात्स्वयम्प्रकाश इति न तस्य चैतन्यभास्यता । श्रुतयश्च भवन्ति स्वप्रकाशसाधिकाः परप्रकाश्यतामनुमानविरोधिन्यः । "न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृह० ३।४।२) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृह० २।४।१४) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" (केन ३) "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृह० ४।३।९) "आत्मैवास्य ज्योतिः (बृह० ४।३।६) "अप्राप्य मनसा सह" (तैत्ति० २।४।१) "यन्मनसा न मनुते" (केन ५) इत्येवमाद्याः ॥

ननु न चायमात्माणुपरिमाणवांस्तथा सति सकलशरीरव्यापिचैतन्यानुपलम्भप्रसङ्गात् । नापि मध्यमपरिमाणो मध्यमपरिमाणवतः सावयवत्वेनानित्यत्वप्रसङ्गात् "एवं चात्माकार्त्स्न्यं" (ब्रह्मसूत्र २।२।३४) इतिन्यायनिरस्तत्वाच्च । नापि परममहत्परिमाणउत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिविरोधात् । अतः किम्परिमाणोऽयं प्रत्यगात्मेति । उच्यते । स्वतस्तावदखण्डब्रह्मात्मस्वभावत्वात् "स वा एष महानज आत्मा" (बृह० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेश्च परममहत्परिमाण एव । ब्रह्मात्मस्वभावत्वं चास्य प्रवेशश्रुतिभ्यः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तैत्ति०

२।६।१)। "स एवमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० ३।१२) "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" (बृह० १।४।७) "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० ६।३।२) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" (तैत्ति० आ० ३।१२।७) "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" (तैत्ति० आ० ३।१४।१) "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः सपक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" (बृह० २।५।१८) "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (बृह० १९) "अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" (कठ० ५।९) इत्येवमादिभ्यः।

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि......" (गीता १३।२)

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" ॥ (गीता १०।२०)

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" ॥ (गीता १५।७)

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। संसारित्वावस्थायामेव तस्योपाधिनिबन्धनं परिच्छिन्नपरिमाणम्। तच्च यथोपाध्यनुरूपत्वादनियतम्। तथा च दर्शयति श्रुतिः ॥

"अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः"।

"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" ॥ (श्वेता० ५।८)

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः..........." ॥ (श्वेता० ५।९)

"नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।

यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते" ॥ (श्वेता० ५।१०)

इत्यादि वचनैः। "स च प्रतिशरीरमभिन्न एव" "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" (तैत्ति० आ० ३।१४।१) "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋग्वेद १।१६४।४९) "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋग्वेद १०।११४।५) "त्वमेकोऽसि बहुतनुप्रविष्टः" (तैत्ति० आ० ३।१४।३) "इन्द्रस्यात्मानं शतधा चरन्तम्" (तैत्ति० आ० ३।११।५) "एकः सन्बहुधा विचारः" (तैत्ति० आ० ३।११।१) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। तस्माद्देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यव्याकृतविलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुः सद्रूपः प्रत्यगात्मेति निश्चितोऽर्थः।

अनुभवप्राबल्यं दर्शयति अहं इति। "तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" (बृह० १।४।७) इत्युपक्रम्य प्राणाद्यात्मविज्ञानमकृत्स्न-

विषयतादोषेण निन्दित्वात्ते तु "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्वं एकं भवन्ति" (बृह० १।४।७) इतिकृत्स्नात्मस्वभावं वेदितव्यं निर्दिश्य "तदेतत्पदनीयस्य सर्वस्य यदयमात्मा" (बृह० १।४।७) इति तदतिरिक्तस्य ज्ञातव्यस्यानवशेषं दर्शयन्ती श्रुतिस्तद्विज्ञानवत एव विद्वत्तां सूचयति। तथोत्तरत्रापि "तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेत्" (बृह० १।४।९) इति च विद्वदनुभवत्वं ब्रह्मात्मज्ञानस्य दर्शयति। अत इतोऽर्वाक्षु देशेषु प्रत्यगात्मत्वाभिमानो भ्रान्तिरिति भावः।

१३५. अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः॥

अनुवाद—इसलिये तत्तत् वस्तुओं का प्रकाशक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, आन्तरिक चैतन्य ही आत्मा है जो वस्तु (यथार्थ) है, ऐसी वेदान्त विद्वानों की अनुभूति है।

विद्योत्तमा—१. शुद्ध—जन्म-बुढ़ापा-मरण आदि दुःखों से रहित—असंसारी। बन्धनों से विहीन मुक्त जीवात्मा का स्वरूप ही है। संसार की अवस्था में वह अज्ञानवश अपने को बन्धन-युक्त समझता है। जैसा कि—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि। संसारमाया परिवर्जितो असि।' आदि मनदालसा ने अपने बेटे सन्ध्या से कहा था।

२. बुद्ध—अपनी सत्ता को अभिव्यक्त करने के लिये किसी भी प्रकार के प्रकाश की जो अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वतः प्रकाशक बुद्ध है।

३. आत्मचैतन्य (शुद्ध चैतन्य नहीं) तीनों अवस्थाओं और पाँचों कोशों में उपलब्ध होता है। तीनों शरीरों (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) के व्यष्टि अभिमानी चैतन्य को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राण कहते हैं। इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी चैतन्य को विराट् (वैश्वानर), हिरण्यगर्भ (सूत्रात्मा) और ईश्वर कहते हैं। तुरीय चैतन्य (नित्यशुद्ध आत्मचैतन्य) इन सभी से परे है।

[१३५] प्रत्यगात्मविषयाध्यारोपमुपसंहरति अत इति। वेदान्तविद्वदनुभव इति विशेषणेन मतान्तरेऽनुभवस्य मूलप्रमाणशैथिल्यम् सूचयति।

१३६. एवमध्यारोपः ॥

अनुवाद—यही अध्यारोप है।

विद्योत्तमा—वस्तु (यथार्थ) तत्व के स्वरूप को माया की आवरण शक्ति के प्रभाव से न देखकर और विक्षेप शक्ति के प्रभाव से उसी वस्तु को भिन्न २ रूपों में समझना ही अध्यारोप है और यही अध्यास भी कहा जाता है।

[१३६] अध्यारोपप्रकरणमुपसंहरति एवमिति।

अपवाद-विवेचन—

१३७. अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् ॥

अनुवाद—(किसी सत्य) वस्तु में अज्ञानवश (असत्य) अवस्तु का अध्यारोप कर अज्ञानादि प्रपञ्च कारण अवस्तु न बनकर वस्तु मात्र में स्थान अपवाद है, जैसे रस्सी में साँप का मिथ्यारोप होने पर उसे दूर कर रस्सी का ज्ञान कराना (अपवाद) है।

विद्योत्तमा—१. अपवादः—किसी भी अयथार्थ (अवस्तु) के पीछे गुप्त वस्तु को बताना अपवाद है! बालबोधिनीकार आपदेव के अनुसार 'अवस्तुभूत (अज्ञानादिमिथ्या प्रपञ्च) का वस्तु (ब्रह्म) रूप से कथन अपवाद है।'— 'अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्मना निर्देशः।' विद्वन्मनोरञ्जनी के अनुसार–'कार्यस्य कारणमात्रसत्ताविशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्य असत्तावधारणं वापवादः।' तात्पर्य है कि समस्त कार्य-समूह का कारण में लय करके कारण मात्र की सत्ता को अवशिष्ट रखना अपवाद है या समस्त कार्यसमूह की कारण रूप से व्यतिरिक्त (भिन्न) कोई भी सत्ता नहीं है ऐसा अवधारण (निश्चय करना) अपवाद है।

२. रज्जुविवर्तस्य···वस्तुमात्रत्वम्—जैसे जब रस्सी अपने स्वरूप को छोड़े बिना ही सर्प के आकार की प्रतीत होने लगती है तो वह सर्पाकृति रस्सी की विवर्त कहलाती है—उस रस्सी रूप विवर्त्त सर्पाकृति का अधिष्ठानभूत रस्सीमात्र रूप में रह जाना उसका अपवाद है, वैसे ही चैतन्य के विर्वतरूप अज्ञानादिप्रपञ्च का अधिष्ठान रूप चैतन्यमात्र के रूप में रह जाना ही उसका अपवाद है।

---

१३८. तदुक्तम्--

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥ इति ॥

अनुवाद—यही बात निम्न कारिका में इस प्रकार कही गयी है—

'कोई वस्तु अपने रूप को त्यागकर किसी अन्य रूप का ग्रहण करती है तो विकारभाव कहलाती है। किसी वस्तु में अपने रूप के परित्याग के बिना दूसरी वस्तु का मिथ्याभास होना विवर्त कहलाता है।

विद्योत्तमा—सतत्त्वतः—इति।...पूर्वोक्त मिथ्याप्रतीति दो प्रकार से होती है (१) परिणाम या विकारभाव (२) विवर्तभाव। जब कोई वस्तु अपने स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे रूप को ग्रहण कर लेती है तो उसे परिणाम या विकारभाव कहते हैं जैसे दूध का दही रूप में परिवर्तित हो जाना विकार अथवा परिणामभाव है। किसी वस्तु में स्वरूप को न छोड़ते हुए दूसरी वस्तु की मिथ्या प्रतीति होना विवर्तभाव है। जैसे रस्सी का स्वस्वरूपापरित्यागपूर्वक साँप रूप में मिथ्या प्रतीति होना विवर्त है।

[१३७-३८] एवमध्यारोपं सप्रपञ्चं निरूप्यापवादमिदानीं निरूपयिष्यंस्तल्लक्षणमाह **अपवादो नाम** इति। कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद इत्युक्तं भवति। एवं लक्षणोऽपवादः केन क्रमेणेत्यपेक्षायां "विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च" इति न्यायमाश्रित्य (ब्रह्मसूत्र २।३।१४) उत्पत्तिक्रमवैपरीत्येनापवादं क्रमेण दर्शयति तथा हीत्यादिना।

---

१३९. तथाहि एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति ॥

अनुवाद—अतः ये भोगों के भोक्ता, चारों प्रकार के सब स्थूल शरीर समुदाय और खाये हुए अन्नपानादि तथा इनके आधारभूत भूः, भुवः आदि चौदह लोक, उन लोकों का आधारभूत ब्रह्माण्ड—ये सब अपने कारणरूप पञ्चीकृत महाभूतों में विलीन हो जाते हैं।

विद्योत्तमा—१. एतद् भोगायतनम्—सुख एवं दुःख की अनुभूति ही योग है और उस सुखदुःखानुभवानुभूति भोग का स्थान भोगायतन कहलाता है। इस भोग की उपलब्धि स्थूलादि शरीरों में ही होती है, इसी से वे स्थूलादि शरीर भोगायतन कहलाते हैं।

२. चतुर्विधसकलशरीरजातं—पूर्वप्रसङ्ग में देखिये।

३. चतुर्दशभुवन—पूर्वप्रसङ्ग में देखिये।

[१३९] **एतद्भोगायतनं** इति प्रत्यक्षसिद्धं चतुर्विधभूतग्रामं चरमकार्यमङ्गुल्या निर्दिशति। द्वितीय एतच्छब्दोऽन्नादिविषयः। आदिशब्दः पानादिसङ्ग्रहार्थः। भूरादिचतुर्दशभुवनानि तृतीयैतच्छब्दार्थः। एतत्सर्वमित्यत्रैतच्छब्द उक्त समस्तसङ्ग्रहार्थः। एतेषामित्यस्यापि स एवार्थः। उत्पत्तिव्युत्क्रमेणेत्यस्यायमर्थः। पृथिवी गन्धतन्मात्रात्मिका रसतन्मात्रात्मिकाम्मात्रं भवति। आपश्च ता रूपतन्मात्रात्मकतेजोमात्रं भवन्ति। तच्च तेजः स्पर्शतन्मात्रात्मकवायुमात्रं भवति। स च वायुः शब्दतन्मात्रात्मकाकाशमात्रं भवति। स चाकाशः स्वकारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवतीति।

एतदाधारेत्यत्रैतच्छब्दोऽज्ञान तदुपहितचैतन्यविषयः। एतदाधारेत्यादिब्रह्मान्तानां पदानां कर्मधारयः। तथा च स्मृतिश्रुतीभवतः।

"जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते" इति (महाभा० १२)
"पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इति च॥ (कठ०३।११)

---

१४०. एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति॥

अनुवाद—ये शब्दादि विषयों से युक्त पञ्चीकृत भूत, सप्तदशावयव सूक्ष्म शरीर समुदाय ये सब अपने कारणरूप अपञ्चीकृत भूतमात्रों में ही विलीन हो जाते हैं।

---

१४१. एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेण तत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति ॥

अनुवाद—ये सत्त्वादिगुणसम्पन्न अपञ्चीकृत महाभूत भी उत्पत्ति के उल्टे क्रम से अपने कारण अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्यमात्र में विलीन हो जाते हैं तथा तन्मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं।

विद्योत्तमा–उत्पत्तिव्युत्क्रमेण—पञ्चभूतों की उत्पत्ति का जो क्रम कहा गया है उसके विपरीत क्रम से। इसका विपरीत क्रम पृथिवी आदि का परब्रह्म में विलीन हो जाना महाभारत में उल्लिखित है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे, पृथिव्याप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते, ज्योतिर्वायौ प्रलीयते।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चा व्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्किले सम्प्रलीयते॥ शां० पर्व।

अर्थात् पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में विलीन हो जाता है और आकाश अव्यक्त (मायाशक्ति में) लय हो जाता है तथा अव्यक्त निष्फल (निरंश) पुरुष (ब्रह्म) में लीन हो जाता है।

---

१४२. एतदज्ञानमज्ञानोपहितं चैतन्यञ्चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥

अनुवाद—यह अज्ञानोपाधि से उपहित चैतन्य और ईश्वरादि, अपनी उत्पत्ति के आश्रयभूत उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य तुरीय ब्रह्ममात्र हो जाते हैं। (ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं)।

---

१४३. अभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति ॥

अनुवाद—इन दोनों अध्यारोपापवादों से तत् तथा त्वम् पदों का तात्पर्य भी स्पष्टीकृत हो जाता है।

विद्योत्तमा—आभ्याम्— भवति !—(इस भाँति) अध्यारोप तथा अवापद से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाने पर कि सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सब नामरूपात्मक जगत् है। तो 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में

तत् (परब्रह्म शुद्ध चैतन्य) और त्वम् (व्यष्टिस्वरूप अज्ञानोपाधियुक्त चैतन्य) का तात्पर्य भी स्वयं ही विदित हो जाता है ! तात्पर्य यह है कि अज्ञान एवं कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल की समष्टि तथा उसकी उपाधियुक्त चैतन्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट ईश्वर, सूत्रात्मा और वैश्वानर चैतन्य तथा इनकी उपाधि से उपहित चैतन्य (तुरीय चैतन्य) इन सबका तप्तायः पिण्ड के समान एक रूप से अवभासित होना 'तत्' पद का वाच्यार्थ तथा अज्ञानोपहित ईश्वर चैतन्य का आधारस्वरूप जो उपाधि शून्य चैतन्य है उसका अज्ञान तथा उससे आच्छन्न ईश्वर चैतन्य से अलग होकर भिन्न-भिन्न प्रकाशित होना 'तत्पद' का लक्ष्यार्थ है। इसी भाँति अभेद विवक्षा रूप से प्रकाशित होना त्वम् पद का वाच्यार्थ और व्यष्टिगताज्ञानादि और उसकी उपाधियुक्त जीव चैतन्य और इनके आधारस्वरूप उपाधिशून्य प्रत्यगात्मा तुरीय चैतन्य इन सबका भेद विवक्षा में अलग-अलग प्रतीत होना 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है।

अध्यारोपापवादनिरूपणे फलितमाह **आभ्यां** इति।

[१४३] अध्यारोपापवादनिरूपणे फलितमाह **आभ्यां** इति। ब्रह्मात्मचैतन्यस्याद्वितीयप्रत्यग्रूपतानिरूपणार्थत्वादध्यारोपादिप्रपञ्चनस्य पदार्थशुद्धिरवान्तर फलमितिसूचयितुं **पदार्थशोधनमपि** इत्युक्तम्।

---

१४४. तथाहि। अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति।

अनुवाद—वह इस भाँति है—अज्ञानादि समष्टि (तथा) इससे उपहित सर्वज्ञ होने के कारण विशिष्ट चैतन्य एवं उसकी उपाधि से रहित शुद्ध चैतन्य ये तीनों तपे हुए लौहखण्ड के तुल्य एकसा अवभासित होने के कारण 'तत्' पद का वाच्यार्थ (अभिधा से प्राप्त अर्थ) होता है।

[१४४] तत्त्वम्पदयोः प्रत्येकं द्विविधोऽर्थो वाच्यो लक्ष्यश्चेति। तदुभयं विभज्य दर्शयति **तथाहीत्यादिना**। समष्ट्यज्ञानं तदुपहित ईश्वरस्तदुभयाश्रयमनुपहितं स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितमक्षरशब्दवाच्यं चिन्मात्रमित्येतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदविविक्तं तत्पदवाच्यार्थ इत्यर्थः। आदिपदात्समष्टिहिरण्यगर्भविराजौ

गृह्येते। तत्राज्ञानादिव्यष्टिरित्यत्रादिपदात्सूक्ष्मशरीरं स्थूलंशरीरंगृह्यते। एतदनुपहितं प्रत्यक्चितिमात्रम्। शेषं पूर्ववत्। उभयत्रापि यथायोगमव्याकृतं समष्टिस्वप्नजागरौ सुषुप्तिर्व्यष्टिस्वप्नजागरौ चेत्येवमवस्थात्रययुक्तमिति योजयितव्यम्।

---

१४५. एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति॥

अनुवाद—इस उपाधि से युक्त—उसका आश्रयभूत उपाधिरहित चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ (लक्षणा से प्राप्य अर्थ) होता है।

विद्योत्तमा—तत्पदलक्ष्यार्थः—अज्ञान रूप समष्टि और उस अज्ञान से आवृत् ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा वैश्वानर चैतन्य तथा इससे उपाधिशून्य जो अक्षर (अविनाशी) चिन्मात्र ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही हैं यह 'तत्' पद का वाच्यार्थ होने पर अज्ञान और उसके कार्यरूप समस्त प्रपञ्च को सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदात्री ईश्वरादि चैतन्य की आधारस्वरूपा जो चेतन एवं आनन्दरूप उपाधिशून्य चैतम्य वस्तु है वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

[१४५] अज्ञानतत्कार्यसमस्तप्रपञ्चेषु सत्तास्फूर्तिप्रदत्वे नानुस्यूतं चित्सदानन्दाद्वयात्मकं वस्तु तत्पदलक्ष्यार्थः।

---

१४६. अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहितात्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायः पिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति॥

अनुवाद—अज्ञानादि की व्यष्टि, उसकी उपाधि से सम्पन्न, अल्पज्ञ होना आदि विशेषणों से विशिष्ट चैतन्य (जीव) तथा उसकी उपाधि से शून्य—ये तीनों तपे हुए लौहपिण्ड के समान एक प्रतीत होने के कारण 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ (अभिधा से प्राप्त) होते हैं।

विद्योत्तमा—त्वम्पदवाच्यार्थः—व्यष्टिगत अज्ञान और उस अज्ञान से आवृत अल्पज्ञता आदि विशिष्ट जो प्राज्ञ—तैजस और विश्वचैतन्य और इनका आधारस्वरूप जो उपाधिरहित चैतन्य है ये तीनों तप्तायः पिण्ड के समान एक ही हैं। यह 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है।

---

१४७. एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति ॥

अनुवाद—यह उपाधि (तथा) उससे उपहित का आश्रयभूत उपाधि-रहित (शुद्ध चैतन्य) आन्तरिकात्मानन्दरूप तुरीय चैतन्य 'त्वम्' का (लक्षणा द्वारा प्राप्त) लक्ष्यार्थ होता है ।

विद्योत्तमा—त्वम्पदलक्ष्यार्थः—'अज्ञान आदि उपाधियों से युक्त प्राज्ञ—तैजसविश्व तथा इनका अधारस्वरूप जो उपाधिविहीन प्रत्यगानन्द तुरीय चैतन्य ये पृथक् हैं, यह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ है (लक्षणा से प्राप्त अर्थ है)।

[१४७] देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणाहङ्कृतितद्धर्मजाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाभ्योविलक्षणस्तत्साक्षी चिद्धातुस्त्वम्पदलक्ष्यार्थ इत्याह एतदुपाध्युपहितेति ॥

महावाक्यार्थ वर्णन—

१४८. अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते । इदं तत्त्वमसीति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति ॥

अनुवाद—अब महावाक्यार्थ का वर्णन किया जा रहा है । यह 'तत्त्वमसि' (वह तू है) वाक्य तीन सम्बन्धों के द्वारा अखण्डैकार्थबोधक होता है ।

विद्योत्तमा—१. महावाक्यार्थः—प्रायः चार महावाक्य बताये गये हैं । चार वेदों से एक-एक महावाक्य गृहीत है । ये हैं—(१) प्रज्ञानं ब्रह्म (२) अहं ब्रह्मास्मि (३) तत्त्वमसि (४) अयमात्मा ब्रह्म । इनमें से 'तत्त्वमसि' महावाक्य साक्षादुपदेश होने के कारण विद्वानों के मध्य बड़ा विख्यात है। वेदान्त में प्रायः इसी का व्याख्यान किया गया है । महावाक्य विवरण नामक ग्रन्थ में ११ वाक्य दिये गये हैं, यद्यपि १२ महावाक्यों के देने की प्रतिज्ञा की गई है।

२. अखण्डार्थ—जिसमें किसी भी दशा में अंश-अंशीभाव आदि सम्बन्ध प्रायः नहीं उठते वह निर्गुण ब्रह्म अखण्डार्थ है। जो स्वगत सजातीय एवं विजातीय भेदशून्य होने के कारण माया तथा उसके कार्यों से सर्वथा सम्बन्ध रहित है वह निर्गुण ब्रह्म इस अखण्डार्थ का तात्पर्य है ।

३. पूर्वकथित पंक्तियों में तत् और त्वम् पदों का अर्थ बतलाया गया है। क्योंकि किसी भी वाक्य के अर्थ को जानने के लिए पहिले पदों का अर्थज्ञान आवश्यक होता है । अब तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ बतलाते हैं ।

[१४८] पदार्थप्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेरादावध्यारोपापवादाभ्यामवान्तरवाक्यावष्टम्भेन पदार्थं परिशोध्येदानीं महावाक्यार्थं निरूपयितुमुपक्रमते अथ इति । वाक्याद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिक्रममादौ सङ्गृह्णाति इदमिति ।

---

१४९. सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः प्रत्यगात्मलक्षणयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति ॥

अनुवाद—पदों समानाधिकरण्य, पदों के अर्थों में विशेषण विशेष्यभाव तथा आन्तरिक आत्मलक्षण पदों अथवा पदार्थों में लक्ष्यलक्षणभाव—ये तीन सम्बन्ध हैं।

[१४९] उक्तमेव विभजते **सम्बन्धत्रयं नाम** इति ।

---

१५०. तदुक्तम्—

> 'सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता ।
> लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्' इति ॥

अनुवाद—कहा भी गया है—

आन्तरिक आत्मा (के) पदों एवं उनके अर्थों में समानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव तथा लक्ष्यलक्षणभाव (ये) तीन सम्बन्ध हैं। 'नैष्कर्म्यसिद्धि।'

[१५०] उक्ते विभागे नैष्कर्म्यसिद्धिवचनं संवादयति तदुक्तमिति । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्धः सामानाधिकरण्यमिति ॥

---

१५१. सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं शब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः । तथा च तत्त्वमसीति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः ॥

अनुवाद—जैसे 'यह वही देवदत्त है' इस वाक्यरचना में तत्कालविशिष्ट (अतीत कालवर्ती) विशिष्ट देवदत्तबोधक 'स' (वह) इस पद का तथा

एतत्कालविशिष्ट (वर्तमान कालस्थिति) देवदत्त के वाचक 'अय' (यह) शब्द का इस पिण्ड में तात्पर्य बोधक होता है, वैसे ही 'वह तू है' (तत्त्वमसि) इस वाक्य में भी परोक्षादि होने के कारण तथा विशिष्ट चैतन्य का अवभासक 'तत्' (वह) पद का व अपरोक्षतादियुक्त विशिष्ट चैतन्य ज्ञापक 'त्वम्' (तू) पद का एक ही चैतन्य में तात्पर्यावबोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विद्योत्तमा—सामानाधिकरण्यम्—पृथक्-पृथक् अर्थ वाले पदों का एक अर्थ में तात्पर्यावबोध कराने वाला सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'तत्' पद का तत्कालतद्देशविशिष्ट भूत अर्थ है तथा अयं शब्द का एतत्काल एतद्देश विशिष्ट रूप अर्थ है, इन दोनों पदों का देवदत्त पिण्ड रूप एक ही अर्थ द्योतन करना तात्पर्य है, इसलिये इस अर्थ का अवबोधक सम्बन्ध सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' पद का परोक्षत्वसर्वज्ञता आदि विशिष्ट रूप अर्थ है और 'त्वम्' पद का अपरोक्षता किञ्चिज्ज्ञत्व आदि विशिष्ट भूत अर्थ है तथा इन दोनों पदों का एक ही चैतन्य रूप अर्थ को बोधित करना अभीष्ट है इसलिये तात्पर्य का अवबोधक सम्बन्ध समानाधिकरण्य सम्बन्ध हुआ। इस भाँति तत् तथा त्वम् दोनों पद एक ही अखण्डार्थ ब्रह्म को प्रतिपादित करते हैं।

[१५१] समानाधिकरण्यलक्षणमभिप्रेत्य तस्योदाहरणं तत्त्वम्पदयोरनुवर्तयति **सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावत्** इति। तत्कालोऽतीतकालः। एतत्कालो वर्तमानकालः। परोक्षत्वादीत्यादिशब्दान्नियन्तृत्वादिग्रहः। अपरोक्षत्वादीत्यादिपदान्नियम्यत्वादिग्रहः॥

———

१५२. विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु तथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः॥

अनुवाद--जैसे उसी वाक्य में ('यह वह देवदत्त है' में) तत्कालवर्ती विशिष्ट देवदत्त के बोधक 'तद्' पद का एवं एतत् (वर्तमान) कालस्थित विशिष्ट देवदत्त का परस्पर भेदाभाव होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। उसी भाँति यहाँ भी 'तत्त्वमसि' (वह तू है) वाक्य में ('तद' शब्द का अर्थ परोक्षतादि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्ष होने के कारण विशिष्ट चैतन्य में और परस्पर अभिन्न होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव है।

विद्योत्तमा—विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः—'सोऽयं देवदत्तः' में 'अयं' शब्द वाच्य जो यह एतत्काल, एतद्देश विशिष्ट देवदत्त है वह 'सः' इस तत् शब्द-वाच्य तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त पिण्ड से इतर नहीं है जब इस भाँति बोध होता है तो तत् शब्द इदं का विशेषण है और इदं तत् का विशेष्य है अतः 'यह वही देवदत्त है' इस भाँति बोध होता है तथा तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त से अन्य देवदत्त की व्यापृति हो जाती है। ऐसे ही तत् शब्द वाच्य तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त इदं शब्द वाच्य एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त से भिन्न नहीं तो अयं सः का विशेषण और सः विशेष्य है इसलिये परस्पर भेद व्यावर्त्तक होने से 'सः एवायम्' 'अयमेव सः' इस प्रकार सः तथा अयम् दोनों एक दूसरे के विशेषण विशेष्य होकर विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से देवदत्त पिण्डरूप एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं। इसी भाँति तत्त्वमसि में त्वम् पद वाच्य अपरोक्षता किञ्चिज्ज्ञतादि विशिष्ट चैतन्य वह 'तत्' पद वाच्य सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्य से अलग न होने के कारण विशेषण तथा 'त्वम्' पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। 'त्वम्' पदार्थ तत्पदार्थनिष्ठ भेद व्यावर्तक होने के कारण विशेषण तथा तत्पदार्थ व्यावर्त्य होने के कारण विशेष्य है। इस विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से तत् तथा त्वम् ये दोनों पद चैतन्यरूप एकार्थ बोधक होने के कारण 'वही तू' 'तू ही वह' ऐसी प्रतीति कराते हैं।

[१९२] व्यवच्छेदकं विशेषणं व्यवच्छेद्यं विशेष्यं तयोर्भावो विशेषणविशेष्यभावः। स एव सम्बन्धः सम्बन्धवदुभयनिरूपणीयत्वादित्यभिप्रेत्य विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धं सदृष्टान्तमाह **विशेषण** इति। सोऽयम्पदार्थयोर्मध्ये कस्य वा विशेषणता कस्य वा विशेष्यता किं तद्विशेषणकृत्यमित्यपेक्षायां द्वयोरपि पदार्थयोः

परम्परापेक्षया विशेषणविशेष्यभावो भेदभ्रमापोहश्च विशेषणकृत्यमित्यभिप्रेत्याह **अन्योन्यभेदव्यावर्तकतयेति** ॥

अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तिर्लक्षणा। सा त्रिविधा जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। वाच्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनि वृत्तिरजहल्लक्षणा। वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा।

---

१५३. लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः॥

अनुवाद—जैसे 'यह वह देवदत्त है' वाक्य में 'स' (वह) पद तथा उनके पदार्थों में एक दूसरे से विरुद्ध तत् और एतत् कालवर्ती वैशिष्ट्य को छोड़कर सदृश देवदत्त के अंश के तात्पर्य को बोधित करता है वह लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध हैं। उसी भाँति इस 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी तत् एवं त्वम् शब्दों तथा उनके अभिप्रायों में परस्पर विरोध परोक्षत्वापरोक्षत्वादि की विशिष्टता को छोड़कर विरोधी चैतन्य का ज्ञापनकर्त्ता ही लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।

विद्योत्तमा—लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धः—'सोऽयं देवदत्तः' में तत्काल तद्देश विशिष्ट और एतत्काल एतद्देशविशिष्ट विरुद्धार्थ परित्याग द्वारा 'सः' और 'अयं' शब्द अविरुद्ध देवदत्तताविशिष्ट देवदत्त पिण्ड के साथ साथ देवदत्तत्व विशिष्ट देवदत्त शब्द को लक्षित करते हैं अतः इनका लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाच्य में 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों या पदार्थों का सर्वज्ञता अल्पज्ञतादिरूप विरुद्ध भाग छोड़ देने से अखण्ड चैतन्य के साथ पारस्परिक लक्ष्यलक्षणभाव संगत होता है अर्थात् तत् और त्वम् पद लक्षण हैं और अखण्ड चैतन्य लक्ष्य है। अतः लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध है।

[१५३] तत्र प्रकृतवाक्ये लक्ष्यलक्षणसम्बन्धं सोदाहरणमाह **लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध** इति। पदवाच्यार्थयोः परस्परविरुद्धत्वान्नान्योऽन्यं विशेषण-

विशेष्यभाव उपपद्यते । तथा च तत्समर्पकयोरपिपदयोः सामानाधिकरण्यवशात्प्रतीयमानस्यैकवाक्यार्थस्यानुपपत्तिरिति लक्षणायां प्रसक्तायां वक्ष्यमाणप्रकारेण जहदजहल्लक्षणयोः प्रकृतासङ्गतौ पदवाच्यगतविरुद्धांशप्रहाणेनाविरुद्धांशलक्षणया सामानाधिकरण्ये सतिवाक्यादखण्डार्थप्रतिपत्तिरिति भावः ।

---

१५४. इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते ॥

अनुवाद—यही भागलक्षणा कही जाती है ।

विद्योत्तमा--भागलक्षणा—इसी पूर्वोक्त लक्ष्यलक्षणभाव को भागलक्षणा भी कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय स्थलों (तत्त्वमस्यादि वाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा) में जो भागलक्षणा के द्वारा चैतन्यावबोध कराया गया है, वह इसी का दूसरा नाम मात्र है । इसी को जहदजहल्लक्षणा भी कहते हैं अर्थात् कुछ भाग त्याग दिया जाय तथा कुछ अंश ग्रहण कर लिया जाय वह जहदजहल्लक्षणा । (भागलक्षणा) कहलाती है । 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' शब्द का सर्वज्ञतादि विशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है, 'त्वम्' शब्द का अल्पज्ञतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थ है । इन दोनों के विरोधी भागों सर्वज्ञत्व तथा अल्पज्ञत्व आदिभूत भाग को छोड़कर चैतन्य भाग मात्र का ग्रहण होता है तभी 'तत्' और 'त्वम्' दोनों एक उपखण्ड (अविपरीत) चैतन्य को बोधित करते हैं । विद्वन्मनोरंजनी में लक्षणा का वर्णन निम्नलिखित है—

लक्षणा तीन प्रकार की होती है (१) जहद् लक्षणा (२) अजहद् लक्षणा (३) जहदजहल्लक्षणा (भागलक्षणा) । क्रमशः इनकी परिभाषायें और उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) वाच्यार्थम् अशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिः जहद् लक्षणा यथा 'गंगायाम् घोषः' (लक्षणलक्षणा) ।

(२) वाच्यार्थ परित्यागेन तत्सम्बन्धिनिवृत्तिः अजहद् लक्षणा । यथा "शोणो धावति" (उपादान लक्षणा) ।

(३) वाच्यार्थैक देशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिः जहदजहल्लक्षणा । यथा—तत्वमसि' सोऽयम् देवदत्तः (भाग लक्षणा) ।

वाचस्पत्यम् तथा वेदान्तपरिभाषा में भी इन लक्षणाओं का विशद् विवेचन है । पञ्चदशी भी कहती है—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥

[१५४] अंशान्तरपरित्यागेनांशान्तरलक्षणायाः शास्त्रप्रसिद्धां संज्ञां सङ्गिरत इयमेवेति । जहदजहल्लक्षणेदंशब्दार्थः । अयं भावः । तत्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं तावच्छ्रूयते न तत्तयोर्भिन्नार्थत्वे सम्भवति स्तम्भकुम्भपदयोस्तददर्शनात् । नाप्येकार्थाभिधायकत्वेन वैश्वदेव्यामिक्षेतिवत्तद्धितादेरेकार्थसमर्पकस्य कारणस्येहादर्शनात् । तथाहुः ।

"आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः ।
आमिक्षापदसान्निध्यात्तस्यैव विषयार्पणम्" ॥ इति ।

(तन्त्रवार्तिक २।३।२३)

परिशेषादेकार्थलक्षकत्वेनैवेति ॥

---

१५५. अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते ॥

अनुवाद—इस वाक्य में (तत्त्वमसि में) 'नीलमुत्पलम्' (नीला कमल) इस वाक्य के सदृश वाक्य का अर्थ (विशेषणविशेष्यभाव) नहीं हो सकता ।

[१५५] ननु तत्वम्पदयोः सामानाधिकरण्यं विनापि लक्षणयैकार्थ्यमुपपत्स्यते नीलमुत्पलमितिवदित्याशङ्क्याह **अस्मिन्** इति । अखण्डार्थत्वस्य विवक्षितत्वादित्यभिसन्धिः ।

---

१५६. तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते ॥

अनुवाद—वहाँ पर (नीलमुत्पलम् वाक्य में) 'नील' शब्द का अर्थ नीला गुण एवं 'उत्पल' शब्द का अर्थ उत्पलद्रव्य है (इन दोनों का शुक्लीभावादि) (गुणों) तथा वस्त्रादि (द्रव्यों) से भिन्न होने के कारण एक दूसरे का विशेषणविशेष्यभावरूप संसर्ग (जो 'नील' गुण विशिष्ट है वही उत्पल है इस भाँति) इन दोनों का विशिष्ट वाक्यार्थ अभिन्न है इस

विषय में संसर्ग वाक्यार्थत्व को स्वीकार (करने) में दूसरे प्रमाणों (प्रत्यक्षानुमानादि) से विरोधाभाव आ जाने से वाक्यार्थ ठीक (संगत) है।

[१५६] ननु नीलोत्पलवाक्येऽपि स्यादखण्डार्थता नेत्याह तत्रेति। शौक्ल्यादिव्यावर्तकनीलगुणस्य पदादिव्यावर्तकोत्पलद्रव्यस्य च गुणगुणिभावेन विरोधाभावात्तत्संसर्गैक्यस्य वा तदन्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य वा वाक्यार्थत्वान्नाखण्डार्थत्वं मुख्यैक्यस्य तत्राविवक्षितत्वादित्यर्थः।

---

१५७. अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते।

अनुवाद—यहाँ पर 'तत्' शब्द का अर्थ परोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य एवं 'त्वम्' पद का अर्थ अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य का, अन्योन्याश्रय भेद के परस्पर पार्थक्य का कारण होने से, विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध से दूसरे (नीलमुत्पलम्) वाक्य के ऐक्य तथा वाक्यार्थ के स्वीकार होने पर प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाणों के विरोध होने के कारण वाक्यार्थ सम्भव नहीं हो सकता।

---

१५८. तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

अन्वय—अत्र (महावाक्ये) संसर्गः वा विशिष्टः वा वाक्यार्थः न सम्मतः विदुषाम् अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थः मतः (अस्ति)।

शब्दार्थ—अत्र = तत्वमसि इस महावाक्य में, संसर्ग = भेदरूपसंसर्ग (सम्बन्ध), वा = अथवा विशिष्टः अभेदरूपसंसर्ग (सम्बन्ध) वाक्यार्थः = अभिधावृत्ति से ज्ञात होने वाला वाच्यार्थ, न सम्मतः = इष्ट नहीं है। अखण्डैकरसत्वेन = भेदरहित आनन्दस्वरूप वस्तुमात्र के रूप में, वाक्यार्थः = लक्षणाश्रय से उत्पन्न स्वगतादिभेदरहित ही वाक्यार्थ, मतः = इष्ट है।

अनुवाद—वह कथित है—

(तत्त्वमसि वाक्य में) संसर्ग अथवा विशेषणविशेष्यभाव से वाक्यार्थ सम्मत नहीं है। विद्वत्वर्ग के अनुसार 'अखण्डैकरस' (यह महावाक्य तत्त्वमसि ब्रह्म का बोधक) अभिन्न ही वाक्यार्थ है। 'पंचदशी।'

[१५७–५८] प्रकृतवाक्ये नीलोत्पलवाक्याद्वैषम्यमाह अत्र तु इति। यद्यपि तत्त्वम्पदार्थयोः स्वरूपतो न प्रत्यक्षत्वं तत्पदार्थस्याद्वितीयत्वात्त्वम्पदार्थस्य च द्रष्टृत्वाद्द्रष्टुर्दृश्यत्वानुपपत्तेस्तथा च तद्भेदस्याप्यप्रत्यक्षता तथापि तत्त्वम्पदयोः परोक्षापरोक्षार्थाधिगतसङ्गत्योः श्रवणसमयेऽपरिशोधितपदार्थस्य पुंसो भवति विरोधस्फूर्तिरिति तदपेक्षया प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधादित्युक्तम्। तथा च तत्त्वम्पदयोः शबलांशे व्युत्पन्नयोर्विरुद्धार्थविषयकत्वेनैक्यनिष्ठत्वाभावान्न विवक्षितं सामानाधिकरण्यमुपपद्यत इति भावः। एतदुक्तं भवति। न तावत्तत्त्वमर्थयोर्नीलोत्पलवद्गुणगुणिभाव उभयोरपि द्रव्यत्वात्। नापि कुण्डलसुवर्णवत्कार्यकारणभावो नित्यत्वादविकृतत्वाच्च। नापि भूम्यूषरादिवदंशांशिभावो निरवयवत्वात्। नापि क्रियातद्वद्भावो बाणादिवन्निष्क्रियत्वात्। नापि गोत्वशाबलेयादिवज्जातिव्यक्तिभावो द्रव्यत्वादेव। अत एव न विशेषविशेषिभावोऽपि। वस्तुतस्तु विज्ञानघनमात्रत्वावधारणान्नेति नेतीत्यशेषविशेषप्रत्याख्यानेन निर्धर्मकत्वावधारणाच्च न केनापि प्रकारेण तत्त्वमस्यादिवाक्यानां संसृष्टार्थनिष्ठत्वशङ्कावकाशं लभते। न चेदं वाक्यं त्वमिन्द्रोऽसीतिवत्स्तुतिपरं नवकृत्वोऽभ्यासवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न हि स्तुतिः पुनः पुनः परिचोदनापूर्वकं क्वचिदभ्यस्यते। अत एव नार्थवादोऽनन्यशेषत्वाच्च। न ह्यस्मिन्प्रकरणेऽन्यत्किञ्चित्प्रधानवाक्यमुपलभ्यते यच्छेषत्वेनेदमर्थवादरूपं भवेत्। नापि राज पुरुषे राजायमितिवदौपचारिकमप्रमितभेदयोरैक्यस्यौपचारिकत्वानुपपत्तेः। नापि विपर्ययः संशयो वात्र सम्भवति श्रुतेः स्वतःप्रामाण्यात्। तस्मात्तत्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठमकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणवाक्यत्वात्सोऽयं देवदत्त इति वाक्यवदिति। तदेवं पदयोरखण्डार्थनिष्ठत्वेन सामानाधिकरण्यं वाच्यार्थांशे विरोधाद्विना लक्षणां न सङ्गच्छत इत्युक्तम्॥

---

१५९. अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति' वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते॥

अनुवाद—यहाँ पर 'गङ्गा में घोष है' (गङ्गायाम् घोषः प्रतिवसति) वाक्य के समान जहल्लक्षणा द्वारा भी वाक्यार्थ सम्मत नहीं है।

विद्योत्तमा–जहल्लक्षणा०–शब्द की अर्थ–साक्षात्शक्ति अभिधा कहलाती है तथा अभिधा से ज्ञातार्थ अभिधेय या वाच्यार्थ कहा जाता है लेकिन वाक्यस्थित पदों से जब मुख्य वाच्यार्थ असम्भव होता है तो उनका युक्तियुक्त अर्थ जिस शब्दशक्ति से किया जाता है वह लक्षणा कहलाती है। अभिधा के अर्थ में अड़चन पड़ने पर ही यह लक्षणा होती है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ में अभिधेयार्थ का योग रहता है, और कभी नहीं भी रहता है। इसी आधार पर लक्षणा तीन प्रकार की कही गई है। जिसमें अभिधेयार्थ का अभाव रहता है वह जहल्लक्षणा, जिसमें अभिधेयार्थ का अभाव नहीं रहता है वह अजहल्लक्षणा तथा जिसमें दोनों अर्थात् अभिधेयार्थ के कुछ अंश का रहना तथा कुछ अंश का न रहना होता है, जहदजहल्लक्षणा होती है।

[१५९] तत्रभागलक्षणामेव परिशेषयितुं लक्षणान्तरं व्युदस्यति अत्र इत्यादिना।

---

१६०. तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो-विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते॥

अनुवाद—वहाँ पर तो, गङ्गा तथा घोष के आधाराधेय भाव का लक्षण होने के कारण, सम्पूर्ण वाक्यार्थ के विरुद्ध होने के कारण, सम्पूर्ण वाक्यार्थ को परित्यक्त कर उससे (गङ्गा शब्द से) सम्बन्धित तटविषयगत अर्थ लक्षणा से युक्त होने के कारण जहल्लक्षणा उचित है।

विद्योत्तमा—'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में 'गङ्गायाम्' पद का अभिधेयार्थ है—गङ्गा की धार में और 'घोषः' का अर्थ अहीरों का गाँव है। अतः वाक्यार्थ हुआ—गङ्गा की धार में अहीरों का गाँव स्थित है। यह वाक्यार्थ पूर्ण रूप से विरुद्ध होने के कारण असङ्गत है क्योंकि आज तक नदी की धार में किसी ने बसा हुआ गाँव नहीं देखा। बड़ी नाव पर एक-दो घर बनाये जा सकते हैं किन्तु पूरा गाँव नहीं और वहती हुयी गङ्गा की धार में नहीं। इसलिये गङ्गा तथा घोष का आधाराधेय सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ खण्डित हो जाता है। इस अवस्था में 'गङ्गायाम्' पद के वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग

पूर्वक उससे सम्बद्ध 'गङ्गातट' में लक्षणा उचित जान पड़ती है। अतः गङ्गायाम् का लक्ष्यार्थ 'गङ्गातटे' (गङ्गा के किनारे पर) हुआ इस लक्ष्यार्थ की प्राप्ति, तथा अभिधेयार्थ स्थित विरोध के नष्ट, हो जाने के कारण, जहल्लक्षणा इस वाक्य में पूर्णरूप से सङ्गत हो जाती है।

[१६०] घोष आभीरनिवासः कुत इत्यपेक्षायां गङ्गापदे जहल्लक्षणा सम्भवति वाच्यार्थस्य तत्राशेषस्यानन्वयेन परित्याज्यत्वादित्याह तत्र गङ्गाघोषयोः इति।

---

१६१. अत्र तु परोक्षापरोक्षचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रेविरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते ॥

अनुवाद—(किन्तु) यहाँ तो (तत्त्वमसि वाक्य में) परोक्षत्व अपरोक्षत्व विशिष्ट चैतन्य के एकत्व के बोधक वाक्यार्थ का भागमात्र में विरोध हो जाने पर भी, अन्य भाग में विरोध न होने से, लक्षणा के अयुक्त होने के कारण जहल्लक्षणा असम्मत हो जाती है।

विद्योत्तमा-अत्र···न सङ्गच्छते—लेकिन 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ पर 'तत्' शब्द के अभिधेयार्थभूत परोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' शब्द के वाच्यार्थगत अपरोक्षतादि विशिष्ट चैतन्य का एकत्वरूप जो वाच्यार्थ हैं वे सर्वात्मनाअविरुद्ध हैं। विरोध केवल परोक्षतादिविशिष्टता तथा अपरोक्षतादिवैशिष्टय इन अंशमात्रों में है। शेष चैतन्यांश उभयसामान्य है, परस्पर अविरुद्ध है। इसलिये लक्षणा करते समय विरुद्धांश को छोड़ना तो वाञ्छनीय है किन्तु सामान्य चैतन्यांश का परित्याग अनपेक्षित है। इसलिये यहाँ (तत्त्वमसि वाक्य में) जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं होती है।

[१६१] प्रकृते वाच्यार्थस्याशेषपरित्यागायोगान्न जहल्लक्षणा संगच्छत इत्याह अत्र त्विति।

---

१६२. न च गंगापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कुतो जहल्लक्षणा न सङ्गच्छत इति वाच्यम् ॥

अनुवाद—'जैसे 'गङ्गा' यह शब्द अपने अर्थ को छोड़कर तट शब्दार्थ की प्रतीति कराता है उसी भाँति यदि 'तत्' पद एवं 'त्वम्' पद अपने अर्थ को त्यागकर, क्रमशः 'त्वम्' पद के एवं 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति न करा दें तो क्यों जहल्लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती है ?

विद्योत्तमा—न च...वाच्यम्—जहल्लक्षणा 'तत्त्वमसि' वाक्यावबोधार्थ के लिये अनुपादेय है। किन्तु यह शङ्का खड़ी होती है कि जिस भाँति 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति वाक्य में गङ्गा शब्द अपनी धारारूप वाच्यार्थ को त्यागकर अपने से सम्बद्ध 'तीर' शब्द के वाक्यार्थ को बताता है उसी भाँति 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' शब्द परोक्षतादिविशिष्ट चैतन्यरूप अंश को त्यागकर त्वम्' शब्द के अभिधेयार्थ अपरोक्षतादि विशिष्ट (जीव) चैतन्य को लक्ष्य करे। और तथैव त्वं शब्द कि चिदज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य रूप अंश त्यागकर ईश्वर चैतन्य को लक्ष्य करे। इस प्रकार जहल्लक्षणा से भी दोनों का एकत्व सिद्ध हो जायेगा अतः आप यहाँ जहल्लक्षणा के उपादेयत्व का निषेध क्यों कर रहे हैं (क्रमशः उत्तर आगे बतायेंगे)।

———

१६३. तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात् ॥

अनुवाद—वहाँ (गङ्गायाम घोषः' वाक्य में) तीर शब्द के न सुनाई देने के कारण, उसके अर्थ की प्रतीति न होने पर, लक्षणा से उसकी प्रतीति की अपेक्षा होती है। 'तत्' तथा 'त्वम्' शब्दों के श्रूयमाण होने से उनके अर्थ की प्रतीति हो जाने पर, लक्षणा से फिर एक शब्द द्वारा दूसरे शब्द का अर्थ बोध कराने की अपेक्षा नहीं होती है।

विद्योत्तमा—नृसिंह सरस्वती अपनी टीका में लिखते हैं—श्रुतवाक्यस्य मुख्यार्थ विरोधे मुख्यार्थ सम्बन्धियश्रुत पदार्थे लक्षणेति सर्वजनसिद्धम् ।' अर्थात्

श्रुतवाक्य के मुख्यार्थ में विरोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले अश्रुत पदार्थ से लक्षणा होती है—यह लोक प्रसिद्ध है।

[१६२–६३] ननु विशेषणांशत्यागेऽपि विशेषणाभावे विशिष्टाभावन्यायेन विशिष्टस्वार्थपरित्यागाज्जहल्लक्षणैव तत्त्वम्पदयोरपि गङ्गापदवत्स्यादित्याशङ्क्य वैषम्येण प्रत्याचष्टे न चेति। यथा पदादेव वाक्यार्थान्वयिपदार्थप्रतीतौ लक्षणा वैयर्थ्यं तथा विशेष्यांशपरित्यागेऽपि लक्षणावैयर्थ्यं तत्त्वम्पदार्थातिरिक्तस्य तत्सम्बन्धिनो वाक्यार्थान्वयिनोऽर्थस्याप्रसिद्धेरिति भावः॥

१६४. अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति॥

अनुवाद—यहाँ (तत्त्वमसि' वाक्य में) 'शोणो धावति' (लाल दौड़ता है) इस वाक्य के सदृश अजहल्लक्षणा भी ठीक नहीं। (अर्थात् अजहद् लक्षणा से भी अखण्ड अर्थ की प्रतीति संभव नहीं है।)

१६५. तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति॥

अनुवाद—वहाँ लाल गुण के गमनलक्षण वाक्यार्थ का विरोध हो जाने से उसके त्याग द्वारा उसके आश्रयभूत घोड़ा आदि अर्थ लक्षणा से करने के कारण उसके विरोध का निराकरण हो जाने से अजहल्लक्षणा होती है।

विद्योत्तमा—यहाँ लाल रंग दौड़ नहीं सकता है–अतः मुख्यार्थ बाध होने से—शोण गुण के आश्रय द्रव्य अश्व को यदि लक्षणा से ग्रहण किया जाता है, तो विरोध का परिहार हो जाता है यहाँ शोण के पद के वाच्यार्थ का परित्याग नहीं है अतः अजहल्लक्षणा सङ्गत है। अर्थ होगा—शोणगुणविशिष्ट अश्वादि।

१६६. अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।

अनुवाद—यहाँ (तत्त्वमसि वाक्य में) परोक्षभाव तथा अपरोक्षभावादिविशिष्टचैतन्यों के एकत्व अभिन्नरूपवाक्यार्थ के विरोधी होने के कारण बिना उसका परित्याग परित्यक्त उससे सम्बन्धित जिस किसी अर्थ की लक्षणा से उपलब्धि हो जाने पर उनके अन्योन्य विरोध परिहार असम्भव होने से अजहल्लक्षणा हो ही नहीं सकती।

विद्योत्तमा—यहाँ पर (तत्त्वमसि वाक्य में) तत्पद का वाक्यार्थस्वरूप परोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य और त्वम् पद का वाच्यार्थभूत अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य जो एकत्व विवक्षित है, वह परोक्षता तथा अपरोक्षता रूप विरुद्ध भाग का त्याग के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। विरुद्ध अंश को त्यागे बिना उससे सम्बन्धित किसी अन्य अर्थ को अजहल्लक्षणा के द्वारा ग्रहण करने पर विरोध-परिहार असम्भव है। और विरोध का परिहार न हो सकने पर लक्षणा व्यर्थ ही हो जाती है, अतः इस वाक्य में अजहल्लक्षणा सङ्गत नहीं हो सकती है।

[१६४–६६] अजहत्स्वार्थामप्यत्र व्युदस्यति अत्र शोण इति। शोणपदे स्ववाच्यशोणगुणापरित्यागेन तदाधारलक्षणावत्तत्पदे त्वम्पदे च स्ववाच्यापरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्यकस्यचिदनिर्दिष्टविशेषस्यार्थान्तरस्य प्रतीत्यै लक्षणाङ्गीकरणेऽपि वाच्यार्थयोर्विरोधस्यापरिहारान्नाजहल्लक्षणाप्यत्र युज्यत इत्यर्थः।

---

१६७. न च तत्पदं त्वंपदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयतत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्॥

अनुवाद—यदि कहा जाय कि 'तत्' पद अथवा 'त्वम्' पद स्वपदार्थं विरुद्धांश को छोड़कर उभयसामान्यांश सहित 'तत्' 'त्वम्' शब्दों के अर्थ को (लक्षणा से) प्रकट कर लिया जाये (तो यह ठीक नहीं) अपितु (ठीक यह है कि) प्रकारान्तर से भागलक्षणा क्यों न स्वीकार कर ली जाय।

विद्योत्तमा—पूर्व लिखित अजहल्लक्षणा के अनुपादेय सिद्ध होने पर शङ्का करते हुए शङ्काकार उपयोग प्रक्रिया बताते हुए कह रहा है—'तत्' पद का वाच्यार्थ परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य इसमें परोक्षत्वादिविशिष्ट भाग 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ से विरोधी है तथा 'चैतन्य' अंश अविरुद्ध है, अतः तत्पद का

अपने 'परोक्षत्वादिविशिष्ट' विरुद्धांश को त्याग कर लक्षणा के द्वारा अविरुद्ध चैतन्यांशसहित, त्वम् पदवाच्यार्थ अपरोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य, लक्ष्यार्थ हुआ। अथवा 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्टविरुद्धांश को त्याग कर लक्षणा से अविरुद्ध चैतन्यांशसहित 'तत्' पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट को लक्षित करने से लक्ष्यार्थ हुआ। इसलिये भागलक्षणा को स्वीकार करना अपेक्षित नहीं है।

[१६७] प्रकारान्तरेणाजहल्लक्षणामुद्दंक्य निराचष्टे न चेति।

---

१६८. एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थं प्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥

अनुवाद—एक पद के द्वारा अपने पदार्थ को छोड़कर दूसरे पद के अभिन्नार्थ की प्रतीति में लक्षणा सम्भव नहीं हो सकती तथा दूसरे शब्द के द्वारा वह अर्थ (स्वयं) प्रतीति हो जाने पर फिर लक्षणा द्वारा उसे पुनः प्रतीत कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती।

विद्योत्तमा–(१) एक ही पद अपने वाच्यार्थ के अंश (अविरुद्ध चैतन्यांश) को लक्षित कराये, तथा दूसरे पद के वाच्यार्थ को भी लक्षित कराये–इन दोनों को लक्षणा से ग्रहण करना असम्भव है। क्योंकि तत् एवं त्वम् पद का श्रवण होने पर लक्षणा से पूर्वपक्षी दो व्यापार करना चाहता है—(१) अविरुद्ध चैतन्य के अंश को लक्षित करना (२) दूसरे पद के वाच्यार्थ को लक्षित करना। यह असम्भव है। रामतीर्थ के अनुसार—'सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षम् त्वासम्भवात्।' (२) अजहल्लक्षणा के असम्भव होने का दूसरा हेतु है तत् तथा त्वम् पद सामान्य चैतन्यांश को लक्षित कराते हैं किन्तु दूसरे पद के वाच्यार्थ को उससे लक्षित कराने की अपेक्षा नहीं है। दूसरे पद के श्रवण से उसके वाच्यार्थ का बोध अभिधा से होता है तब लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति कराना आपेक्षित नहीं है। इस प्रकार अजहल्लक्षणा दोनों ही जहद् और अजहद् से असम्भव हो जाती है। और जब 'तत्' तथा 'त्वं' दोनों पद हैं और अपने अपने अर्थों की प्रतीति कराते हैं तब लक्षणा से पहले पद से दूसरे के अर्थ की तथा दूसरे पद से पहिले के अर्थ की प्रतीति कराने की क्या आवश्यकता?

[१६८] सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवादित्यर्थः। अत्रापि पूर्वोक्तं दूषणं प्रसञ्जयति **पदान्तरेण** इति।

---

१६९. तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यवदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्टदेवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्ध तत्कालैत कालविशिष्टत्वांश परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति तथा 'तत्त्वमसी'ति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्त्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥

अनुवाद—अतः जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) यह वाक्य अथवा उसका अर्थ, तत्काल एवं एतत्काल विशिष्ट देवदत्त वाक्यार्थांश में, तत्कालिक एवं एतत्कालिक भाग में विरोध है, किन्तु देवदत्तांश में विरोध न होकर, कालिक विरोध होने के कारण विरुद्धांश को त्यागकर, अभिन्न देवदत्तपिण्डमात्र को जहदजहल्लक्षणा बोधित करती है, उसी भाँति 'तत्त्वमसि' वाक्य अथवा उसका वाक्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य (ब्रह्म) और अपरोक्षतादिविशिष्ट चैतन्य (जीव) लक्षण वाक्यार्थांश के, परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्वांश में विरोध होने से और चैतन्यांश में विरोध न होने से, परस्पर विरोधांश को छोड़कर अविरुद्ध अखण्ड चैतन्यमात्र को जहदजहल्लक्षणा सूचित करती है।

विद्योत्तमा—पञ्चदशी में इस महावाक्य का अर्थ निम्नलिखित रूप से प्रदर्शित किया गया है—

"एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वम् तदितीर्यते ॥
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वम्पदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥"

सारांश यह है कि 'तत्वमसि' इस महावाक्य में जहदजहल्लक्षणा अथवा भागलक्षणा से ही अखण्ड अर्थ का बोध होता है।

[१६९] परिशेषाद्भागलक्षणामन्तरेण नाखण्डवाक्यार्थसिद्धिरतस्तयैव लक्षणयैकार्थपर्यवसायित्वेन पदयोः सामानाधिकरण्यमित्युपसंहरति **तस्मात्**

इति । सोऽयमिति पदद्वयं वाक्यशब्दार्थौ देवदत्तपदस्य सामानाधिकरण्यसिद्धैक्य स्पष्टीकरणार्थत्वाल्लक्षणाविचारानुपयोगात् । यद्यपि पदधर्मो लक्षणा तथाप्यभिहितान्वयमतवत्पदार्थस्यापि लक्षकत्वमभ्युपगम्य पदार्थौ वेत्युक्तम् । अन्यत्समानम् ॥

अत्र केचिदाहुः पदद्वये लक्षणानुपपन्ना । सोऽयं देवदत्त इत्युक्ते सशब्देनातीतदेशकालपरित्यागेन लक्षिते देवदत्तस्वरूपे वर्तमानदेशकालवैशिष्ट्यमयम्पदेन प्रतिपाद्यते तथा च पूर्वोत्तरदेवदत्तस्वरूपाभेदसिद्धेरिति । तदयुक्तं विशिष्टस्य केवलाद्भिन्नत्वात् । तथा केवलो विशिष्टाद्भिन्नस्तथा विशिष्टोऽपि केवलाद्भिन्न एव । तथा च विशिष्टविषयस्यायंशब्दस्यापि विना लक्षणां न तत्स्वरूपनिष्ठत्वं सम्भवति ! तदभावे च सोऽयम्पदयोः सामानाधिकरण्येन देवदत्तैक्यप्रतिपादकतेत्यास्तां तावत् । अपरे पुनराहुर्न पदवाच्यार्थयोः परस्परविरोधाल्लक्षणाश्रीयते किन्तु वाच्यार्थैक्ये तात्पर्याभावादिति । तन्न तात्पर्याभावावगमस्यापि विरोधस्फूर्त्यधीनत्वात् । अन्यथा वेदवाक्यप्रतिपादितेऽर्थे संवादिविसंवादिप्रमाणान्तराविषये तात्पर्यानवगमायोगात् । तस्मात्सुष्ठूक्तं वाक्यार्थस्यांशे विरोधादिति ॥

अनुभववाक्यार्थ—

१७०. अथाधुनाहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते ॥

अनुवाद–अब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव वाक्य का वाक्यार्थ वर्णित किया जा रहा है ।

विद्योत्तमा—१. अथ—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' के अनुसार अथ-मङ्गल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न और कार्त्स्न्य पाँच अर्थों में उपयुक्त होता है यहाँ अनन्तर अर्थ में है । विद्वन्मनोरञ्जनी भी कहती है—'उपदेशवाक्यनिरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः ।'

२—अहं ब्रह्मास्मि—यह अनुभव वाक्य है, तत्त्वमसि उपदेश वाक्य है । अनुभव का अर्थ है = ब्रह्म से साक्षात्कार ।

[१७०] तदेवं "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (ब्रह्मसूत्र ४।१।३) इति न्यायेन जीवस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्तानन्दपरिपूर्णब्रह्मात्मत्वोपदेशवाक्यार्थं सप्रपञ्चं निरूप्येदानीमवगतस्वरूपस्यानुभवावभासिवाक्यार्थं वर्णयितुमुपक्रमते अथ इत्यादिना । उपदेशवाक्यार्थनिरूपणानन्तर्यमथ शब्दार्थः ।

१७१. एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति ॥

अनुवाद—इस प्रकार आचार्य, अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा 'तत्' एवं 'त्वम्' शब्दों के अर्थों में शोधन करके वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण (अखण्ड) अर्थावबोधन हो जाने पर 'मैं अधिकारी हूँ' 'मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्द अनन्त अद्वय ब्रह्म हूँ' इस भाँति की अखण्डाकाराश्रित चित्तवृत्ति उदय करता है।

विद्योत्तमा—१. अहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मि—नित्य पद से ब्रह्म का अनिरुद्ध निवारण किया गया है—शुद्ध शब्द से ब्रह्म को अविद्यादिदोषशून्य बताया है, बुद्ध से स्वप्रकाशभूत होने से जड़ता आदि निषिद्ध किये गये हैं। मुक्त पद से सर्वोपाधिशून्यत्व तथा सत्य शब्द से अनश्वर-स्वभाव वाला कहा गया है। परमानन्द से निरतिशय, अविनाशी ब्रह्मानन्द सबसे बढ़कर है, यह बताया गया है, अनन्त पद से देश, काल एवं वस्तु की दृष्टि से उसका अपरिच्छिन्न होना बोधित किया जाता है और अद्वय पद से अनेकता के निषेधपूर्वक एकता का बोध कराया जाता है।

२. अधिकारिणः—गुरु से अध्यारोपापवाद न्याय से 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ का स्पष्टीकरण करके अखण्डार्थ बोध करने पर जो शिष्य अधिकारी होता है, उसी अधिकारी शिष्य में अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति उदित होती है।

३. अखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिः—'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में अखण्ड ब्रह्म के स्वरूप को धारण करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। क्योंकि ब्रह्म अपरोक्ष नित्य है, इसलिये यह वृत्ति साक्षात्काररूपा अर्थात् अपरोक्ष की अनुभूति के रूप में होती है। परोक्ष वस्तु के आकार को धारण नहीं करती है।

[१७१] अधिकारिणो विधिवदधीतवेदेत्यादिखण्डलोक्तलक्षणस्यासम्भावनाविपरीतभावनाख्यचित्तदोषरहितस्याध्यारोपादिन्यायेनाचार्योपदेशसमनन्तरमेव नित्यशुद्धबुद्धत्वादिविशेषणं ब्रह्माहमस्मीत्यखण्डाकारान्तःकरणवृत्तिरुदेति साक्षा-

त्काररूपा न पुनः परोक्षार्थाकारितेत्यर्थः। न च शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्व-स्वाभाव्यान्न तेनापरोक्षा चित्तवृत्तिरुदेतीति वाच्यं "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर" (उपदेशसाहस्री १८) इति श्रुतेर्नित्यापरोक्षं ब्रह्मात्मस्वरूपं तस्मिन्परोक्षज्ञानं जनयतः शब्दस्याप्रामाण्यापत्तेः। किञ्च ज्ञानस्य परोक्षत्वापरोक्षत्वे न करणनिबन्धने किन्त्वर्थनिबन्धने एकस्यैव मनसः सुखादिविषयकापरोक्षज्ञान-हेतुत्वस्यातीतार्थस्मृतिहेतुत्वस्य च दर्शनात्। तत्र सहकारिभेदात्तथाभाव इति चेत्तर्हीहाप्यस्ति सहकारिभेदः शब्दप्रतिपत्तुःशब्दार्थनैकस्यानैकट्यलक्षणः। निकटं ह्यत्यन्तमात्मनः स्वरूपं ब्रह्म न त्वस्वरूपमुपाध्यन्तराविष्टमिन्द्रवरुणादिरूपम्। तस्माद्दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यवत्तत्वमस्यादिवाक्यानामपरोक्षज्ञानजनकत्वंयुक्तमिति भावः॥

१७२. सा तु चित्प्रतिविम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्मविषयी-कृत्यतद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवद-खिलकारणेऽज्ञाने बाधते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधित्त्वात्तद-न्तर्भूताखण्डाकाराकारिताचित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति॥

अनुवाद—वह चैतन्य के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होती हुई अभिन्न प्रत्यग् के, परमब्रह्मविषयक अज्ञान का ही बन्धन करती है। तब वस्त्र (कार्य) के कारण रूप सूत्रों के दाह होने पर वस्त्रदाह के तुल्य अखिल (संसार) के कारण-भूत अज्ञान के बाधित हो जाने पर चित्तवृत्ति भी बाधित (नष्ट) हो जाती है। (यह सन्दर्भ इस संदेह का निराकरण करता है कि 'यथा दीपक का प्रकाश सूर्यमण्डल को प्रकाशित नहीं कर सकता है उसी प्रकार जड़ चित्तवृत्ति स्वयं प्रकाश आत्मा को कैसे विषय बनाकर उदित होती है।

विद्योत्तमा—१. अज्ञानमेव बाधते—सामान्यतः ज्ञान में बुद्धि की वृत्ति (अज्ञान निवारण) तथा फल (चित् प्रतिबिम्ब) या आभास दोनों ही लौकिक ज्ञान में जरूरी हैं, किन्तु ब्रह्मप्रत्यक्षीकरण में केवल वृत्ति = तद्विषयक अज्ञान निवारण ही आपेक्षित है। चित्-प्रतिबिम्ब आभास की आवश्यकता इसलिये नहीं होती कि वह स्वयं प्रकाशमान है। उसे प्रकाशित करने की आवश्य-कता नहीं।

२. **चित्प्रतिबिम्बसहिता सती**—चित्तवृत्ति में जो चिदात्मा प्रतिबिम्बित होता है वह चिदाभास या फल कहलाता है। इस चिदाभास से सम्पन्न होने के कारण ही चित्तवृत्ति अज्ञान निवारण में समर्थ होती है।

३. **प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत**—चिदाभास से सम्पन्न होती हुई वह चित्तवृत्ति परब्रह्म को अपना विषय बनाती है। 'परम्' पद से अज्ञानोपाधि से उपहित कार्यब्रह्म निषिद्ध हुआ है, क्योंकि अज्ञानोपाधि वाला ब्रह्म 'अपरब्रह्म' शब्द से अभिहित किया जाता है। 'अज्ञातम्' शब्द से उसके विषय बनने (प्रमेय होने) को कहा गया है क्योंकि जो ज्ञान नहीं (अज्ञात) होता है वही प्रमेय हो सकता है तथा 'प्रत्यगभिन्न' से उसके तटस्थ होने का प्रतिषेध हुआ है। यहाँ ब्रह्म का विषय बनना केवल औपचारिक है। चित्तवृत्ति का ब्रह्म की ओर अभिमुख होना ही यहाँ अभिप्रेत है। जो चित्तवृत्ति गुरूपदेश से पूर्व बाह्य विषयों में लीन रहती थी, अभिमुख होती थी, वही वृत्ति आचार्योपदेश से अखण्डाकाराकारित बनकर प्रत्यगात्मभिन्न ब्रह्म की ओर अभिमुख होती है, यही उससे ब्रह्म का विषयीकरण है। वस्तुतः चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाती है, अपितु वह अज्ञान विशिष्ट प्रत्यगभिन्न विषयिणी होती है।

४. **तदा पटकारणतन्तुदाहे···चित्तवृत्ति अपि बाधिता भवति**–अज्ञान के बाध हो जाने पर संशय होता है कि अधिकारी जब 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों को सुनता है तो उसके तात्त्विक ज्ञान से अखण्ड चैतन्यवृत्ति के कारण प्रत्यग् चैतन्य स्थित अज्ञान भले ही विनष्ट हो जाये, किन्तु अज्ञान का कार्य जो सकल चराचर प्रपञ्च है, वह तो प्रत्यक्ष भासित होता ही रहेगा, इसलिये 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्म की सिद्धि कैसे हो सकती है। इस शंका के निवारणार्थ उत्तर है कि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जाता है जैसे तन्तुरूप के जल जाने पर पट रूप कार्य भी नष्ट हो जाता है, उसी भाँति यहाँ भी अज्ञान कारण है तथा चराचर प्रपञ्च कार्य है, अतः जब अज्ञानरूपी कारण नष्ट हो जायेगा तो उसका कार्य चराचर प्रपञ्च भी भासित नहीं होगा। यदि यह कहें कि प्रपञ्च के विनष्ट होने पर भी अखण्डाकाराकारित वृत्ति तो शेष रहेगी ही, अतः फिर भी अद्वैतसिद्धि नहीं हो सकती तो इसका समाधान है कि वह वृत्ति भी अज्ञान तथा उसके कार्यप्रपञ्च के अन्तर्गत ही है, इसलिये

कारणीभूत अज्ञाननाश होने पर प्रपञ्च एवं वृत्ति दोनों ही नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार अद्वैतसिद्धि हो जाती है।

५. **नृसिंह सरस्वती के अनुसार**—'सा चित्तवृत्तिर्न शुद्धब्रह्मविषयिणी किन्त्वज्ञानविशिष्टप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मविषयिणी' में चित्तवृत्ति के द्वारा अज्ञानविशिष्ट प्रत्यगात्मरूप परब्रह्म का विषयीकरण बताया गया है, जो युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि शास्त्रों में उपाधिविशिष्ट ब्रह्म अपरब्रह्म कहा गया है, परब्रह्म नहीं। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य में भी उसे अपर ही कहा गया है—

"किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते, यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनाचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते......तदपरम्।" इससे यह भी स्पष्ट है है कि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म उपास्य होता है तथा उपाधिशून्य ब्रह्म ज्ञान का विषय होता है। प्रस्तुत प्रकरण ब्रह्मज्ञानपरक है अतः उपाधिरहित ब्रह्म ही चित्तवृत्ति के विषयीकरणरूप से ग्रन्थकर्त्ता को अभिप्रेत ही अज्ञानविशिष्ट उपाधि से उपहित नहीं।

[१७२] एवमुत्पन्नाखण्डाकाराचित्तवृत्तिः किं करोतीति तदाह सा तु इति। वृत्तेर्जडत्वादज्ञानबाधनासम्भवमाशङ्क्य तां विशिनष्टि चित्प्रतिबिम्ब संहिता सती इति। प्रत्यक्चितिव्याप्तेति यावत्। ब्रह्मणो विषयीकरणं नाम वृत्तेस्तदाभिमुख्यम्। ब्रह्म शब्दस्य कार्यब्रह्मविषयत्वं व्यावर्तयति परमिति। तस्य प्रमेयत्वमाह अज्ञातमिति। तस्य ताटस्थ्यं वारयति प्रत्यगभिन्नमिति। अज्ञानमेव बाधत इत्येवकारेण ब्रह्मणः प्रकाश्यत्वं व्यावर्त्यते। एवं विधया चित्तवृत्या संसारमूलाज्ञाने बाधिते सत्यप्यस्या वृत्तेर्बाधकाभावान्मोक्षोऽपि सप्रपञ्चः स्यादित्यत आह तदेति। वृत्तेर्बाधकाभावेऽपि दग्धेन्धनानलवत्स्वयमेव विनश्यति ततो न सप्रपञ्चो मोक्ष इत्यर्थः।

---

१७३. तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा दीपप्रभाऽदित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत्स्वोपाधिभूताखण्डचित्तकृतेर्बाधित्वाद्दर्पणाभावेमुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति॥

अनुवाद—उसमें (चित्तवृत्ति) में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी जैसे दिये का प्रकाश रवि के आलोक को अवभासित करने में असमर्थ होकर उससे अभिभूत होता है उसी भाँति स्वयं देदीप्यमान प्रत्यग्, अभिन्नपरब्रह्माव-भासन में समर्थ न होने के कारण, उससे पराभूत होकर, अपनी उपाधिभूत खण्डरहित चित्तवृत्ति को नष्ट करके, दर्पण के न रहने पर मुख की छाया के मुखमात्र रह जाने के सदृश, आन्तरिक आत्मा से अभिन्न परब्रह्ममात्र ही होता है।

विद्योत्तमा—जैसे दीपक का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है तथा सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होता है उसी भाँति चिदाभास जो ब्रह्म चैतन्य का प्रतिबिम्ब है तथा जिसकी सत्ता बिम्बरूप ब्रह्म चैतन्य पर आश्रित है, स्वयं चित्तवृत्ति भूत उपाधि की अनुगन्त्री है वह उपाधिशून्य ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती। इसके विपरीत वह ब्रह्म चैतन्य द्वारा पराभूत हो जाती है। इसके साथ ही एक अन्य क्रिया होती है। चिदाभास की उपाधि-स्वरूप चित्तवृत्ति जब अज्ञान तथा उसके कार्य समुदाय को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है तो उसमें स्थित चैतन्य प्रतिबिम्ब अपनी उपाधि के नष्ट हो जाने से अलग कहीं नहीं रहता केवल बिम्बस्वरूप ब्रह्म चैतन्य रह जाता है जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण के हटा देने पर पृथक् नहीं रहता, मुखमात्र ही रह जाता है। उपाधियुक्त अपनी उपाधि के नष्ट होने पर उपाधिशून्य शुद्ध स्वरूप में रहता है अतः द्वैत की किञ्चित् भी सम्भावना नहीं होती। इससे प्रमाणित है कि ब्रह्मज्ञानप्रक्रिया में चित्तवृत्ति तो उपयुक्त होती है, क्योंकि वह अज्ञान को विनष्ट करती है, किन्तु चिदाभास का कोई उपयोग नहीं है।

[१७३] तर्हि वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य प्रत्यक्चैतन्यस्य का गतिरिति तामाह तत्रेति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमप्यखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वात्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्म-मात्रं भवतीत्यन्वयः। स्वोपाधिविलये उपहितस्य स्वस्वरूपमात्रावस्थाने दृष्टान्तो दर्पणाभाव इति। उपाध्यनुगामिनो निरुपाधिप्रकाशनासामर्थ्ये दृष्टान्तमाह यथा दीपप्रभेति। यद्वा परिच्छिन्नप्रकाशस्यापरिच्छन्नानवभासने दृष्टान्तो यथा दीपेति॥

———

१७४. एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेध-प्रतिपादनात् ॥

अनुवाद—और ऐसा होने पर 'मन से ही (वह) द्रष्टव्य है,' जो मन द्वारा नहीं जाना जाता' इस भाँति की इन दोनों श्रुतियों में अविरोधवृत्ति के व्याप्यत्व को स्वीकार करने से फलव्याप्यत्व का प्रतिषेध प्रतिपादन के कारण होता है ।

विद्योत्तमा—१. **'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'** (तथा इसी की समर्थिका 'मनसैवेद-मातव्यम्') आदि श्रुतियों में जब इस प्रकार के वचनों द्वारा आत्मा को मनोगम्य कहा जाता है तो उस प्रसङ्ग में 'मन' से वृत्तिग्राह्य है तथा जब यन्मनसा न मनुते ('यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह') इत्यादि वाक्यों से आत्मा को मन और बुद्धि से अप्राप्य कहा जाता है तो वहाँ इन पदों से 'फल' को ग्रहण करना चाहिये । इस भाँति समझने पर इन श्रुतिवचनों में प्रतीत होने वाला विरोध नष्ट हो जाता है ।

२. जब हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो क्रम से दो अवस्थायें होती हैं (१) वृत्ति व्याप्ति (२) फल व्याप्ति । इन दोनों का विवरण आगे देंगे ।

[१७४] वाक्यजनिता ब्रह्मात्मकारा चित्तवृत्तिस्तद्गताज्ञानमेव बाधते नतु तत्प्रकाशयतीति विशेषनिरूपणे फलितमाह एवं च इति । अविरोधः सिद्ध इति शेषः । तत्रैवं शब्दसूचितमर्थं हेतुमाह वृत्तिव्याप्यत्वा० इति । विशिष्ट-शब्दादिप्रमाणबलात्तत्तद्विषयाकारधीसमुन्मेषाभिव्यक्तत्वं वृत्तिव्याप्यत्वम् । बाह्येन्द्रियेसन्निकृष्टार्थाकारबाह्यधीपरिणामावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्य-त्वमिति भेदः ।

---

१७५. तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता' इति ॥

अन्वय—ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिः अपेक्षिता स्वयंप्रकाशमानत्वात् आभासः न उपयुज्यते ।

शब्दार्थ—ब्रह्मणि: = ब्रह्मज्ञान के विषय में, **वृत्तिव्याप्तिः** = चित्त (हृदय) के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना, **अपेक्षिता** = आवश्यक है, **स्वयंप्रकाशमानत्वात्** = स्वयं प्रकाशक होने के कारण, **आभासः** = चैतन्य के आभास का, **न उपयुज्यते** = कोई उपयोग नहीं है।

अनुवाद—अतः कहा गया है—

'इसके लिये शास्त्र कर्त्ताओं द्वारा फल व्याप्यत्व निवारित किया गया है, लेकिन ब्रह्मस्थित अज्ञान के विनाशार्थ वृत्तिव्याप्यत्व आपेक्षित है।

विद्योत्तमा—१. वस्तुतः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' और 'यन्मनसा न मनुते' इन श्रुतिस्मृतियों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि (१) अन्तःकरणवृत्ति प्रतिबिम्बित चिदाभास के द्वारा अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के अज्ञानावरणनिवृत्तिपूर्वक स्वरूप ज्ञान हो जाता है तथा (२) स्वयं प्रकाशशीलपरब्रह्म किसी अन्य के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता है, वह तो मन, वाणी और बुद्धि से परे है। घट आदि जड़ पदार्थों को देखने के लिए नेत्र और दीपक दोनों अपेक्षित हैं, तथा दीपक देखने के लिए केवल नेत्र अपेक्षित हैं, तथैव अज्ञानावच्छिन्न जीव चैतन्य गत अज्ञान को दूर करके चैतन्यब्रह्म मात्र अवशेष रखने के लिए तद् (ब्रह्म) आकाराकारित चित्तवृत्ति और तद्गत चिदाभास अपेक्षित हैं। और जब अज्ञान के आवरण के दूर हो जाने से, ब्रह्मज्ञान हो जाने से, स्वयं प्रकाशमान चैतन्य (फल) अवशिष्ट रह जाता है, तब उसे कौन प्रकाशित कर सकता है ? पंचदशी में इस सबका अत्यन्त विशद वर्णन है।

ऊपर वर्णित चैतन्याकाराकरित चित्तवृत्ति उदित होकर जीवगत अज्ञान को दूर कती है और स्वयं भी इस प्रकार नष्ट हो जाती है जैसे अरणि-गत अग्नि उत्पन्न होकर, अरणि को नष्ट करके, स्वयं भी नष्ट हो जाती है। ततः चैतन्य का प्रतिबिम्ब रूप चैतन्याभास रह जाता है, वह भी शुद्ध चैतन्य (स्वयं प्रकाश) का अंश होने से, उसी में विलीन हो जाता है।

२. फल व्याप्ति = अन्तःकरण के विषय रूप में परिवर्तित हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित चिदाभास (चैतन्य) या उससे आच्छन्न चैतन्य के द्वारा उस विषय का साक्षात्कार फल व्याप्ति है। कहा भी है—'बाह्येन्द्रियसन्निकृष्टार्थाकारवाह्यधीपरिणाभावच्छिन्नचिदंशकृतप्राकट्याश्रयत्वं फलव्याप्यत्वम्।'

३. **वृत्ति व्याप्ति**—अन्तःकरण के चक्षु आदि द्वारा घटादि विषय देश में जाकर तत्तदाकार में परिवर्तित होने को वृत्ति कहते हैं। वेदान्त परिभाषा के अनुसार—

'यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादि द्वारा घटादि विषयदेशं गत्वा घटादि विषयाकारेण परिणमते स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।

[१७५] उक्तेऽर्थे वृद्धसम्मतिमाह फलव्याप्यत्वमिति।

---

१७६. 'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते' इति च॥

अनुवाद–तथा स्वयं दीप्यमान होने के कारण आभास उपयुक्त नहीं है।

विद्योत्तमा–चैतन्याभास उस वृत्ति में चैतन्य का प्रतिबिम्बरूप में रह जाता है। वह स्वयं ही प्रकाश युक्त शुद्ध चैतन्य का ही अंश है, इसलिये उसे प्रकाशित न कर सकने के कारण उसी में विलीन हो जाता है जैसे—

"अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्धि निर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत्॥"

अर्थात गन्दे पानी को साफ करके कतकरेणु अपने आप जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिये।

[१७६] फलव्याप्यत्वाभावं सम्मत्यन्तरेण साधयति स्वयम्प्रकाशेति।

---

१७७. जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति॥

अनुवाद—(किन्तु) जड़ पदार्थ (घट आदि) के आकार से आकारित वृत्ति इससे भिन्न विशेष है।

[१७७] ननु ब्रह्मफलव्याप्यं साभासान्तःकरणव्यङ्ग्यत्वत्प्रत्यक्षत्वाद्वा घटादिवद्यद्वा ब्रह्माकारावृत्तिः सकर्मिकापरोक्षवृत्तित्वाद्घटादिवृत्तिवदित्याशङ्क्य पूर्वस्मिन्ननुमाने जडत्वमुपाधिरुत्तरस्मिंस्तु जडविषयत्वमुपाधिरित्यभिप्रेत्याह जडपदार्थेति। प्रतिज्ञातमर्थं सदृष्टान्तमुपपादयति तया हीत्यादिना। इतिशब्दोऽनुभववाक्यार्थनिरूपणसमाप्त्यर्थः॥

---

१७८. तथापि अयं घट इति घटाकाराकारिताचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जड-घटमपि भासयति ॥

अनुवाद—'तथापि यह घड़ा है' इस प्रकार अज्ञात घट विषयक घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का उदय होने पर, घटगत अज्ञान विनाश के पश्चात्, अपने में स्थित चिदाभास के द्वारा वह जड घड़ा को भी प्रकाशित करती है।

———

१७९. तदुक्तम्—

'बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया पश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्' इति ॥

अन्वय—बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि घटं व्याप्नुत तत्र, अज्ञानं धिया नश्येत आभासेन घटः स्फुरेत् ॥

अनुवाद—(पंचदशी की) यह कारिका भी कहती है—

बुद्धि तथा उसमें वर्तमान चिदाभास ये दोनों घड़े को व्याप्त करते हैं। उनमें से धी (बुद्धि, अर्थात् चित्तवृत्ति) के द्वारा अज्ञान दूर होता है एवं चिदाभास द्वारा घड़ा अभिव्यक्त होता है।

विद्योत्तमा—वस्तुतः जड वस्तुओं से आकाराकारित चित्तवृत्ति का विषय भिन्न है। जैसे 'अयं घटः'—'अह घटविषयकज्ञानवान्' इस प्रकार की जब अज्ञात घटविषयक चित्तवृत्ति का उदय होता है, तब वह घटविषयक अज्ञान को भी नष्ट करती है और घट को भी प्रकाशित करती है। देखा जाता है कि दीपक अँधेरे में रखे घट के आवरक अन्धकार को दूर करता है और अपने प्रकाश से घट को प्रकाशित भी करता है। उसी प्रकार घटाकाराकारित चित्त-वृत्ति भी जीव (चैतन्य) के घटविषयक अज्ञानावरण नष्ट करती है और स्वप्रतिबिम्बित चिदाभास (आत्मप्रकाश) के द्वारा घट को प्रकाशित भी करती है।

१८०. यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्-गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥

अनुवाद—जिस प्रकार दिये का प्रकाश मण्डल अन्धकार में स्थित घड़ा वस्त्रादि विषयों को और उन पर आवृत्त तम को दूर करके अपने प्रकाश से उनको अभिव्यक्त करता है (इसी भाँति) घटादि आकाराकारित चित्तवृत्ति घटादिविषयक चैतन्यज्ञानावरण की चित्तवृत्ति को नष्ट करके पुनःस्वप्रतिबिम्बित चिदाभास द्वारा घटादिकों को प्रकाशित करती है।

विद्योत्तमा—भासयतीति—यहाँ प्रयुक्त हुआ 'इति' पद अनुभव वाक्य के अर्थनिरूपण के अन्त का द्योतक है जैसा कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका भी कहती है—

"इति शब्दोऽनुभववाक्यार्थ निरूपणसमाप्त्यर्थः।"

[१७८–१८०] इदानीं "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्रह्मसूत्र ४।१।१) इतिन्यायमाश्रित्यैवंविधसाक्षात्काररूपानुभवदार्ढ्यपर्यन्तमनुष्ठेयं श्रवणादिसाधनजातं निरूपयितुमारभते एवं इत्यादिना। तथा च श्रुतिः "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्यायमुनिः" (बृह० ३।५।१) इति पाण्डित्यबाल्यमुनिशब्दैः क्रमेण श्रवणमनननिदिध्यासनानि विधत्ते। तथा—

"तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"॥

(श्वेता० १।१०)

इति श्वेताश्वतरीयो मन्त्रः समाधिमनुष्ठेयं सूचयति। "सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" इति न्यायेनायमर्थो निर्णीतः।

---

१८१. एवं भूतस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासन-समाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते॥

अनुवाद—इस भाँति के स्वरूप चैतन्य के साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, ध्यान, समाधि तथा अनुष्ठान का करना आपेक्षित होने के कारण उनको भी प्रदर्शित किया जा रहा है।

विद्योत्तमा—आत्मसाक्षात्कार के लिये वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि ये चार साधन अङ्गीकार किये गये हैं। इनमें प्रथम तीन को बृहदारण्यक भी कहता है—"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्य निर्विध बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः।" यहाँ 'पाण्डित्य' से श्रवण, बाल्येन से

मनन तथा मुनि से निदिध्यासन विधान किया गया है। समाधि का विधान श्वेताश्वतर उपनिषद् का निम्न मन्त्र सूचित करता है—"तस्याभिध्यानाद्यो-यजनात्तत्त्वाभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः।"

---

१८२. श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम् ॥

अनुवाद—षड्विधलिङ्गों द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तसूत्रों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निर्धारण करना श्रवण कहलाता है।

विद्योत्तमा–१. तात्पर्यावधारणम्—यहाँ अवधारणा के अन्तर्गत विचार भी ग्राह्य है। अर्थात् समस्त वेदवाक्यों का अद्वय ब्रह्म में ही तात्पर्य है इसका निश्चय विचारपूर्वक करना चाहिये अन्धविश्वास से नहीं।

२. श्रवणम्—'अद्वितीय वस्तुनि' पद से 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' इस न्याय के अनुसार निर्विशिष्ट ब्रह्म ही ग्राह्य है तथा 'गतिसामान्यात्' (ब्रह्मसूत्र) अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों से होने वाला ज्ञान एकरूप है इस न्याय को आधार बना कर 'अशेषवेदान्तानाम्' कहा गया है।

[१८२] श्रवणादीनां लक्षणमाह **श्रवणं नाम** इत्यादिना। "गति सामान्यात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।१०) इति न्यायमाश्रित्य अशेषवेदान्तानामित्युक्तम्। "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" (ब्रह्मसूत्र ३।२।११) इति न्यायमाश्रित्य अद्वितीयवस्तुनीत्युक्तम्।

---

१८३. लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि ॥

अनुवाद—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति नामक (ये) छः लिङ्ग हैं।

विद्योत्तमा—लिङ्ग का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य रूप जो (छिपा हुआ) अर्थ है, उसका बोध कराने के कारण उपक्रमादि लिङ्ग कहलाते हैं। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्।

सम्भवतः सर्वदर्शन में उद्धृत बृहत्संहिता का निम्न श्लोक सदानन्द द्वारा इन लिङ्गों को गिनाने का मूल प्रेरणा स्रोत रहा है—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गम् तात्पर्यनिर्णये ॥"

[१८३] लिंगानि कानीत्यपेक्षायां तानि विभजते लिंगानि तु इति ।

१८४. तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ । यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम् ॥

अनुवाद—उनमें (छः लिङ्गों में) से प्रकरण के प्रतिपाद्यार्थ तथा उसके आदि और अन्त का उपपादन करना उपक्रम एवं उपसंहार (क्रमशः) कहलाते हैं जैसे छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का 'एक ही अद्वैत तत्त्व' इस भाँति आदि में, और 'वह सब आत्मा का ही है' इस प्रकार अन्त में, उपक्रम और उपसंहार (क्रमशः) किया है ।

[१८४] उपक्रमोपसंहाराख्यमाद्यं लिंगम् लक्षयित्वा उदाहरति यथा छान्दोग्य इति ।

१८५. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः । यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनि मध्ये तत्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम् ॥

अनुवाद—प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है—जैसे वहीं पर (छान्दोग्योपनिषद् में) अद्वितीय वस्तु के वर्णन के मध्य में 'तत्त्वमसि' 'वह तू है' इस वाक्य का नौ बार प्रतिपादन हुआ है ।

[१८५] पुनः पुनः इत्यस्यभावः पौनःपुन्यम् ।

१८६. प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता । यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम् ॥

अनुवाद—प्रकरणप्रतिपादनीय अद्वितीय विषयवस्तु में किसी दूसरे प्रमाण का अविषयीकरण (न होना) अपूर्वता है—जिस भाँति वहीं पर (छान्दोग्योपनिषत् में) अद्वितीय वस्तु के विषय में अन्य कोई प्रमाण नहीं है ।

विद्योत्तमा–१. वेदान्तियों तथा मीमांसकों के अनुसार अलौकिक होना ही शास्त्रोपदेश का वैशिष्ट्य है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र की सफलता इसी में है कि वह अज्ञात को उपदिष्ट करे—"अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम् ।" उपनिषदों से अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता है—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस छान्दोग्य० वचन में पुरुष के औपनिषद विशेषण से उसकी उपनिषद्प्रमाणवेद्यता पर प्रकाश पड़ता है। अथवा 'ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारिस्वतिरिक्तप्रमाणानपेक्षत्वाद् ब्रह्मणोऽपूर्वत्वमित्यर्थः' अर्थात् ब्रह्म को स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ब्रह्म की अपूर्वता प्रमाणित है।

१८७. फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते ॥

अनुवाद—प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान अथवा उसके अनुष्ठान का उसमें (उस विषय में) श्रूयमाण प्रयोजन ही फल है। जैसे वहाँ (पूर्वप्रकरण में) 'आचार्यवान् पुरुष ही जानता है' उसके लिये तभी तक विलम्ब जानना चाहिये जब तक वह इससे (शरीर से) मुक्त नहीं हो जाता'। इस प्रकार अद्वैत वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन बताया गया है।

विद्योत्तमा—१. तदनुष्ठानस्य–यहाँ तद् का अर्थ बालबोधिनीकार के अनुसार "ज्ञानानुकूलश्रवणाद्यनुष्ठानस्येत्यर्थः श्रवणाद्यनुष्ठानस्योपस्थिततत्वात्" अर्थात् ज्ञान के अनुरूप श्रवण आदि के अनुष्ठान से तात्पर्य है, किन्तु विद्वन्मनोरञ्जनीकार ने इसकी व्याख्या—'तदनुष्ठानस्येति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम्' अर्थात् सगुण विद्या के अनुष्ठान से करते हैं।

२. चिरयावन्नविमोक्ष्ये–'विमोक्ष्ये तथा सम्पत्स्ये' अन्यपुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष की क्रियायें हैं अर्थात् जब तक मुक्त नहीं होता और सम्पन्न अर्थात् ब्रह्म में लीन नहीं होता है। यहाँ तस्यतावत् से फल का कथन है। वही अंश उदाहरणरूप से यहाँ अभीष्ट है।

---

१८८. प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव उतत-मादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् ॥

अनुवाद—प्रकरणप्रतिपादनीय वस्तु की यत्र-तत्र (जगह-जगह) प्रशंसा को अर्थवाद कहते हैं। जैसे वहीं पर (छान्दोग्य उपनिषद् में) तूने वह उपदेश (ब्रह्मस्वरूप) पूछा, जिससे न सुना गया सुने हुए, अचिन्तित चिन्तन किये गये और अज्ञात वस्तु बोधित वस्तु, के सदृश हो जाती है' इस भाँति अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) की प्रशंसा (यहाँ) की गई है।

विद्योत्तमा—अर्थवाद—प्रकरण प्राप्त वस्तु की स्थान-स्थान पर प्रशंसा अर्थवाद कही जाती है-उदाहरणार्थ-'उततमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्य-मतं मतं अविज्ञातं विज्ञातम्' अर्थात् तूने उस सम्पूर्ण प्रपञ्चाधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप को पूछा जिसके सुनने से बिना सुना हुआ भी, सकलप्रपञ्च सुना सा हो जाता है और जिस ब्रह्म के ज्ञान हो जाने से अज्ञात भी वस्तु ज्ञात हो जाती है। इत्यादि स्थलों पर अद्वितीय ब्रह्म की प्रशंसा हुई है। यही अर्थवाद है।

---

१८९. प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तु-साधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते ॥

अनुवाद—प्रकरण में प्रतिपादनयोग्य वस्तु को प्रमाणित करने के लिये यत्र तत्र श्रूयमाण होने वाली युक्तियाँ उपपत्ति कहलाती हैं। उदाहरणार्थ वहाँ (पूर्व प्रकरण में) 'हे सौम्य ! एक ही मिट्टी के पिण्ड से बनी हुई सब मिट्टी की वस्तुओं का ज्ञान होता है, उसके विकार (कार्य) केवल नामरूपमात्र से पृथक्-पृथक् हैं, केवल मिट्टी ही सत्य है' इसी भाँति अद्वितीय वस्तु ब्रह्म के साधन के लिये विकार (कार्य) की नाममात्र में युक्ति सुनाई देती है।

विद्योत्तमा—उपपत्ति—प्रकरण प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं वे उपपत्ति हैं। जैसे जगत् को ब्रह्म का

विवर्त सिद्ध करने के लिये 'यथा सौम्य एका मृत्पिण्डेन' आदि युक्ति उपपत्ति है इसी भाँति यह सब नामरूपात्मक जगत ब्रह्म का विवर्त है। केवल नाममात्र के लिए पहाड़, नदी, पशु, मनुष्य आदि भेद हैं। वस्तुतः एक ब्रह्ममात्र ही सत्य है और अन्त में वही एकमात्र अवशिष्ट रहता है।

[१८७–१८९] तत्रैव छान्दोग्यषष्ठे मानान्तराविषयीकरणमाचार्यवान्पुरुषो वेदिति सूचितमिति शेषः। तदनुष्ठानस्य चेति सगुणविद्याभिप्रायेणोक्तम्। आचार्यवान्पुरुषो वेदेति साहचर्यादिहोदाहृत न पुनः फलवचनं तत्। तस्य तावदिति तु फलवचनमिहोदाहरणमिति द्रष्टव्यम्। उदाहरणान्तरं स्पष्टार्थम् तथा च न्यायो वाचारम्भणश्रुतेरुपपत्तिपरत्वनिर्णयपरः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति (ब्रह्मसूत्र—२।१।१४)॥

एवं शाखान्तरेष्वप्युपक्रमोपसंहारादि निरूपणीयम्। तथा हि बृहदारण्यके तावत्। "आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति" (बृहदा० १।४।७) इत्युपक्रमः। "पूर्णमद" (बृह० ५।१।१) इत्युपसंहारः। "स एष नेति नेत्यात्मा" (बृह० ३।९।२६) इत्यभ्यासः। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" (बृहदा०) इत्यपूर्वत्वं सूचितम्। "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" (बृह० ४।२।४) "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृह० ४।४।६) इत्यादिफलम्। "तद्यो यो देवानां" (बृह० १।४।१०) इत्याद्यर्थवादः। "स यथा दुन्दुभेः" (बृह० २।४।७) इत्याद्युपपत्तिः॥

तथा तैत्तिरीयके। "ब्रह्मविदाप्नोति परं" (तैत्ति० २।१।१) इत्युपक्रमः। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैत्ति० ३।६।१) इत्युपसंहारः। "स यश्चायं" (तैत्ति० २।८।१) इत्यभ्यासः। "यो वेद निहितं गुहायां" (तैत्ति० २।१।१) इत्यपूर्वतासूचनम्। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति" (तैत्ति० (२।७।१) इतिफलश्रुतिः। "सोऽकामयत" (तैत्ति० २।६।१) इत्याद्यर्थवादः। "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" (तैत्ति०) इति "को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति० २।७।१) इत्युपपत्तिः॥

तथा मुण्डके च। "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्ड० १।१।५) इत्युपक्रमः। "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" (मुण्ड० २।२।११) इत्युपसंहारः।

"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं" (मुण्ड० १।२।१३) "तदेतदक्षरं ब्रह्म" (मुण्ड० २।२।२) "तमेवैकं जानथ आत्मानं" (मुण्ड० २।२।५) इत्याद्यभ्यासः। "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" (मुण्ड० ३।१।८) इत्यारभ्य "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" (मुण्ड० ३।२।६) इत्यन्तेनापूर्वतासूचनम्। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्ड० ३।१।३) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३।२।९) इति फलश्रुतिः। "यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः" (मुण्ड २।१।२) इत्याद्यर्थवादः। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (मुण्ड० १।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञारूपा ह्युपपत्तिः। एवमैतरेयादिष्वपि शाखान्तरेषूपक्रमाद्यूहनीयम् ॥

१९०. मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् ॥

अनुवाद—सुने गये, अद्वैत वस्तु के, केवल वेदान्तानुगुण युक्तियों के द्वारा, सतत (लगातार) चिन्तन को मनन कहते हैं।

विद्योत्तमा—१. वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः—वेदान्तदर्शन में केवल श्रुतियों के अनुरूप तर्क ग्रहणीय हैं श्रुति निरपेक्ष नहीं, अतः मानवबुद्धि के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कों के निराकरणार्थ ऐसा कहा गया है। शङ्कर कहते हैं—'यदपि श्रवणव्यतिरेकेण मनन विदधच्छब्द एव तर्कमप्यादर्तव्यं दर्शयतीत्युक्तम्। नानेन मिषेण शुष्कतर्कस्यात्रात्मलाभः सम्भवति। श्रुत्यनुगृहीत एव ह्ययं तर्कोनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते।

२. मननम्—विद्यारण्य के अनुसार—

"युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं भवनं तु तत्।"

[१९०] मननं लक्षयति **मननं तु** इति। केवलं पुरुषबुद्ध्युत्प्रेक्षितशुष्कतर्कव्यावृत्त्यर्थं वेदान्तानुगुण० इति विशेषणम्।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ (मनु० १२।१०६)

इति स्मृतेः। अत्र धर्मशब्दो ब्रह्मणोऽप्युपलक्षणार्थः। अनवरतपदं मननस्यावश्यकत्वद्योतनार्थम् ॥

१९१. विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्यप्रवाहोनिदि-ध्यासनम् ॥

अनुवाद—विरुद्ध देहादि भावों से मुक्त अद्वैत वस्तु विषयक अविरुद्ध विचार प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं। (अर्थात् सभी जड़ पदार्थों में भिन्नत्वभावना को हटाकर सभी में ब्रह्म समझना निदिध्यासन है।)

विद्योत्तमा—१. निदिध्यासन=विद्यारण्य निदिध्यासन का स्वरूप इस प्रकार अंकित करते हैं—

"ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥"

अर्थात् श्रवण तथा मनन के द्वारा जब आत्मा के बारे में किसी प्रकार का संशय न रहे तो आत्मा में समाहित चित्त को सदृश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहा जाता है।

२. **विजातीय**—बाह्य पदार्थों से लेकर बुद्धि तक सभी पदार्थों के जड़ होने के कारण आत्मा विजातीय हैं अतः उनसे (जड़ पदार्थों से) सम्बद्ध प्रतीतियों के भी विजातीय होने से उनका परित्याग करते हैं।

३. **सजातीय**—सब आत्माविषयक सजातीय प्रत्ययों को तैलधारा के समान अविछिन्नरूप से प्रवाहित करना निदिध्यासन है।

[१९१] निदिध्यासनलक्षणमाह विजातीय इति।

---

१९२. समाधिर्द्विविधः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति ॥

अनुवाद—**सविकल्पक और निर्विकल्पक ये दो समाधियाँ हैं। (ज्ञेय रूप में चित्त की स्थिर स्थिति को समाधि कहते हैं।)**

विद्योत्तमा—सविकल्पक समाधि—'सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलीन होना आवश्यक नहीं है। चित्तवृत्ति आत्मस्वरूप से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है, परन्तु इस बात का भान होता रहता है कि मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है।' इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति की स्थिति होती है। —डॉ० सन्तशरण

रामतीर्थ विद्वन्मनोरञ्जनी में सविकल्पक समाधि को सम्प्रज्ञात तथा निर्विकल्पक समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

[१९२] चित्तस्य ज्ञेयात्मना निश्चलावस्थानं समाधिस्तं विभज्य लक्षयति **समाधिः** इत्यादिना। सविकल्पकः सम्प्रज्ञातसमाधिर्निर्विकल्पकोऽसम्प्रज्ञातसमाधिरिति साम्प्रदायिकी संज्ञा द्रष्टव्या।

सविकल्पक समाधि—

१९३. तत्र सविकल्पको नामज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम् ॥

अनुवाद—उनमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद ज्ञान होते हुए भी अद्वैत वस्तु ब्रह्म (अहं ब्रह्म अस्मि) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान (स्थिति) सविकल्पक कहलाता है।

[१९३] तत्रेत्युद्दिष्टसमाधिद्वयं सप्तम्यर्थः। ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं चेति यो विकल्पो विभागोल्लेखस्तस्य लयोऽभावस्तदनपेक्षया ज्ञात्रादिविकल्पोल्लेखपूर्वकमिति यावत्। अद्वितीय० इतिच्छेदः।

---

१९४. तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद्द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते ॥

अनुवाद—तब मिट्टी से बने हाथी आदि के भान होने पर भी मिट्टी की प्रतीति होने के सदृश द्वैतभाव होने पर भी अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) का आभास होता है।

विद्योत्तमा—जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाये गये मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्या होने का ही निश्चय होता है, सत्यता केवल मिट्टी की प्रतीत होती है, उसी भाँति अद्वैताकार चित्तवृत्ति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भान होने पर भी उनकी असत्यता का निश्चय होता है, सत्यता केवल अद्वैत की ही भासित होती है, क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेद का भान केवल वाचारंभण है। इन सबमें अद्वैत की स्थिति का भान केवल सत्य है। अतः सविकल्पक समाधि से भी लाभ है।

[१९४] सविकल्पकसमाधिलक्षणार्थमुदाहरणेन 'प्रत्याययति तदा मृदिति। यथा मृद्विकारे गजे कुम्भकारादिनिर्मिते गजोऽयमित्यस्यां बुद्धौ गजाकारोल्लेखेऽपि मृन्मात्रमेव सत्यं भासते गजाकारस्य मिथ्यात्वनिश्चयादेवं ब्रह्माकारायां वृत्तौ ज्ञात्राद्याकारे उल्लिख्यमानेऽपि ब्रह्मैव सत्यं भासते न ज्ञात्रादिविकल्प इत्यर्थः ॥

---

१९५. तदुक्तम्—

'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव सततं विमुक्तमोम् ॥ इति ॥

अनुवाद—इसलिये कहा है—

'इसका साक्षिस्वरूप आकाश तुल्य है जो सदा ही एक रूप में ही प्रकाशित होकर अजन्मा, अविनाशी, एक, निर्लिप्त सर्वव्यापक तथा अद्वैत है वही मैं ही इस प्रकार निरन्तर आनन्दस्वरूप परब्रह्म हूँ।

विद्योत्तमा–(१) अलेपकम्–असङ्ग, निरवद्य अथवा अविद्या आदि दोषों से रहित। (२) सर्वगतम्–श्रुति के अनुसार–'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च-सर्वैः'। जो ब्रह्म से स्थावरपर्यन्त में व्याप्त है, अनुस्यूत है। (३) सततं विमुक्तम्—मैं सदैव से मुक्त हूँ कभी बंधा नहीं। श्रीमद्भागवत् के अनुसार—'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः। गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।' (४) जिस प्रकार इस कारिका में परब्रह्म की भिन्न-भिन्न उपाधियों का कथन है, किन्तु वे केवल नाम मात्र के लिए हैं। ये एक ही (ब्रह्म) वस्तु के नाम हैं। इसी भाँति ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान सब अद्वैत ब्रह्म ही है। यहाँ भिन्नता में भी एकता का भान होता है। सविकल्प समाधि की भी यही स्थिति है।

[१९५] कथं तत्र ब्रह्म भासत इत्यपेक्षायां पूर्वाचार्यसम्मत्युदाहरणेन तत्स्वरूपमाह तदुक्तमभिनीय इति। अभिनयमङ्गचेष्टाविशेषं कृत्वेत्यर्थः। दृशिस्वरूपं चैतन्यघनं "विज्ञानघन एव" (बृह० २।४।१२) इत्यादिश्रुतेः। गगनोपमं सर्वगतं "आकाशवत्सर्वगतश्च" इतिश्रुतेः। परं मायातीतं "अक्षरात्परतः परः" (मुण्ड० २।१।२) इत्यादिश्रुतेः। सकृद्विभातमेकदैव कृत्स्नमभिव्यक्तं "सकृद्दिवा हैवास्मै भवति" (छा० ३।११।३) इत्यादिश्रुतेः। तुशब्दः पादपूरणार्थः। अजं जन्मादिविकारशून्यं "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (कठो०

३।१८) इत्यादिश्रुतेः । एकं सजातीयविजातीयशून्यं "एको देवः" (श्वेता० ६।११) "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋक् संहिता १०।११४।५) इतिश्रुतेः। अक्षरं कूटस्थं नित्यं "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं" (मुण्ड० १।२।१३) इतिश्रुतेः। अलेपकं "निरवद्यं निरञ्जनं" (श्वेता० ६।१९) इतिश्रुतेः। सर्वगतं सर्वानुस्यूतं सन्मात्रं "यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं" (मुण्ड० २।२।५) इत्यादिश्रुतेः। यदद्वयं स्वगतभेदशून्यं "अशब्दमस्पर्शमरूपं" (कठ० ३।१५) इत्यादिश्रुतेः। तदेव चाहमस्मि "अहं ब्रह्मास्मि" (बृह० १।४।१०) इतिश्रुतेः। अतोऽहं सततं सर्वदैव विमुक्तो न कदापि बद्धो "विमुक्तश्च विमुच्यत" (कठ० ५।१) इति श्रुतेरिति श्लोकार्थः ॥

निर्विकल्पक समाधि—

१९६. निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकाकीभावेनावस्थानम् ॥

अनुवाद—ज्ञाता ज्ञानादिभेदभाव का लोप होकर केवल अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) में तदाकार से आकारित चित्तवृत्ति का अत्यधिक एकीभाव से स्थित होना निर्विकल्पक ज्ञान है (निर्विकल्पक समाधि है)।

विद्योत्तमा—१. **निर्विकल्पकः**—इस समाधि का स्वरूप विद्यारण्य ने इस प्रकार अङ्कित किया है—

"ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदपिवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥
यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥"

रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि बताया है। यह निरालम्बन होती है अतः सालम्बन अभ्यास उसका साधन नहीं बन सकता।

२. निरन्तर अभ्यास के कारण इस समाधि में संस्कारों का लय हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है।

[१९६] निर्विकल्पकसमाधिं लक्षयति निर्विकल्पकस्तु इति ।

---

१९७. तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जपमत्रावभासवदद्वितीय-
वस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनावभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमपभासते ॥

अनुवाद—तब (निर्विकल्पक समाधि अवस्था में) जलाकार से आकारित नमक की प्रतीति न होने से जलमात्र के आभास के सदृश अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) से आकारित चित्तवृत्ति के आभास से अद्वैत वस्तु (ब्रह्म) मात्र प्रकाशित होता है।

विद्योत्तमा–'निर्विकल्पक समाधि में चित्तवृत्ति के निगृहीत हो जाने से उसका भान न होने पर भी अस्तित्व तो रहता ही है। समाधि से उठने पर स्मृति से वृत्तियों के सद्भाव का अनुमान किया जाता है।' विद्यारण्य–पञ्चमदशी १·५६।

[१९७] अतितरामेकीभावेनावस्थाने दृष्टान्तः तदा जलेति। दृष्टान्त-दर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति अद्वितीयेति।

१९८. ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने
समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥

अनुवाद—तब क्या इसकी सुषुप्ति से अभेदशङ्का नहीं होती है ? दोनों स्थलों में वृत्ति की अप्रतीति समान होने पर भी केवल उनकी सत्ता (समाधि में) एवं सत्ताभाव (सुषुप्ति में) से इन दोनों में भेद की उपपत्ति होती है।

विद्योत्तमा—१. जैकब के अनुसार सुषुप्ति में यहाँ वृत्तियों का अभाव कहा गया है जबकि 'तदानामेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरति सूक्ष्माभिरज्ञानवृत्ति-भिरानन्दमनुभवतः' से सुषुप्ति में अज्ञान वृत्तियों का अस्तित्व माना गया है। इसमें विरोधाभास है। वस्तुतः इनमें अविरोध है। सुषुप्ति में अन्तःकरण अपने कारणभूत अज्ञान में विलीन हो जाता है, अतः अन्तःकरणवृत्तियों का अभाव हो जाता है और अज्ञान का ही वृत्तियों से सुषुप्ति कालीन भोग सम्पन्न होता है। जबकि समाधि में वृत्ति रहती है और जल में लवण की भाँति, अद्वैत में उसकी तन्मयता होने से वह अलग भासित नहीं होती है। अतः दोनों को एक समझना भ्रान्ति है। २. इस प्रकरण में निरूपित श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का पारस्परिक आपेक्षिक महत्त्व शङ्कर ने इस प्रकार किया है—'श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि। निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पम् ॥''

[१९८] ननु सुषुप्तावपि ज्ञातृज्ञेयज्ञानविभागानां लयसम्भवात्तत्र निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमतिव्याप्नोतीत्यत आह ततश्चेति । तत्र हेतुमाह उभयत्रेति । सुषुप्तौ बुद्धिरेव नास्ति बुद्धेः कारणात्मनावस्थानस्य तल्लक्षणत्वात् । इह तु बुद्धिवृत्तेरद्वितीयवस्त्वाकाराकारितायाः अवस्थानाङ्गीकारात्सुषुप्तेर्भेदोपपत्तेरित्यर्थः । नापि मुक्तावतिव्याप्तिस्तत्राविद्यातत्कार्यसंस्काराणामत्यन्तमुच्छेदात् । इह पुनर्व्युत्थानादिव्यवहारदर्शनेन तेषामनुवृत्तेरिष्टत्वात् । नापि जीवन्मुक्तौ प्रसङ्गस्तस्य व्युत्थानदशायामपि बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासेऽपि स्वस्वरूप एवावस्थानात्साधकस्य बाधितानुवृत्तिमात्रप्रपञ्चावभासाभावादिति द्रष्टव्यम् ॥

१९९. अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः ॥

अनुवाद—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये इसके अङ्ग हैं । (निर्विकल्पक समाधि के ये ८ अंग हैं ।)

विद्योत्तमा—१. अङ्गानि–अङ्ग की 'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि' निष्पत्ति के अनुसार अर्थ है (निर्विकल्पक समाधि) के सहायक । ये पातञ्जल सूत्र में आठ बताये गये हैं—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।"

[१९९] उक्त निर्विकल्पकसमाधिस्वरूपोपकारकाण्यङ्गान्याह अस्य इति ।

२००. तत्र 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यपरिग्रहा यमाः' ॥

अनुवाद—इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य परिग्रह— ये यम हैं । आचार्य शङ्कर ने यम का स्वरूप इस भाँति बताया है—

"सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥" (परोक्षानुभूति)

[२००] तत्र यमानाह तत्रेति । वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनमहिंसा । सत्यं यथार्थभाषणम् । अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम् । ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनवर्जनम् । तथा चोक्तं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्'' ॥
इति। (दक्षसंहि० ह्म०)

अपरिग्रहः समाध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्या संग्रहः ॥

---

२०१. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

अनुवाद—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर की उपासना-नियम हैं।

[२०१] नियमानाह शौच० इति शौचं बाह्याभ्यन्तरलक्षणम्। तदुक्तम्—

"शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्'' ॥ इति।
(याज्ञ० गीता ११६९ तथा दक्षसंहि० ५)

सन्तोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः। तपः कामानशनं "तपो नानशनात्परं" (महाना० २१।२) इतिश्रुतेः। अनशनं च कामानशनमेव। केचित्तु "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः'' (उपदेशसाह० १७।२४) इत्याद्युक्तलक्षणं तप इत्याहुः। सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादिः तपःशब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति द्रष्टव्यम्। स्वाध्यायः प्रणवजप उपनिषद्ग्रन्था वृत्तिश्च "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं'' (मुण्ड० २।२।६)"उपनिषदमावर्तयेत्'' (आरुणे० २) इतिश्रुतेः। ईश्वरप्रणिधानं तस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनं "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'' (श्वेता० ६।१८) इति मन्त्रलिङ्गात् ॥

---

२०२. करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि ॥

अनुवाद—हाथ-पैरादि के विशिष्ट लक्षणों के बोधक पद्म एवं स्वस्तिकादि ये आसन हैं।

[२०२] अथासनादीनि कथयति कर इति। स्वस्तिकादीनीत्यादिपदाद्भद्रवीरासनादिग्रहः। रेचकः प्राणवायोः शनैर्वामनासापुटाद्दक्षिणनासापुटाद्वा सव्यापसव्यन्यायेन बहिर्निःसारणम्। पूरकस्तस्य तथैवान्तःप्रवेशनम्। कुम्भकस्तु पूरितस्य वायोरन्तरेव निरोध इति भेदः।

---

२०३. रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः ॥

अनुवाद—रेचक, पूरक, कुम्भक लक्षण युक्त—ये प्राणनिग्रह के उपाय प्राणायाम हैं। (नासिका द्वारा वायु का त्याग रेचक, नासिका द्वारा वायु को ऊपर खींचना पूरक तथा ऊपर वायु का अवरोध कुम्भक प्राणायाम है।)

---

२०४. इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहारणं प्रत्याहारः ॥

अनुवाद–इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से निवृत्त कर लेना प्रत्याहार है।

---

२०५. अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणाः ॥

अनुवाद—अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तरिन्द्रिय (मन, बुद्धि, चित्त) को लगा देना धारणा है।

विद्योत्तमा—धारणा—पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' धारणा है। नृसिंह सरस्वती कहते हैं—"सर्वेषां बुद्धिसाक्षितया विद्यमानेऽद्वितीयवस्तुनि चित्तनिक्षेपणं धारणा।' गरुडपुराण में कहा है—

"प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ॥"

बारह प्राणायाम करने में लगने वाले समय तक ब्रह्म में धारणा करनी चाहिये।

---

२०६. तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम् ॥

अनुवाद—उस अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तःकरण को रुक रुककर प्रवृत्त करना ध्यान है।

विद्योत्तमा—ध्यानम्–योगदर्शन में चित्तवृत्ति के तैलधारावत् एक लगातार प्रवाह ही ध्यान कहा गया है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'।

शङ्कराचार्य के अनुसार 'ध्यान' इस प्रकार है—

''ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी।'' अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस भाँति सद्ब्रह्म विषयक चित्तवृत्ति से जो परमानन्ददायिनी निराश्रय स्थिति होती है वही 'ध्यान' शब्द से व्याख्यात है।

[२०६] समाधेर्ध्यानस्य भेदं द्योतयितुं विच्छिन्नविच्छिद्य इति उक्तं सुगममन्यत् ।

---

२०७. समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव ॥

अनुवाद—सविकल्पक स्थिति ही समाधि कही जाती है ।

विद्योत्तमा—योगदर्शन में 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' रूप में कथित ध्यान ही वेदान्तसार में सविकल्पक समाधि कहा गया है। वस्तुतः ध्यान की परिपाकावस्था ही सविकल्पक समाधि है। इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेद-अवभास-पूर्वक ब्रह्म (अद्वितीय वस्तु) में तदाकाराकारितचित्तवृत्ति होती है।

---

२०८. एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति ॥

अनुवाद—इस भाँति अवयवी (अङ्गी) निर्विकल्पक के (निर्विकल्पक समाधि के) लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद नामक ये चार विघ्न होते हैं ।

विद्योत्तमा—अष्टाङ्ग समाधि का अभ्यास करते समय उत्पन्न होने वाले विघ्न दो प्रकार के हैं – (१) आभ्यन्तर (२) बाह्य। आभ्यन्तर विघ्न ही यहाँ चार प्रकार के कहे गये हैं जिनका विवरण आगे प्रसङ्ग आने पर किया जायेगा।

[२०८] एवं साङ्गसमाधिमनुतिष्ठतो यदातिवृष्टयनावृष्टिराष्ट्रविप्लवव्याघ्रचौरज्वराद्युपद्रवविघ्नसम्भावना भवति तदा तन्निवृत्तिर्लोकावगतसाधनावलम्बनेन कार्या। यदा तु मनस्येव विघ्नाः प्रादुर्भविष्यन्ति तदा तन्निवारणोपायमुपदेष्टुकामस्तत्रत्यान्विघ्नान्निर्दिशति अस्येति।

---

२०९. लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा ।

अनुवाद—अखण्ड वस्तु के आश्रय लेने से (पूर्व) चित्तवृत्ति का निद्रावस्था को प्राप्त हो जाना लय है ।

विद्योत्तमा—समाधिकाल में चित्त द्वारा बाह्यविषयों का अभिभव करके प्रत्यगात्माभिमुख होने पर भी जब उसे प्रत्यगात्मा के स्वरूप की प्रतीति न होने पर तन्द्रावश निद्रा प्राप्त हो जाती है तब समाधि का लय नामक विघ्न कहा जाता है।

[२०९] लयादीन्विभज्य लक्षयति लयस्तावदिति ।

---

२१०. अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः ॥

अनुवाद—खण्डरहित वस्तु (ब्रह्म) के आश्रय बिना चित्तवृत्ति का (किसी बाह्य सांसारिक विषय) में रुद्ध हो जाना विक्षेप है ।

विद्योत्तमा—जैसे समुद्री जहाज पर बैठा हुआ पक्षी किसी अन्य (श्रेष्ठ जहाज) का आश्रय पाने हेतु उड़े किन्तु आश्रय-प्राप्ति न होने पर पुनः उसी जहाज पर लौट आता है, उसी प्रकार जब चित्त बाह्यविषयत्यागपूर्वक अखण्डात्मा की प्राप्ति हेतु अन्तर्मुख हो प्रवृत्त होवे किन्तु उसकी उपलब्धि न होने पर पुनः विषयों को सोचने लगे, तो इस समाधि का नाम विक्षेप है ।

---

२११. लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्ते रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्ड-वस्त्वनवलम्बनं कषायः ॥

अनुवाद—लय और विक्षेप का अभाव होने पर चित्तवृत्ति के रागादि-वासना से स्तब्ध हो जाने के कारण अखण्ड वस्तु तक प्राप्त्यभाव कषाय है ।

विद्योत्तमा—नृसिंह सरस्वती इस कषाय नामक विघ्न का निरूपण इस प्रकार करते हैं—'यथाराजदर्शनाय स्वगृहान्निर्गत्य राजमन्दिरं प्रविष्टस्य कस्य-चित्पुरुषस्य द्वारपालनिरोधेन स्तब्धीभावस्तथा परित्यक्तबाह्यविषयस्याखण्डवस्तु-ग्रहणाय प्रवृत्तस्योद्‌बुद्धरागादिसंस्कारैः स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वग्रहण कषाय इत्यर्थः ।' जैसे कोई राजा के दर्शनार्थ घर से निकलकर राजमन्दिर में जाते समय द्वारपाल द्वारा रोक दिये जाने पर स्तब्ध हो जाय उसी भाँति बाह्यविषयों का त्याग कर चित्र के अखण्ड वस्तु की ओर प्रवृत्त हो जाने पर उद्‌बुद्ध हुए रागादि द्वारा रोक दिये जाने पर स्तब्ध हो जाना ही कषाय नामक विघ्न है ।

---

२१२. अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सविकल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः । समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा ॥

अनुवाद—खण्डहीन वस्तु तक न जाकर भी चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द में आस्वादन को रसास्वाद अथवा (सविकल्पक समाधि

की दशा पार करने के पश्चात्) निर्विकल्पक समाधि का आरम्भ होते ही सवि-कल्पक आनन्द से ही सन्तुष्ट हो जाना रसास्वाद है।

विद्योत्तमा—सविकल्पक समाधि में साधक के द्वारा अद्वितीय को न ग्रहण कर सकने के कारण नित्य आनन्दरस का आस्वादन न करने पर भी ब्रह्म प्रपञ्चरूप अनिष्ट की निवृत्तिमात्र से उत्पन्न होने वाले सविकल्पक आनन्द का ब्रह्मानन्द के भ्रम से आस्वादन करने को रसास्वाद कहा गया है, जैसा कि सुबोधिनी टीका में भी कहा है—

"सविकल्पकसमाधावखण्डवस्त्वनवलम्बनेन नित्यानन्दरसास्वादनाभावेऽप्य-निष्टबाह्यप्रपञ्चनिवृत्तिजन्यानन्दं सविकल्पकरूप ब्रह्मानन्दभ्रमेणास्वादयति तद्रसा-स्वादनमित्यर्थः।"

रसास्वाद का जो द्वितीय लक्षण है सविकल्पक समाधि की अवस्था को पार करके निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ होते ही उसकी अनिच्छा से सवि-कल्पानन्द से ही सन्तुष्ट होकर रमना। इसी को पञ्चदशीकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है।

"मग्नस्याब्धौ यथाक्षणि विह्वलानि तथास्यधीः।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निस्प्रचारा बिभेत्यतः॥
गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्य योगिनाम्।
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यन्तं भयभूमिचरे॥"

---

२१३. अनेनविघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्ड-चैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते।

अनुवाद–इस विघ्न चतुष्टय द्वारा रहित होकर चित्त का, वायुहीन स्थल पर अचलायमान दीपक के सदृश अखण्ड चैतन्यमात्र में स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि कहलाता है।

विद्योत्तमा–जब अन्तर् (मन) में ही विघ्नों का प्रादुर्भाव हो जाये तब उनके निवारण के लिये क्या उपाय हैं यह अब क्रमशः योगीन्द्र सदानन्द जी बताते हैं।

---

२१४. तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति ।
'यथा दीपो निर्वातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता' इति च ॥

अन्वय—लये चित्तं सम्बोधयेत्, पुनः विक्षिप्तं (चित्तं) शमयेत्; सकषायं विजानीयात् शम्प्राप्तं न चालयेत् ॥ ६४ ॥

अन्वय—तत्र रसं न आस्वादयेत्, प्रज्ञया निसङ्गः भवेत्, यथा निर्वातस्थः दीपः न इङ्गति सा उपमा स्मृता ॥ ६४ ॥

अनुवाद—'लय (निद्रारूप) में चित्त को सावधान करे, विक्षेपयुक्त (विक्षेपरूप विघ्न) को (वैराग्य से) शान्त करे, कषायरूपी बाधा होने पर सावधान होवे, फिर प्राप्त शम को स्थिर करके, सविकल्पक रस से अपने को प्रज्ञा द्वारा आसक्ति रहित करके आनन्द का आस्वादन करें' "जैसे दीपक वायुहीन स्थान पर चलायमान नहीं होता उसी भाँति इस (चित्त) की उपमा दी गई है ।

विद्योत्तमा—१. विक्षिप्तं···पुनः-गौडपाद कहते हैं "उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।"

समाधि दशा में प्रत्यगात्मस्वरूप ब्रह्मज्ञान के भान न होने पर आलस्यवश यदि निद्रा आ जावे तो यह 'समाधि का लय' नामक एक विघ्न कहा जाता है । अखण्ड ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त हुई चित्तवृत्ति अखण्ड ब्रह्म को न प्राप्त कर सांसारिक विषयों में तल्लीन होने लगने को समाधि का 'विक्षेप' नामक विघ्न कहा जाता है । इस प्रकार ब्रह्मेतर विषयों में निमग्न चित्त को निरन्तर समाधि के अभ्यास से लय और विक्षेप पर विजय करने पर, विघ्नों के नष्ट होने पर, अखण्ड ब्रह्मज्ञान में चित्त के एकाकार होने पर भी, कभी-कभी यह चित्त ऐसी दशा में अन्तःकरण में ही जड़ता को प्राप्त हो जाता है और सांसारिक विषयों की ओर पुनः उन्मुख हो जाता है तथा अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) की अद्वैत प्राप्ति से स्तब्ध हो जाता है । इसे कषाय नामक विघ्न कहा जाता है । चित्त को सांसारिक विषयों से पुनः पुनः मोड़कर अखण्डाकार

ब्रह्मज्ञान में ही प्रवृत्त करना चाहिए। समाधि के द्वारा ब्रह्मज्ञानरूप परमानन्द को प्राप्त हुए चित्त को सांसारिक विषयों की ओर प्रेरित नहीं करना चाहिए।

२. सकषायं विजानीयात्—रामतीर्थ का कथन है—'सकषायं चित्तं विजानीयात् कलुषितं चित्तमिति विज्ञाय च समेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत्।' शङ्कराचार्य के अनुसार—'एवं पुनः पुनरभ्यस्यतोलयात्सम्बोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्त्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात्'।

३. नास्वादयेत्—प्रज्ञयाभवेत्—सविकल्पक समाधि में योगी को तावन्मात्र आनन्द से अपने को कृतार्थ न समझकर उसके प्रति अनासक्त भाव से अपनी विवेकिनी प्रज्ञा से सोचना चाहिये। तब उसके चित्त का निर्विकल्पक अवस्थान होगा।

४. इस प्रकार योगी का चित्त वायुहीन स्थान में दीपक के समान निश्चल रहता है जैसा कि गौडपाद कहते हैं—

"यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥"

[२१४] उक्तलयादिविघ्नचतुष्टयाभावेन चितस्य ज्ञेये वस्तुनि यन्नैश्चल्यं तद्दृष्टान्तेन निर्विकल्पकसमाधिलक्षणमित्याह तदेति। विघ्ननिवृत्त्युपायं सम्मतिप्रदर्शनेनाह तदुक्तमित्यादिना। **लये सम्बोधयेत्** उत्तम्भयेत्सोत्साहं मनः कुर्यादिति यावत्। विक्षिप्त चितं धैर्यावलम्बनेन पुनः शमयेत्पुनरद्वितीयवस्तुनिष्ठं कुर्यादित्येतत्। सकषायं चित्तं विजानीयात्कलुषितं मे चित्तमिति विज्ञाय च समेऽद्वितीयचैतन्यात्मनि निवेशयेत्। पुनः शमप्राप्तं तन्न चालयेत्तत्रैव प्रयत्नपूर्वकं स्थिरीकुर्यादित्यर्थः। रस सविकल्पकानन्दं नास्वादयेत्तदानन्दमात्रेण कृतार्थतां न मन्वीत किन्तु प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या निःसङ्गः सविकल्पकानन्देऽनासक्तो भवेदित्यर्थः। एवं विघ्नपरिहारे सति यन्निर्विकल्पकसमाध्यवस्थानं चित्तस्य तद्भगवद्वाक्योदाहरणेन दर्शयति यथा दीप इति।

---

२१५. अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते॥

अनुवाद—अब जीवन्मुक्त का लक्षण बताया जा रहा है।

विद्योत्तमा—यहाँ जीवन्मुक्त के ब्रह्मज्ञान रूप साधन से अज्ञान निवारण की प्रक्रिया का तथा ब्रह्मसाक्षात्कार रूप परिणाम का और अज्ञानादि विनाश रूप कार्य होने से सम्पूर्ण बन्धनों से रहित होकर ब्रह्मनिष्ठ होना रूप फल का निरूपण किया जा रहा है।

[२१९] एवं विधसमाध्यन्तसाधनानुष्ठानपरिपाके सति पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे दृढीभूतेऽविद्यातत्कार्यात्मकसर्वसंसारनिवृत्तौ जायमानायां काकतालीयन्यायेन यदि प्रारब्धकर्मक्षयात्तत्काल एव विदुषः शरीरपातस्तदा सद्य एव मुक्तिः स्यात्। यदा तु ज्ञानोत्पत्तिसमये प्रारब्धकर्म न क्षीयते तदा तत्क्षयपर्यन्तं शरीरस्यावस्थानाज्जीवन्नेव मुक्तसंसारो भवति। तस्य लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते अथ इति। अथशब्दः साधननिरूपणानन्तर्यार्थः।

---

२१६. जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशय-विपर्यादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः॥

अनुवाद—अपने ही स्वरूप अखण्ड ब्रह्मज्ञान द्वारा, उसमें स्थित अज्ञान को दूर करके, अपने स्वरूपाखण्ड ब्रह्म के प्रत्यक्षीभूत होने से अज्ञान और उससे उत्पन्न (कार्य) में एकत्रित कर्म, सन्देह-विपर्यय आदि के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण बन्धनों से हीन ब्रह्म में निष्ठावान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

विद्योत्तमा—१, स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन में ब्रह्मज्ञान से तात्पर्य है ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान। तथा इस पूरे पद के द्वारा ब्रह्मप्रत्यक्षीकरण के साधन ब्रह्मज्ञान को बताया गया है। जिस (ब्रह्म) का श्रवण-मनन आदि किया जाता है, उस परोक्ष ब्रह्मज्ञान को इस पद से अभिप्रेत समझना चाहिये।

२. तदज्ञानबाधनद्वारा—'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने पर पहले अज्ञान का विनाश होता है उसके पश्चात् ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है यहाँ अज्ञान विनाश से ही तात्पर्य है।

३. स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते—से ब्रह्मसाक्षात्काररूप साधन-परिणति को ही बताया गया है।

४. अज्ञानतत्कार्य······बाधितत्वात्—सञ्चित कर्म का निरूपण विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में इस प्रकार किया गया है—सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्न-

मनारब्धफलम् ।' जीवन्मुक्त के सञ्चित कर्म दग्ध हो जाते हैं केवल प्रारब्ध कर्म ही शिष्ट रहते हैं तथा क्रियमाण कर्म कर्तृताबुद्धि के न होने से बाधित हो जाते हैं। अतः यहाँ पर सञ्चित में क्रियमाण कर्म भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। बादरायण का निम्नसूत्र भी इसी भाव को प्रदर्शित करता है—

'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।'

तथा—'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।'

श्रुतियाँ भी इसी का समर्थन करती हैं—

'यथा पुष्पकरपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते।' ब्रह्मात्मज्ञान से मोक्ष प्राप्ति होती है अथवा नहीं ऐसी विकल्पयुक्त बुद्धि का होना ही संशय है या देहादिव्यतिरिक्त शुद्ध चैतन्य आत्मन् के अस्तित्व में सन्देह करना संशय है। देहादि आत्मपदार्थों में आत्मबुद्धि का होना या विपरीत ज्ञान होना विपर्यय है।

५. ब्रह्मनिष्ठ—इस पद की विभिन्न टीकाओं में व्याख्या इस प्रकार से प्राप्त होती है। विद्वन्मनोरञ्जनी के अनुसार—

ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्य ब्रह्मात्मनावस्थितत्वम् ।'

सुबोधिनी का कथन है—

'ब्रह्मणि निष्ठा तदेकपरता यस्य स ब्रह्मनिष्ठः ।'

अर्थात् ब्रह्म में एकमात्र उसी में परायण हो जाना जिसमें वह है, वह ब्रह्मनिष्ठ है। लेकिन इस भाँति व्याख्या करने पर इस लक्षण की अतिव्याप्ति भक्त तथा साधक में भी हो जाती है क्योंकि ये भी एकमात्र ईश्वर के परायण होकर रहते हैं, इसलिये 'निष्ठा' का तात्पर्य 'तदेकपरता' के स्थान पर 'नितरां स्थितिः' = एकीभाव से स्थित हो जाना करने से अतिव्याप्ति दोष की प्रवृत्ति ही नहीं होगी।

६. अखिलबन्धरहितः—अमुकव्यक्ति संसारगत बन्धनों से बद्ध रहता है, जब कि जीवन्मुक्त समस्त लौकिक एवं पारलौकिक बन्धनों की शृङ्खला को खण्डित कर निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्थित रहता है। अतः बद्ध लोगों से पृथकता प्रदर्शित करने के लिये ही यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

[२१६] लक्षणमाह **जीवन्मुक्तो नाम** इति। ब्रह्मनिष्ठत्वं वेदान्तवेद्य-ब्रह्मात्मनावस्थितत्वम्। ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्युक्ते परमार्थतो ब्रह्मनिष्ठत्वमसु-

क्तस्याप्यस्तीत्यतो विशिनष्टि अखिलबन्धरहित इति। परममुक्तवैधर्म्यसिद्धये प्रारब्धकर्ममात्रशेष इति विशेषणान्तरमध्याहर्तव्यम्। कथमसौ मुक्त इत्यपेक्षायामाह **अज्ञानतत्कार्य०** इति। अज्ञानं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमित्याद्युक्त लक्षणम्। तत्कार्यं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयम्। सञ्चितं कर्म ज्ञानोत्पत्तेः प्रागुत्पन्नमनारब्धफलम्। संशयो देहाद्यतिरिक्तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा भवति न वेति। अथवा ब्रह्मात्मविज्ञानान्मोक्षो भवेन्न वेत्यादिविचिकित्सा। विपर्ययोदेहादिष्वात्माभिमानादिलक्षणः। आदिशब्दाद्बाह्यप्रपञ्चे सत्यत्वबुद्धिः। एतेषां बाधितत्वान्मुक्त इत्यर्थः। एतत्कदास्यादित्याकाङ्क्षायामाह स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते सति इति। साक्षात्कारे साधनमाह स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेनेति॥

---

२१७. **'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादिश्रुतेः॥

अन्वय—तस्मिन् परावरे दृष्टे अस्य हृदयग्रन्थिः भिद्यते, सर्वसंशयाः छिद्यन्ते, कर्माणि च क्षीयन्ते।

शब्दार्थ—**परावरे** = सर्वत्र व्याप्त अर्थात् सर्वात्मन ब्रह्म के, **दृष्टे** = दर्शन करने पर, **अस्य** = इस जीवन्मुक्त योगी की, **हृदयग्रन्थिः** = हृदय स्थित अहंकार रूपी गाँठ, **भिद्यते** = खुल जाती है। **सर्वसंशयाः** = सभी सन्देह, **छिद्यन्ते** = नष्ट हो जाते हैं, **कर्माणि** = अज्ञानजन्य कर्म एवं कर्मबन्धन, **क्षीयन्ते** = नष्ट हो जाते हैं।

अनुवाद—यह श्रुति भी प्रमाणभूत है—

उस परावर के दृष्ट होने पर जीवन्मुक्त के सब सन्देह निवारित हो जाते हैं, हृदयग्रन्थि टूट जाती है तथा इसके कर्म (बन्धन) क्षीण हो जाते हैं। (मुण्ड० उ०)।

विद्योत्तमा—१. स्वामी तुलसीदास भी इसी का समर्थन करते हैं—

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

२. सर्वसंशयाः—'शाङ्करभाष्य' में यह बात इस प्रकार कही गई है—'कर्माणि क्षीयन्ते'—'अस्य विच्छिन्नसंशयस्य निवृत्ताविद्यस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे चाप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि। न त्वेतज्जन्मारम्भकाणि प्रवृत्तफलत्वात्।'

३. आत्मतत्त्व के साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अविद्या वासनाएँ टूट जाती हैं, तथा ज्ञेय पदार्थगत सभी सन्देह दूर हो जाते हैं। संशयों के नष्ट हो जाने से तथा अविद्या के निवृत्त हो जाने से पुरुष के सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। पुरुष मुक्त हो जाता है।

[२१७] तत्वसाक्षात्कारानन्तरं मुक्त एव भवतीत्यत्र प्रमाणमाह **भिद्यत** इति। हृदयग्रन्थिरहङ्कारश्चिज्जडात्मकत्वाद्ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः। सर्वसंशया दृष्टादृष्टार्थविषया विचिकित्साः। अस्यात्मनः कर्माणि जीवन्मुक्तिपक्षे प्रारब्धातिरिक्तानि सञ्चितानि क्रियमाणानि च। तथा च न्यायः "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" (ब्रह्मसूत्र ४।१।१३) इति। परममुक्तिपक्षे प्रारब्धसहितान्यपि क्षीयन्ते। कदा। तस्मिन्निष्प्रपञ्चे ब्रह्मात्मनि दृष्टे सति साक्षात्कृते सति। कथम्भूते। परावरे सर्वात्मके। अत्र सर्वात्मकत्ववचनं तद्व्यतिरिक्तस्याभावपरम्। चौरः स्थाणुरितिवद्बाधायां सामानाधिकरण्यस्य विवक्षितत्वात्! यद्वा परो हिरण्यगर्भः सोऽवरो न्यूनो यस्मात्तस्मिन्परावर इत्याथर्वणीयश्रुत्यर्थः। आदिपदात् "यस्तु सर्वाणि भूतानि" "यस्मिन्सर्वाणि भूतानि" इति च मन्त्रद्वयमीशावास्यगतं परिगृह्यते। श्रुतेश्चेति। चकारात् "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" (गीता ४।३७) "यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं" (गीता ४।३५) "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" (गीता १८।५४) इत्यादिस्मृतयः समुच्चीयन्ते। न च जीवन्मुक्तौ प्रमाणाभावः। "तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते" (बृह० ४।४।७) "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० ६।१४।२) इत्यादिश्रुतेः "प्रजहाति यदा कामान्" (गीता २।५५) "प्रकाशं च प्रवृत्तिं च" (गीता १४।२२) इत्यादिस्मृतेश्च प्रमाणत्वादिति द्रष्टव्यम्॥

—: ० :—

२१८. अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेणान्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेन्द्रियग्रामेणाशनायापिपासाशोकमोहादिभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्परमार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्यन्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति॥

अनुवाद—यह तो उठने के समय (ज्ञान से बोधरूप जागृति प्राप्ति होने पर) मांस, रक्त तथा मलमूत्रादि के भाजन देह द्वारा अन्धभाव, मन्द होना एवं अपटुत्व आदि के पात्र रूप इन्द्रिय समूह से तथा बुभुक्षा, पिपासा, शोक तथा मोहादि के पात्र रूप अन्तःकरण से पूर्ववासना के कारण किये जाने वाले कर्मों एवं ज्ञान विरुद्ध आरब्ध कर्मों के फलों को देखता हुआ भी अपने यथार्थभाव को छोड़ देने के कारण उन्हें यथार्थतः नहीं देखता। जैसे 'यह जादू है' इस प्रकार जानता हुआ जादू को देखते हुए भी 'यह वास्तविक नहीं' इस प्रकार सोचता हुआ (यथार्थ भाव से) उसे नहीं देखता।

विद्योत्तमा—१. यद्यपि बन्धनयुक्त तथा जीवन्मुक्त दोनों ही शरीरेन्द्रियादि से व्यवहार करते हैं तथा दोनों के शरीरेन्द्रियादि समान दोष वाले होते हैं तथापि बद्ध व्यक्ति अज्ञानवश शरीरेन्द्रियादि के प्रति ममता तथा अहन्ता का भाव रखने से इनके द्वारा होने वाले कर्मों के प्रति कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से युक्त होता है। परिणामतः सुख-दुःख-बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता है। जीवन्मुक्त अज्ञान विनाश हो जाने से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होता है, अतः पूर्व वासना से शरीरादि के द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्मों का तथा प्रारब्ध कर्मों का वह साक्षीमात्र होता है। दूसरों की दृष्टि में वह इन सबका भोक्ता प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः वह इनसे अलिप्त रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्तिबन्ध और विदेहमुक्ति दोनों से विलक्षण प्रमाणित होती है। वेदान्तसार के प्रस्तुत वाक्य द्वारा जीवन्मुक्त का बद्ध और विदेहमुक्त से भिन्नत्व प्रदर्शित किया गया है।

२. **अशनायापिपासाशोकभाजनेनान्तःकरणेन**—इन्द्रियात्मवादी द्वारा आत्मत्व निरूपण के प्रकरण में 'अशनाया' तथा पिपासा को निरूपित किया जा चुका है किन्तु इस प्रकरण में उन्हें अन्तःकरण का धर्म कहा गया है। प्रो० हिरियन्ना के अनुसार 'यह स्पष्टतः सांख्यदर्शन का प्रभाव है।' सांख्यकारिका में पञ्च वायु (प्राणादि) अन्तःकरण की सामान्य व्यापार मानी गई हैं—

"सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।"

अतः वस्तुतः प्राणादि के धर्म सांख्य के अनुसार अन्तःकरण के ही धर्म हुए, प्राणादि को अन्तःकरण का व्यापार कहने से अन्तःकरण में उनका

अन्तर्भाव हो जाने से ही सांख्यीय सृष्टि-प्रक्रिया में प्राणादि पाँच वायु का कहीं भी अलग से उल्लेख नहीं किया गया है।

३. शरीरेन्द्रियादि की सत्ता प्रारब्ध कर्मों के अधीन है। जब तक प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट हैं, तब तक शरीरादि नष्ट नहीं हो सकते। यदि किसी शक्तिमान पुरुष द्वारा फेंका गया बाण तब तक नहीं रुक सकता, जब तक कि उसका वेग कम नहीं हो जाता, वैसे ही जिस आरब्ध विपाक कर्म के फलस्वरूप यह शरीर उपलब्ध हुआ है उस कर्म का वेग जब तक क्षीण नहीं होता तब तक शरीरादि निवारण सम्भव नहीं है। ब्रह्मज्ञान भी उसके वेग को अवरुद्ध करने की सामर्थ्य वाला नहीं है। शङ्कराचार्य कहते हैं—

"ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यामुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥"

श्रुति का कथन है—

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।"

अर्थात् 'आचार्योपदेश से अविद्याभूत बन्धन से मुक्त हुए उस तत्त्वद्रष्टा के लिये सदात्मस्वरूप की प्राप्ति में उतने ही समय तक देर है, जब तक कि देहादि के कारणरूप प्रारब्ध कर्म का उपभोग द्वारा क्षय होकर देहविनाश नहीं है।

४. यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को बाधित करता है। तथापि मिथ्याज्ञान बाधित होने पर भी संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है। यथा भ्रमवश दीखने वाले दो चन्द्रमाओं का ज्ञान भ्रम की निवृत्ति होने पर संस्कारवश कुछ काल तक अनुवर्तित होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानवश भासित होने वाले देहेन्द्रियादि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण कुछ काल तक (प्रारब्धनाशपर्यन्त) उनका अनुवर्तन होता रहता है। जिस भाँति वस्त्र के जल जाने पर भी कुछ काल तक उसमें वस्त्रत्वबुद्धि अनुवर्तित होती रहती है उसी भाँति तत्त्वज्ञान से अविद्योत्पन्न देहादि के कारण बाधित हो जाने से उनका मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी पूर्वसंस्कारों के कारण देहादि अनुवर्तित होते रहते हैं, यही 'बाधितानुवृत्ति' कहलाती है।

तत्वज्ञान की उत्पत्ति प्रारब्ध कर्मों पर आश्रित है। भगवत्पूज्यपाद ने कहा भी है—

"न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यम् कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन् कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासम्भवाद् भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्।

[२१८] ननु जीवन्मुक्तो देहेन्द्रियादिभिर्व्यवहरति न वा। आद्ये तस्य बद्धान्न विलक्षणता। द्वितीये देहस्यानुपयोगात्सद्यः पातप्रसङ्गः इत्याह **अयं तु** इति। आरब्धफलानि भुज्यमानानि पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि च कर्माणि साक्षितया कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानहीनोऽन्यदृष्ट्या पश्यन्निव भासमानोऽपि परमार्थतः स्वदृष्ट्या न पश्यति ज्ञानेन कर्तृत्वाद्यभिमानमूलाज्ञानस्य बाधितत्वाद्बद्धाद्विलक्षण एवायमित्यर्थः। बलवत्प्रयुक्तबाणपाषाणादिवत्प्रवृत्तफलस्य कर्मणो यावद्वेगक्षयं निवारकाभावात्तदधीनस्य देहस्य न सद्यः पातप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथेन्द्रजालं इति। बाधितत्वबुद्धेरनुवृत्तेरित्यर्थः।

---

२१९. 'स चक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः॥

अनुवाद—'वह नेत्रों से युक्त होते हुए भी नेत्रहीन के सदृश कर्णेन्द्रिय सम्पन्न होते हुए भी बहिरे के समान' इत्यादि श्रुतियाँ भी इस विषय में प्रमाण स्वरूप हैं।

विद्योत्तमा—जैसे जला हुआ वस्त्र या इन्द्रजाल (जादू) के द्वारा निर्मित महल का मिथ्यात्वभान होने पर भी उनके सत्यत्व की प्रतीति कभी नहीं होती है, उसी भाँति अनादि विद्या के द्वारा कल्पित देहेन्द्रियादि का मिथ्यात्वभान होने पर भी परमार्थतया प्रतीति नहीं होती है। इसी को प्रमाणित करने के लिये योगीन्द्र सदानन्द ने प्रस्तुत श्रुति उद्धृत की है। रामतीर्थ इस श्रुति की व्याख्या इस भाँति करते हैं—

"चक्षुरादिमानमपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः।"

अर्थात् जगत्प्रपञ्च के रूपादि का अदर्शन होने से वह जीवन्मुक्त चक्षु आदि इन्द्रियों से सम्पन्न होने पर भी इनसे रहित जैसा हो जाता है।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के अनुसार—

"अपि च नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा किञ्चित्कालं शरीरं ध्रियते, न वा ध्रियत इति । कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत ।"

[२१९] जीवन्मुक्तो देहादिभिर्व्यवहरन्निव दृश्यमानोऽपि न परमार्थतो व्यवहरतीत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयति सचक्षुरचक्षुरिवेति । चक्षुरादिमानपि प्रपञ्चरूपाद्यदर्शनाच्चक्षुरादिहीन इव भवतीत्यर्थः । आदिपदात् "तदेजति तन्नैजति" (ईशावा० ५) इत्यादिश्रुत्यन्तरग्रहः ।

---

२२८. उक्तञ्च—

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः ।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः'
इति ॥

अन्वय—यः अद्वयत्वतः जाग्रति द्वयं पश्यन्नपि सुषुप्तवत् न पश्यति, तथा कुर्वन्नपि यः निष्क्रियः, सः आत्मवित्, अन्यः न इति इह निश्चयः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—अद्वयत्वतः = अद्वैत का निश्चय ज्ञान हो जाने से, जाग्रति = जागरण समय में द्वय = द्वैत को, सुषुप्तवत् = सोते हुए के समान, निष्क्रियः = क्रियाशून्य, कर्मरहित, आत्मवित् = आत्मज्ञानी इह = वेदान्त में ।

अनुवाद—और कहा भी गया है—

'जो जाग्रत् दशा में सुषुप्तावस्था के अद्वैतभान के समान द्वैत को विशेष नहीं जानता, जो (कर्मों को) करते हुए भी क्रियाहीन है । वही इस लोक में आत्मा का ज्ञाता है अन्य कोई नहीं' यह निश्चित है ।

विद्योत्तमा-प्रस्तुत श्लोक 'उपदेशसाहस्री' से उद्धृत है, इसका भाव इस प्रकार है—जो ब्रह्म एवं आत्मा के एकत्व का प्रत्यक्षीकरण करने से समस्त भेद-भावना शून्य होकर सुषुप्ति के समान जागरण के समय में भी द्वैत का दर्शन नहीं करता, वही आत्मवेत्ता है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अभ्यास करने वाले की दृष्टि इति इतनी दृढमूल हो जाती है कि उसकी दृष्टि में ब्रह्मातिरिक्त का अभाव हो जाता है, जो लोक सग्रह के लिए नित्यादि कर्म करता हुआ भी आत्मा के अकर्तृत्व के निश्चय होने से निष्क्रिय तथा सर्वथा अलिप्त रहता है, वही आत्मवेत्ता है उससे भिन्न नहीं ।

[२२०] उक्तेऽर्थे पूर्वाचार्यसम्मतिमाह उक्तं च सुषुप्तवदिति । जाग्रति जाग्रदवस्थायां द्वयं पश्यन्नपि यः सुषुप्तिं गतवद्विशेषतो न पश्यति स आत्मवित् । विशेषादर्शने हेतुरद्वयत्वत इति । द्वयस्य बाधितत्वादित्यर्थः । तथा कुर्वन्नपि न करोति यतो निष्क्रिय इति योजना । तथा च वसिष्टः "सुषुप्तवद्यश्चरति स मुक्त इति कथ्यते" (योगवासिष्ठ ५।१६।१९) इति ॥

---

२२१. अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा ॥

अनुवाद—इसके (आत्मज्ञाता के ब्रह्म प्रत्यक्षीकरण के) पूर्व वर्तमान आहार, विहार आदि की अनुवृत्ति के सदृश शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति क्रियान्वित रहती है अथवा शुभाशुभ कर्मों की ओर से उदासीन भाव उत्पन्न हो जाता है ।

विद्योत्तमा—१. शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा—जीवन्मुक्त में या तो शुभ वासनाओं का अनुवर्तन होता है या शुभाशुभ दोनों के प्रति उपेक्षा उत्पन्न हो जाती है । जीवन्मुक्त का यही उदासीन भाव संसार के प्रपञ्च से आत्यन्तिक अनासक्ति का परिचायक है । गीता भी कहती है—

"गुणदोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्णितः ।"

यही जीवन्मुक्त का मुख्य लक्षण है अन्य स्थानों में भी कहा है—

"समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः ।" (गौतमधर्मशास्त्र)

"अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः ।" (बृहदारण्यकोपनिषद्)

"निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।" (महाभारत)

२. 'ब्रह्मवेत्ता में वे सभी पवित्र आचार तथा पवित्र वासनायें अनुवर्तित होती है' जिनका अभ्यास उसने ज्ञानोदय से पूर्व बड़े लम्बे काल तक सतत किया है । उसमें अशुभ वासनाओं के उदय तथा अनुवर्तन होने की सम्भावना ही नहीं क्योंकि उसकी अशुभ वासनायें साधक की दशा में ही अभ्यास से निवृत्ति को प्राप्त हो चुकी हैं । इसलिए जीवन्मुक्त से बुरे कार्य न होकर केवल अच्छे ही कार्य होते हैं । अथवा शुभाशुभ कुछ भी नहीं होगा । उदासीनता होगी ।

[२२१] नन्वसौ जीवन्मुक्त इति कथमन्यैर्ज्ञायत इति तदाह **अस्य ज्ञानात्पूर्वं** इति। अशुभवासनानां साधकावस्थायामेव निवर्तितत्वाच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। ननु। शास्त्रविहितं शुभमेवाचरतो न साधकाद्भेद इत्यपरितुष्यन्निवाह **शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा** इति। औदासीन्यमुपेक्षा "हिंसानुग्रहयोरनारम्भी" इति गौतमस्मरणात् (गौतमधर्मशास्त्र ३।२४।२५)।

"निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम्।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

इति व्यासवचनात्। "अमौनं मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण" इति बृहदारण्यकश्रुतेश्च (३।५।१)। तथा चौदासीन्यमेव मुक्तलक्षणं न विधिपरतन्त्रप्रवृत्तिमत्वं न वा निषेधातिक्रम इति भावः।

---

२२२. तदुक्तम्—

'बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे' इति॥
'ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः'॥ इति॥

अन्वय—यदि बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणम्, शुनां तत्वदृशां चैव अशुचि-भक्षणे कः भेदः (न कोऽपीत्यर्थः)।

शब्दार्थ—बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य = अद्वैत को तत्व रूप से जानने वाले का, **यथेष्टाचरणम्** = स्वेच्छाचरण, अर्थात् स्वेच्छापूर्वक जो मन में आवे नहीं करने वाले, **शुनां** = कुत्तों, **तत्त्वदृशां** = तत्त्वज्ञान को जानने वाले आत्मज्ञानियों में, **अशुचिभक्षणे** = अपवित्र अभोज्य पदार्थों के भक्षण में।

अनुवाद—और कथित भी है—

'अद्वैत (अभिन्न ब्रह्म) के साक्षात्द्रष्टाओं की यदि यथेष्ट (इच्छानुसार) वृत्ति होती है तो कुक्कुर सदृश तत्त्वसाक्षात्कर्त्ता को भी पवित्रापवित्र में भिन्नता नहीं होगी।' 'ब्रह्म के ज्ञान गर्व को त्याग करने वाला आत्मज्ञाता ही होता है अन्य नहीं।' (नैष्कर्म्यसिद्धि)।

विद्योत्तमा—१. बुद्धाद्वैत·····ऽशुचिभक्षण—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मज्ञान के पहले जिस सदाचार तथा सद्विचार का अनुशीलन करता है, उसी का अनुसरण

मुक्तावस्था में भी होता रहता है। इच्छानुसार आचरण के परित्याग का सङ्कल्प तो वह साधन प्रारंभ करते समय ही कर लेता है। साधन की सिद्धि यथेच्छ आचरण के परित्याग को इङ्गित करती है, इसलिए दीर्घकालीन अभ्यास से उसके इच्छानुसार आचरण करने के संस्कार भी प्रायः विनष्ट हो जाते हैं। इसी को वार्तिककार ने और अधिक स्पष्ट किया है—

'यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन् प्रवर्तते।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते॥
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नाम्मूढतज्जिघत्सति॥
रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

२. यथेष्टाचरण—

"न मातृवधेन न पितृवधेन" "हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।" इत्यादि उद्धृत वाक्य ब्रह्मवेत्ता में यथेष्टाचरण के लिए उद्धृत किये जाते हैं। वे केवल उसकी प्रशंसा करने के लिये ही हैं। इनसे यह अर्थ प्राप्य नहीं कि ज्ञानी को इस लोक की हिंसा करनी चाहिये अपितु इसका भाव तो केवल यह कि यदि उससे ये कर्म प्रारब्ध के कारण करने पड़ें तो भी वह उससे मुक्त ही रहता है।

३. ब्रह्मवित्त्वं चेतर—जब 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' इस प्रकार का ज्ञान साधक द्वारा व्यक्त कर दिया जाये तभी वह सच्चा तत्वद्रष्टा आत्मवेत्ता बनता है। श्रुति के अनुसार—

"यदिमन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।"

केनोपनिषद् में 'वास्तविक ब्रह्मज्ञानी कौन होता है' बताया गया है—

"यस्यामत तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम्॥"

जिसका यह निश्चय है कि ब्रह्मज्ञान विषय न होने के कारण जानने योग्य नहीं है वह यथार्थतः ब्रह्म का बोध प्राप्त है क्योंकि वह ब्रह्म को अविषय रूप से प्रत्यगात्मा के रूप में जानता है तथा जो 'मैंने ब्रह्म को जान लिया वह

मिथ्यावक्ता है वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है। जिसे ब्रह्मज्ञातत्व का अभिमान है वह ब्रह्मवेत्ता नहीं हो सकता तथा जो ब्रह्मज्ञान के अभिमान से शून्य है वही यथार्थतः ब्रह्मज्ञान को जानता है।

[२२२] विधिनिषेधशास्त्रपरवशत्वं चेन्मुक्तस्य न भवेत्तर्हि यथेष्टाचरणं प्राप्नोतीत्याशङ्कां नैष्कर्म्यसिद्धिवाक्येन प्रत्याचष्टे तदुक्तं बुद्ध इति। सतत्त्वं याथात्म्यम्। मुमुक्षोरपि नास्ति यथेष्टचेष्टा विदुषो मुक्तस्य कुत एव सा। तदप्युक्तम्–

"यो हि यत्र विरक्तः स्यान्नासौ तस्मिन्प्रवर्तते।
लोकत्रयाद्विरक्तत्वान्मुमुक्षुः किमितीहते॥
क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति॥
रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः"॥ इत्यादि॥
(नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६९–६७)

---

२२३. तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते॥

अनुवाद—उस समय (जीवन्मुक्त दशा में) अभिमानरहितादि ज्ञान के साधन और द्वेषहीनतादि सद्गुण आभूषणों की भाँति अनुवर्तित रहते हैं।

विद्योत्तमा—'अमानित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्' रूप से वर्णित अमानित्वादि सभी साधन तथा सद्गुण जीवन्मुक्त दशा में आभूषण के सदृश शोभित होते हैं। ब्रह्मज्ञानी इनका सम्पादन करने की आवश्यकता नहीं रखता है क्योंकि इनका सम्पादन तो विविदिषासन्यास में ही आवश्यक है विद्वत्सन्यास में नहीं। विद्वत्सन्यास में तो ये सब पूर्वसिद्धत्ववश लक्षण रूप से अलंकार के समान अनुवर्तित होते रहते हैं।

[२२३] नन्वविद्याकार्यत्वाद्यथेष्टचेष्टाया अविद्यानिवृत्त्या तन्निवृत्तिवदमानित्वादीनामद्वेष्टृत्वादीनामप्यविद्याकार्यत्वाविशेषान्निवृत्तिरेव स्यान्नानुवृत्तिरित्याशङ्क्य नियोगवशादनुवृत्त्यभावेऽपि निवृत्तिशास्त्राविरुद्धस्वभावत्वान्न निवर्तेरन्निति दर्शयति तदानीं इति।

---

२२४. तदुक्तम्—

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः' ॥ इति ॥

अन्वयः– हि उत्पन्नात्मावबोधस्य अस्य अद्वेष्टत्वादय गुणाः अयत्नतः भवन्ति न तु साधनरूपिणः भवन्ति।

शब्दार्थ—उत्पन्नात्मावबोधस्य = उत्पन्न हो गया है आत्मज्ञान जिसको उसके, अद्वेष्टृत्वादयः = द्वेष, द्रोह, ईर्ष्या, आदि पारस्परिक विरोधी भावों का अभाव, अयत्नतः = परिश्रम के बिना ही, न तु = नहीं, साधनरूपिणः = साधन रूप में नहीं।

अनुवाद—अतः कहा है—

'आत्मज्ञानी के लिये द्वेषहीनतादि गुण (अपने आप लक्षणरूप में) बिना यत्न के प्रकट हो जाते हैं वे उसके साधनरूप नहीं होते। (नैष्कर्म्यसिद्धि)

विद्योत्तमा—जीवन्मुक्त अवस्था में अमानित्वादि सब पूर्व से ही सिद्ध होते हैं, इसलिये उनमें अपने को नियुक्त करने की अपेक्षा नहीं रह जाती, सब स्वभावतः ही अनुवर्तित होते रहते हैं। जीवन्मुक्त में अविद्या लेश की सत्ता के कारण जब अज्ञानकृत प्रारब्ध तथा शरीरादि पर्यन्त की निवृत्ति नहीं होती है, तब ज्ञानविरोधी अमानित्वादि की निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है जिसमें शुभाशुभ के प्रति समदृष्टि तथा अमानित्वादि साधनों तथा सद्गुणों की बिना प्रयत्न के स्वभाव से ही अनुवृत्ति परिभाषित होती है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

[२२४] तत्रापि नैष्कर्म्यसिद्धिमुदाहरति तदुक्तमुत्पन्ना इति।

———

२२५. किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुख-दुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते ॥

अनुवाद—इससे अधिक क्या, यह देहयात्रामात्र के हेतु, कामना, अनिच्छा अथवा अन्यों की आकाङ्क्षा से प्राप्त कराये गये सुखदुःखलक्षण-स्वरूप प्रारब्ध (कर्मों) के फलों की अनुभूति करते हुए कारण (इन्द्रियों) के आभासादि को आलोकित करते हुए; उसकी समाप्ति पर आन्तरिकात्मा-नन्दस्वरूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर अज्ञान तथा उसके कार्य व संस्कारों का विनाश हो जाने से परम कैवल्य (मोक्ष) आनन्दैकरस, सकल-भिन्नताओं के आभास से रहित होकर खण्डरहित ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

विद्योत्तमा—१. इच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि···आरब्धफलान्यनुभवन्—स्वेच्छाप्रारब्ध, अनिच्छा प्रारब्ध तथा परेच्छा प्रारब्ध—इस भाँति प्रारब्ध का भोग तीन प्रकार से होता है।

(अ) स्वेच्छा प्रारब्ध—न्यायपूर्वक जीविका अर्जन में कष्ट अङ्गीकार करना स्वेच्छा प्रारब्ध है। इन्हें करने के लिये जो अन्तःप्रेरणा होती है, प्रारब्ध उसका कारण है।

(आ) अनिच्छा प्रारब्ध—मार्ग में जाते समय बिजली गिर जाना, कोई मूल्यवान् वस्तु प्राप्त हो जाना, जमीन खोदते समय अपार गड़ा हुआ धन पा जाना आदि सुख रूप भोग जिनको प्राप्त करने की मन में सम्भावना या इच्छा न थी अनायास ही दैवकृपा से अपने आप प्राप्त हो गई यही अनिच्छा प्रारब्ध है।

(इ) परेच्छा प्रारब्ध—बिच्छू का डंक मार देना जानकर किसी के द्वारा सताया जाना आदि दुःख रूप भोग तथा डाक्टर के द्वारा रोगी का रोग निवारण कर दिया जाना, बिना अभिलाषा के दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त हो जाना आदि सुख रूप भोग-जो दूसरों की इच्छा से उपलब्ध होते हैं वे परेच्छा प्रारब्ध कहलाते हैं।

जीवन्मुक्त प्राणी भी इस तीन प्रकार के प्रारब्ध भोग से निर्लिप्त नहीं है। भिक्षा के लिये घूमना उसका स्वेच्छा प्रारब्ध, समाधि दशा में शिष्यों द्वारा अन्नादि दिया जाना परेच्छा प्रारब्ध तथा समाधि में अथवा व्युत्थान काल में पहाड़ से ढुलक जाना काँटा लग जाना आदि अनिच्छा प्रारब्ध है।

२. अज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात्—जीवन्मुक्त के प्रारब्ध फल भोग समाप्ति के पश्चात् उसके ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्मनाश न होने से अज्ञानलेश की सत्ता का अनुमान होता है, किन्तु

विदेहमुक्ति में वह अज्ञानलेश भी नष्ट हो जाता है। इसका नाश हो जाने से उसके कार्यरूप उसके संस्कार आदि भी नष्ट हो जाते हैं। इस भाँति परममुक्ति के कारण शरीर रूप अज्ञान, लिङ्ग शरीर रूप प्राण तथा स्थूलशरीर सभी आत्यन्तिक रूप से नष्ट हो जाते हैं।

३. **परमकैवल्य**—जन्मान्तर के कारण स्वरूप त्रिविध कर्मों से संचितकर्म तो ज्ञान से ही नष्ट हो जाते हैं इसलिये देहान्तर प्राप्ति का कोई भी हेतु न होने से वह मुक्त पुरुष परमकैवल्य ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म का ही त्रिकालाबाधित अस्तित्त्व होने से तथा नानात्व के अविद्या निर्मित होने से ब्रह्म ही परमकैवल्य कहा जाता है।

४. **आनन्दैकरस**—वह परमकैवल्य ब्रह्म हमेशा एकरस विशुद्ध आनन्दमात्र होता है, इसलिये आनन्दैकरस कहलाता है।

५. **अखिलभेदप्रतिभासरहित**—अज्ञानवश होने वाले सम्पूर्ण भेदाभासों से ब्रह्म सर्वथा शून्य होने के कारण वही ब्रह्म अखिलभेदप्रतिभासरहित कहा जाता है।

६. **अन्तःकरणाभासादीनामवभासकः**—यहाँ 'आभास' का अर्थ प्रतीति न होकर 'विषयाकार वृत्ति' है जीवन्मुक्त इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की विषयाकारितवृत्तियां का साक्षिरूप से दर्शक होता है।

७. **देहयात्रामात्रार्थम्**—जीवन्मुक्त केवल शरीर स्थिति के लिये ही भोग्य प्रारब्ध फलों का भोग करता है, इन्द्रियों के तृप्त होने के लिये नहीं। जैसा कि विद्वन्मनोरञ्जनी टीका भी कहती है—

'देहयात्रा देहस्थितिः तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम्।''

[२२९] इदानीमुक्तं जीवन्मुक्तमनूद्य तस्य परममुक्तिं दर्शयति **किं बहुना** इति। देहयात्रा देहस्थितिः। तन्मात्रार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थम्। सुखदुःखलक्षणानि सुखदुःखसाधनानि। आरब्धफलानि भोग्यानि। अनुभवन्नसङ्गतया भुञ्जानः। कथं भुञ्जान इत्युच्यते **अन्तःकरणाभासादीनां** विषयाकारवृत्तीनां साक्षितयावभासकः सन्निति यावत्। तदवसाने प्रारब्धफलभोगावसाने जात आश्रयाभावात्प्राणे ब्रह्मणि लीने सति पूर्वसिद्धज्ञानेनैव प्रारब्धकर्माक्षिप्ताज्ञानतत्कार्यतत्संस्काराणामपि विनाशात्सञ्चितकर्मणां ज्ञानेन दाहात्क्रियमाणैश्चासंश्लेषात्पुनर्देहान्तरहेत्वभावात्परमकैवल्येत्यादिनोक्तब्रह्मस्वरूप एवावतिष्ठते विद्वानित्यर्थः।

२२६. 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' अत्रैव समवलीयन्ते, 'विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः ॥

अनुवाद—'उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते,' यहीं पर विलीन हो जाते हैं' तथा 'मुक्ति प्राप्त कर मुक्त हो जाता है' इत्यादि श्रुतियाँ यही कहती हैं।

विद्योत्तमा—१. मृत्युकाल में सामान्य शरीरियों के प्राण उत्क्रमण करते हैं किन्तु निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कर्त्ता तत्त्वदर्शी के नहीं, क्योंकि उसके समस्त कर्मों का अभाव हो जाने से गमन का कोई कारण नहीं रह जाता है जैसाकि भाष्यकार ने भी लिखा है—

तस्य—

"कर्माभावे गमनकारणाभावात् प्राणावागादयः नोत्क्रामन्तिनोर्ध्वं क्रमन्ति देहात्"

गीता भी कहती है—

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयादि वायुर्गन्दानिवाशयात्" ॥

२. **अत्रैव समवलीयन्ते**—जीवन्मुक्त के प्राण इस प्रत्यगभिन्न परमात्मा में कालीन हो जाते हैं। उसके प्राण सामान्य शरीरियों की भाँति ऊर्ध्वगमन न करके अपने कारणभूत परब्रह्मरूप सत्ता में एकीभाव से लय को प्राप्त होता है जैसे समुद्र में उठने वाली लहरें समुद्र में ही लीन हो जाती हैं।

३. **विमुक्तश्च विमुच्यते**—विल्सन Essay on the Religion of the Hindus में लिखता है—

"Though illusion has not realy real existence, yet possesses apparent existence and so it is capable of taking the soul captive. And again, the Vedantins say, that as illusion is only apparent, so the soul's being feitered is practical; that is as illusion is false, so the soul's being fettered is likewise false. Neither was the soul ever actually fettered nor is it now fettered, nor has it to be emancipated.

वह जीवन्मुक्त इस लोक में ही अविद्याकृत कर्म और काम के बन्धनों से विमुक्त होकर विमुक्त (जीवन्मुक्त) होता हुआ ही विमुक्त (विदेहमुक्त) हो जाता है (पुनः शरीर धारण नहीं करता) बृहदारण्यक के अनुसार—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नते ॥

सुबोधिनी टीका में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"अयं जीवन्मुक्तो जीवन्नेव दृश्यमानाद्रागद्वेषादिबन्धनाद्विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानदेहपाते सति भाविदेहबन्धनाद्विशेषेण मुच्यते ॥"

योगवासिष्ठ में इस विदेहमुक्ति तथा जीवन्मुक्ति भेद प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—

"जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
भवत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव" ॥

विदेहमुक्ति के पश्चात् जन्ममरण रूप संसार चक्र आत्यन्तिक रूप से निवृत्त हो जाते हैं इसलिये मुक्त को अन्य शरीर धारण नहीं करना पड़ता है। लेकिन रामतीर्थ ने इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से की है—

"पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिन्धनस्य संसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयप्रत्यक्षब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्ष-ज्ञानाद्वित्मयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः।"

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचित वेदान्तसार समाप्तः।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्दविरचित वेदान्तसार समाप्त ॥

[२२६] निर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारवतः प्राणा नोत्क्रामन्ति किन्तु प्रत्यग्ब्रह्मण्येव तत्रायः पीताम्बुवल्लीयन्त इत्यत्र प्रमाणमाह **न तस्य** इति। मुक्तेरसाध्यत्वे काठकश्रुतिं प्रमाणयति विमुक्तश्च विमुच्यत इति। पूर्वमपि मुक्त एव सन्नविद्या-प्रत्युपस्थापितनामरूपोपाध्यविवेकनिबन्धन्यसंसाराभासस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्य-परमानन्दाद्वयप्रत्यग्ब्रह्मरूपोऽहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानाद्विलयापेक्षया विमुच्यत इत्यर्थः। वस्तुतस्तु न बन्धो न वा मोक्षः। तथा च श्रुतिः—

"न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता" ॥

(गौडपादस्य कारिकाः २।३२) इत्याद्या ॥

विद्यासीतावियोगक्षुभितनिजसुखः शोकमोहाभिपन्नश्चेतः सौमित्रिमित्रो भव-गहनगतः शास्त्रसुग्रीवसख्यः। हत्वास्ते दैन्यवालिं मदनजलनिधौ धैर्यसेतुं प्रबध्य प्रध्वस्ताबोधरक्षःपतिरधिगतचिज्जानकिः स्वात्मरामः ॥

वेदान्तसारविवृत्तिं रामतीर्थाभिधो यतिः।
चक्रे श्रीकृष्णतीर्थश्रीपदपङ्कजषट्पदः ॥

इति श्रीकृष्णतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीरामतीर्थयतिविरचिता
विद्वन्मनोरञ्जनीनाम्नी वेदान्तसारटीका समाप्ता ॥